शुद्धोपयोग विवेचन

- मनोहर मारवड़कर

शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थान से

प्रास्ताविक - मेरे सामने दो किताबें हैं? एक परमपूज्य मुनिराज श्री वीरसागरजी महाराज, सोलापूर लिखित **चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग की सप्रमाण सिद्धि** और दूसरी आचार्य श्री विरागसागरजी की कृति **शुद्धोपयोग** जिसमें आप का परिचय अंतिम आवरण पर भगवान महावीर के अवतारस्वरूप परमपूज्य प्रज्ञाश्रमण बालयोगी आचार्य ऐसा दिया है।

मेरे मन में यह प्रश्न हरदम कौंधता रहता था कि कौन सी विचारधारा सत्य से स्पर्शित हैं या दोनों सत्यस्पर्शी हैं या दोनों गलत है या आगम में ही कुछ त्रुटि है। पर आगम में त्रुटि को तो कोई स्थान ही नहीं है। रही बात दोनों विचारधाराओं की सत्यासत्यता की। पर मैं समझता हूँ कि दोनों आगम का ही आधार ले रही हैं। आगम को दूर रखना तो दोनों को ही शक्य नहीं है या उनका यह उद्देश्य भी नहीं हो सकता। फिर उनमें किस बात को लेकर यह मतभेद है, इस बात की तह में जाने का ही उद्यम मैंने इस लघुकृति में किया है। विद्वानों को, सन्तों को अपने मतभेद भुला कर एक सत्य भूपृष्ठ पर आ जाना चाहिए, जिससे मूल आचार्यो का मन्तव्य सही रूप में स्पष्ट हो सके तथा हमारी गलत धारणायें सत्याधारित हो कर हमें सन्मार्ग के पथ पर चला सके और हमें मुक्तिद्वार तक पहुंचाने में मदद कर सके।

यही मेरा परम और चरम उद्देश्य इस लघुकृति में है कि **मेरा सो सत्य** रूप आग्रह बंद होकर सत्यग्राहिता बढे, सामंजस्य स्थापित हो, सम्यक् अन्वय रूप समन्वय दृष्टिगत हो तथा सभी मतभेद दूर होकर सभी विद्वान तथा सन्तजन एक मंच पर आसीन होकर एक स्वर से समाज को मार्गदर्शन दे सकें, जिससे समाज दिग्भ्रमित न हो और यह पूछता न फिरे कि दो विद्वान् या त्यागी ऐसे विरुद्ध वक्तव्य देते हैं, दो मुनिराज या दो आचार्य ऐसे विरुध्द मत ले कर चल रहे हैं, फिर हम जायें तो जायें कहां?

इस दृष्टि से किया हुआ मेरा यह लघु प्रयास विद्वानों से सम्मत हो,

इस पर चर्चा हो, उसमें से सुमणियों की वृष्टि हो, ज्ञान के शीतल निर्झर फूट पडे और उन में सभी भवतापदग्ध जिनानुयायी आत्मानन्द की शीतलता में नहा कर शान्ति का अनुभव करके सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी बने यह भावना भा कर यह लघुकृति प्रारम्भ करता हूं।

१. त्रिविध उपयोग - १. **आत्मनः चैतन्यानुविधायि परिणामः उपयोगः।**[१] अर्थात् आत्मा के चैतन्यानुविधायी अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। २. **शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलंबनं उपयोगलक्षणं।**[२] अर्थात् शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इस तरह तीन प्रकार के द्रव्यों, ज्ञेयों या विषयों का अवलम्बन लेना, यह उपयोग का लक्षण है। इन तीन प्रकार के विषयों के अनुसार जीव के परिणाम भी तीन प्रकार के होते हैं - शुभ, अशुभ व शुद्ध। देखें -

जीवो परिणमति जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणामसब्भावो।।[२अ]

अशुभ विषय का अर्थात् पापमूलक विषयों का अनुसरण करनेवाले अशुभ परिणाम **अशुभोपयोग** कहलाते हैं, उससमय आत्मा स्वयं अशुभ रूप से परिणमित होता है। शुभ अर्थात् पुण्यमूलक विषयों का अनुसरण करनेवाले चैतन्य के परिणाम की **शुभोपयोग** संज्ञा है, क्योंकि उस समय आत्मा स्वयं शुभ रूप से परिणत होता है। इन दोनों उपयोगों में उपयोग तो उपयोग ही है और वह उपयोग जिस विषय की ओर मुड़ता है, उसके अनुसार उस उपयोग को शुभ या अशुभ संज्ञा प्राप्त होती है। इसतरह शुभ या अशुभ विषयों की ओर उन्मुख होने से इन दोनों उपयोगों को शुभ या अशुभ संज्ञा मिलती है, पर जब वही उपयोग अपने शुद्धस्वभाव के उन्मुख/अभिमुख होता है, उसे विषय बनाता है, तब आत्मा शुध्दरूप से परिणत होता है, वही **शुद्धोपयोग** कहलाता है।

यह शुद्धोपयोग ही संवर है या संवर शब्द से शुद्धोपयोग वाच्य

---

१ - राजवार्तिक २/८/१. २ - प्रवचनसार गाथा ९. २ अ - प्रवचनसार गा.१८१ ता.वृ..

होता है। वह मोक्षमार्गस्वरूप है तथा चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक होता है। यह करणानुयोग की दृष्टि से अशुद्धनिश्चय नय की दशा है और वह शुद्धोपयोग उस अशुद्ध अवस्था में होता है। वह शुद्धोपयोग संसार के कारणभूत मिथ्यात्व-रागादि अशुद्ध पर्यायों जैसा अशुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार फलभूत केवलज्ञान लक्षण शुद्धपर्याय जैसा शुद्ध भी नहीं होता, पर उन अशुद्ध-शुद्ध पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप जो निश्चयरत्नत्रय है, उसके स्वरूप का एकदेश प्रगट करनेवाला एकदेश-आवरण रहित शुद्धाशुद्धरूप से तीसरी अवस्थारूप होता है, वह भी शुद्धोपयोग कहा जाता है।[३] इसतरह शुद्धोपयोग मोक्षमार्गस्वरूप व मोक्षफलस्वरूप भेद से दो प्रकार का होता है। पहला **एकदेशशुद्धनिश्चयनय** का विषय है व दूसरा **पूर्णशुद्धनिश्चयनय** का विषय है।

इसतरह **अशुद्ध निश्चय** पहिले गुणस्थान से क्षीणकषाय गुणस्थान तक (पहिले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक) होता ही है; उसमें भी शुभ, अशुभ, शुद्ध द्रव्य का आलम्बन लेता हुआ उपयोग क्रम से शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग रूप तीन प्रकार का होता है।

आगे उसी प्रवचनसार गाथा १८१ की तात्पर्यवृत्ति टीका में स्पष्ट कर दिया है कि वह शुद्धोपयोग उन अशुद्ध निश्चयरूप गुणस्थानों में उसी कारण से होता है, क्योंकि वहाँ शुद्धात्मा का अवलम्बन होता है (शुद्धात्मावलम्बनत्वात्)।(२) शुद्धस्वरूप ही ध्येय होता है (शुद्धध्येयत्वात्) तथा (३) साधन भी शुद्ध ही होता है (शुद्धसाधकत्वात् च), अतः वह शुद्धोपयोग परिणाम उन चौथे से बारहवें गुणस्थानों में प्राप्त होता है, जहाँ सम्यग्दर्शन में यह साध्य, साधन और साधक अथवा विषय, साधन व फल तीनों शुद्ध रूप होते हैं। ऐसा यह शुद्धोपयोग का नयलक्षण व उपयोगलक्षण यथासम्भव सर्वत्र जानना चाहिये।

---

३ - बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ टीका.

(इति नयलक्षणं उपयोगलक्षणं च यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्)

किंच मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येन अशुभपरिणामो भवति इति पूर्वं भणितं आस्ते। अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः, अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणितः। नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादि-क्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनः अशुद्धनिश्चयो भवति एव।[३अ]

अर्थात् मिथ्यादृष्ट्यादि पहले तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभपरिणाम होता है ऐसा पहले ही कहा है। अविरतसम्यग्दृष्टि से प्रमत्तसंयत तक तीन गुणस्थानों में तरतमता से शुभपरिणाम कहा है। अप्रमत्तसंयत से ले कर क्षीणकषाय गुणस्थान तक तरतमता से शुद्धोपयोग भी कहा है। इसतरह नयविवक्षा से पहले से बारहवें गुणस्थान तक **अशुद्धनिश्चय** होता ही है।

ऐसा यह शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्गस्वरूप है तथा मोक्षस्वरूप भी है। शुद्धोपयोग स्वयं मोक्षमार्ग भी है और मोक्षफलस्वरूप भी है। प्रवचनसार गा. १८१ की तात्पर्यवृत्ति टीका में उसी के आगे आचार्य जयसेन कहते है कि - **अत्र योऽसौ रागादि-विकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः, स तु शुद्धात्मद्रव्यलक्षणात् ध्येयभूतात् शुद्धपारिणामिकभावात् अभेदद्रव्यार्थिकनयेन अभिन्नः अपि भेदप्रधान-पर्यायार्थिकनयेन भिन्नः। स च शुद्धोपयोगः एकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखंडज्ञानव्यक्तिरूपः सादिसान्तत्वेन विनश्वरध्यानभावनारूपः। शुद्धपारिणामिकभावः सकलावरणरहितत्वेनाखंडज्ञानव्यक्तिरूपः अनादिअनन्तत्वेन अविनश्वरः ध्येयरूपः भवति।**[३ब]

यहाँ यह जो रागादिविकल्पोपाधि से रहित होने रूप समाधि है, वह समाधि जिसका लक्षण है, ऐसा शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण कहा है। वह शुद्धोपयोग एकदेश आवरणरहित होता है तथा वह क्षायोपशमिक खंडज्ञान की प्रगटतारूप होता है। **उसका प्रारम्भ है और उसका नाश होता है,**

३अ - प्रवचनसार गाथा १८१ तात्पर्यवृत्ति तथा बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ टीका भी.

वह ध्यान-भावनारूप अर्थात् एकाग्रतारूप होता है और यह पर्यायरूप है तथा जो शुद्धपारिणामिक भाव है, उस पर कोई भी आवरण न होने से वह सदैव सकल आवरणरहित है, अखंडरूप से ज्ञान की प्रगटता उसमें होती है, अनादि अनन्त है, अविनश्वर है, अतः वह ध्येयरूप है।

यह मोक्षमार्गस्वरूप शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थान से ही प्रारम्भ होता है। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से ही कहा गया है, क्योंकि चौथे गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा है, पांचवें, छठवें गुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा है तथा उत्तम अन्तरात्मा अप्रमत्तदशावाले सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं। देखें यह उद्धरण -

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर आतमज्ञानी।
दुविध संगबिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी।।४।।
मध्यम अन्तर आतम हैं जे देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टी तीनों शिवमगचारी।।५।।[४]

तथा चूंकि जो मोक्षमार्ग है, वह सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र तीनों की एकतारूप ही है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[५] अतः चौथे गुणस्थानवर्ती के भी जब शुद्धात्मा का अवलम्बन होता है, शुद्धस्वरूप ही ध्येय होता है तथा शुद्धतारूप जो केवलज्ञान-फल है, उसका ही वह एकदेशशुद्धसाधक है, तब वह भी उतने काल तक अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक जो कि एक श्वास के असंख्यातवें भाग तक भी होता है, तब तक वह शुद्धोपयोगी अपने शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है, तभी वह अनन्तानुबंधी कषायों से व दर्शनमोह से मुक्ति पा कर **दृष्टिमुक्त** होता है। मोक्षमार्गी एकदम से मुक्ति नहीं पाता, वह क्रमक्रम से कर्मों से मुक्ति पाता जाता है, **जिसे निर्जरा के नाम से जानते है, वही एकदेश मुक्ति है।**

द्रव्यसंग्रह की गाथा ३४ में इसी तरह कहा है कि यह मोक्षमार्गी का शुद्धोपयोग ध्यान-भावनारूप है, जो पूर्णशुद्ध केवलज्ञान जैसा अखंड शुद्ध भी

---

४ - छहढाला श्लोक अ.३ श्लो.४ तथा ५, ५ - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र १,

नहीं है तथा मिथ्यात्व-रागादि जैसा अशुद्ध भी नहीं है, पर वह उन अशुद्ध व शुद्ध पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षकारण होता है तथा एकदेशव्यक्तिरूप एकदेशनिरावरण पर्यायरूप से तीसरी अवस्थारूप होता है।

इस तरह यह स्पष्ट हुआ है कि **शुद्धः उपयोगः शुद्धोपयोगः।**[६] **अर्थात् जो उपयोग शुद्ध हो वह शुद्धोपयोग है, ऐसा कर्मधारय समास रूप शुद्धोपयोग शब्द नहीं बनता है।** वह शब्द तो **शुद्धे उपयोगः शुद्धोपयोगः। (शुद्ध विषय में उपयोग) अर्थात् शुद्धात्मा का अवलम्बन लेनेवाला उपयोग ऐसा सप्तमी-तत्पुरुष समास है** क्योंकि उपयोग तो केवल उपयोग है। वह उपयोग कभी मोहित नहीं होता, यह इसी से स्पष्ट है कि उपयोग दो प्रकार का होता है - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। उन दोनों पर क्रमशः आवरण करनेवाले कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण हैं, उनके फलस्वरूप (उनके उदय में) ज्ञान प्रगट न होकर वह अज्ञानरूप होता है व दर्शन गुण प्रगट न होकर अदर्शनरूप होता है।

अब यह जो उपयोग शुद्ध और अशुद्धरूप दो प्रकार का या अशुद्ध के ही दो भेद करके शुद्धोपयोग के साथ अशुभोपयोगरूप व शुभोपयोगरूप से तीन प्रकार का कहा जाता है, उससे मिथ्यादर्शन या सम्यग्दर्शन का कोई सम्बंध नहीं है। यह मिथ्या या सम्यक् दर्शन श्रध्दागुण की पर्याय है, जिसे दर्शनमोहनीय की अपेक्षा होती है। वास्तव में जो प्रगट ज्ञान है, वह बंध का कारण नहीं है और जो आवृत ज्ञान अर्थात् अज्ञान है, वह भी बंध का कारण नहीं है। जो प्रगट ज्ञान है, वह केवल जाननरूप है व जो अज्ञान है, सो अंधकार रूप है तथा ज्ञानावरण कर्मजन्य अज्ञान को बंध का कारण आगम में कहा ही नहीं है। मोहनीय कर्म के उदय में अर्थात् मोह (मिथ्यात्व) तथा रागद्वेष परिणाम होने से ही अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग से जुड़े शुभ-अशुभ ज्ञानोपयोग से ही स्थितिबंध,

---

६आ - विरागसागर रचित पुस्तक शुद्धोपयोग का पृष्ठ १.

अनुभागबंध आदि होते हैं। प्रगट ज्ञान यदि बंध का कारण हो तो ज्ञानावरण कर्म के अभाव में भी सिद्धों / अर्हन्तों को बंध होगा और यह असम्भव है, क्योंकि वे वीतराग हैं। प्रगट क्षायोपशमिक ज्ञान का उपयोग जब उपर्युक्त बंध के कारणों की ओर मुड़ता है तब जघन्यरूप से परिणमने के अपराध के कारण वह जघन्य ज्ञान भी बंध का कारण कहा जाता है।[६अ]

देखें यह उद्धरण - **ज्ञानगुणस्य हि यावत् जघन्यो भावः तावत् तस्यान्तर्मुहुर्तविपरिणामित्त्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तात् अवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।**[६ब] अर्थ - ज्ञानगुण का भाव जबतक जघन्य क्षयोपशमभाव है तबतक अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में विरुद्ध परिणमन करनेवाला है इसलिये उसका परिणाम अन्य (अज्ञान) रूप होता है। वही (ज्ञान) यथाख्यातचारित्र से निचली अवस्था में **अवश्यम्भावी राग का सद्भाव होने से बन्ध का ही कारण है।**

और देखें - **जघन्यत्वात् एव ज्ञानगुणात्सकाशात् अन्तर्मुहूर्तानन्तरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्नोति जीवः। ततः कारणात् सविकल्पपर्यायान्तरं परिणमति .... तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बन्धको भणितः।**[६क] अर्थ - ज्ञानगुण के जघन्यरूपपने से अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् निर्विकल्पसमाधि में जीव स्थित रह नहीं सकता, इसलिये वह सविकल्परूप से अन्य पर्याय को प्राप्त होता है.... इसी कारण से सविकल्प कषायभाव से वह ज्ञानगुण बन्धक कहा गया है।

अतः उपयोग केवल ज्ञानमय होने से वह बंध का कारण नहीं है। **संसारी जीवों का उपयोग यत्र-तत्र भटकता रहता है। मिथ्यात्वी जीवों का उपयोग भ्रान्तिवश शुभ-अशुभराग में तथा मोह में भटकता रहता है तथा सम्यक्त्वी जीवों का उपयोग कमजोरीवश रागद्वेष में चला जाता है। मिथ्यात्वी जीव शुभ-अशुभ राग के कर्ता बनते हैं**

६अ - समयसार गाथा १७१. ६ब - समयसार गा १७१ आत्मख्याति टीका
६क - समयसार गाथा. १७१ तात्पर्यवृत्ति टीका

और सम्यक्त्वी का उपयोग कमजोरीवश रागद्वेष में चला जाता है, वे उसके ज्ञाता रहते है, कर्ता नहीं बनते और न वे बनना ही चाहते हैं, अतः उन्हें अबंधक कहा जाता है। फिर भी वे जितना रागांश है, उतने बंधते अवश्य ही है किन्तु वह बंध नगण्य होने से अनन्तानुबंधी के अभाव में वे अबंधक कहे जाते हैं।

२. शुद्धोपयोग की व्याख्या (स्वरूप) -

भगवत् कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार गाथा १४ द्वारा शुद्धोपयोग का स्वरूप निम्न गाथा में बताया है।

सुविदिद-पदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगतरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।।[७]

इस गाथा द्वारा भगवत् कुन्दकुन्द देव ने शुद्धोपयोग में परिणत पुरुष का स्वरूप बताते हुए कहा है कि **जो मुनि (श्रमण) (१) पदार्थ और सूत्रों का अच्छा ज्ञाता है, (२) संयम और तप से युक्त है, (३) विगतराग अर्थात् रागरहित वीतराग है तथा (४) समसुखदुःख अर्थात् सुखदुःखों में समता धारनेवाले है उन्हें ही शुद्धोपयोग कहा है** अर्थात् परम वीतरागी अर्हन्त या सिद्ध ही शुद्धोपयोग के फलस्वरूप स्वयं शुद्धोपयोग बन गये हैं तथा अखंड, आपूर्ण, अनन्तसुख के भोगी बनकर अनन्तकाल तक शुद्धोपयोगी ही रहेंगे। यह शुद्धोपयोग पूर्ण शुद्धोपयोग है, जो ऊपर दर्शाया गया है। इससे सिद्ध है कि **यह वर्णन शुद्धोपयोग के फलभूत मिलनेवाले अनन्तसुख को भोगनेवाले शुद्धोपयोगपरिणत पुरुष का है।**

इस अपेक्षा का आधार यह है कि जब शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से ही होता है, गृहस्थों को नहीं होता, ऐसी मान्यता रखनेवाले शुद्धोपयोग पुस्तक के रचयिता आदि महानुभाव इस गाथा में जो चार विशेषण शुद्धोपयोग के दिये हैं, उन्हें वे समुच्चयरूप से ले कर यह कहते हैं कि यह शुद्धोपयोग केवल मुनियों को ही हो सकता है, अन्यों को नहीं। पर यहाँ भी

---

७ - प्रवचनसार गाथा १४.

उनकी यह मान्यता निराधार ठहरती है, क्योंकि ये चारों विशेषण केवल अर्हन्त, सिद्धों में ही सम्भव हो सकते हैं, मुनियों में नहीं, क्योंकि वे विगतराग नहीं हैं।

इस विषय में हम जरा पूज्य क्षुल्लक श्री सहजानन्दजी वर्णी के प्रवचनसारप्रवचन पर दृष्टि ड़ालें तो वे कहते हैं कि **यहाँ शुद्धोपयोगी श्रमण के जितने विशेषण दिये हैं, उनमें परस्पर कार्यकारणभाव है अर्थात् पूर्व-पूर्व विशेषण कारणरूप हैं और उत्तर-उत्तर विशेषण कार्यरूप हैं। जो जीवादि पदार्थों को और आगम-सूत्रों को भले प्रकार जान लेगा, वही संयम और तप से संयुक्त हो सकता है, अन्य नहीं। जो वास्तविक संयम-तप से संयुक्त होगा, वही विगतराग (अर्थात् वीतराग) हो सकता है, अन्य नहीं और जो विगतराग हो जायेगा, वही श्रमण सुख-दुख में समान रह सकता है, अन्य नहीं।**[७अ] इससे यह स्पष्ट है कि सुविदित-पदार्थ-सूत्रता यह तत्त्वज्ञानरूप होने से चौथे गुणस्थान की प्रथम भूमिका है। इसके बिना चौथा गुणस्थान भी नहीं आ सकता। (देखें समयसार गाथा १४४ की आत्मख्याति टीका), क्योंकि सम्यग्दर्शन होने की यह प्रथम भूमिका है। संयम-तप को यहाँ द्वितीय स्थान दिया है, यह द्रष्टव्य है। वह **बाद की भूमिका** है।

श्रीमद् कुन्दकुन्ददेव के द्वारा शुद्धोपयोग का स्वरूप जतानेवाली इस गाथा १४ की पृष्ठभूमि देखने हेतु हमें प्रवचनसार की गाथायें क्र. ११ से १३ का सन्दर्भ लेना होगा। गाथा ११ में कहा है कि -

यदा अयं आत्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिं उद्वहति, तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षात् मोक्षं अवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोग-परिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः विरुद्धकार्यकारि-चारित्रः .....स्वर्गसुखं अवाप्नोति। अतः शुद्धोपयोगः उपादेयः शुभोपयोग

७अ - प्रवचनसार प्रवचन भाग १ गा. १४ पृ. १५५

हेयः।[८] अर्थात् धर्म से परिणत आत्मा याने शुद्ध ज्ञायकस्वभाव में ही रमण करता हुआ आत्मा शुद्धसंप्रयोगयुक्त अर्थात् शुद्धोपयोगयुक्त होता है, तब उसकी शक्ति बाधारहित होने से वह अपना कार्य करने में सामर्थ्ययुक्त चारित्रवाला होता हुआ साक्षात् मोक्षलाभ करता है और **धर्म से परिणतस्वभावी हो कर भी** जब शुभोपयोगयुक्त होता है, तब बाधासहित शक्तिवाला होने से अपना कार्य करने में असमर्थ होता हुआ उसका चारित्र कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला होता है ..... अतः वह स्वर्ग सुख प्राप्त करता है। **इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।**

इसी तरह गाथा १२ में बताया गया है कि **अशुभोपयोग से आत्मा स्व-स्वभावभावना से च्युत होकर संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।** ऐसा शुभ-अशुभ उपयोगों का फल बता कर अब गाथा १३ में **जो सुख अतिशययुक्त आत्मा से उत्पन्न होता हुआ विषयातीत सुख है तथा जो अनुपम, अव्युच्छिन्न, अनन्त है, वह सुख (निर्वाण सुख) शुद्धोपयोगात्मा को अर्थात् शुद्धोपयोग-रतों को होता है, ऐसा कहा है।** इस पृष्ठभूमि में गाथा १४ में **शुद्धोपयोग में अखंड रमण करने वाले सिद्धों की तथा अर्हन्तों की भी शुद्धोपयोग परिणति किस तरह होती है, इसका यह वर्णन है। अतः यह शुद्धोपयोग के फल का वर्णन है।**[८अ] कहा भी है - **एवं शुद्धोपयोग-फलभूत-अनन्त-सुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पंचमस्थलं गतम्।**[८ब]

इस पर से यह सिद्ध होता है कि अशुद्ध निश्चयनय द्वारा संग्रहीत १ से १२ गुणस्थानों से विलक्षण पूर्णशुद्धनिश्चयनय रूप पूर्ण शुद्ध वीतरागी केवली भगवंतों के शुद्धोपयोग के फलस्वरूप पूर्ण सुख का यह वर्णन है। १ से १२ गुणस्थानों में इस पूर्णरूप शुद्धोपयोग का रूप हम उस रूप में देख नहीं सकते।[९] **अतः उन गुणस्थानों के शुद्धोपयोग-भावना-रूप परिणामों को या शुद्धोपयोग को उनकी अपेक्षा से समझना होगा।** नियमसार में

८ - प्रवचनसार गाथा ११ तत्त्वप्रदीपिका टीका ८अ - और ८ ब प्रवचनसार गाथा १४ तात्पर्यवृत्ति
९ - प्रवचनसार गाथा १८१ तात्पर्यवृत्ति टीका तथा बृहद् द्रव्यसंग्रह गा. ३४ टीका

भी गाथा १५९ से १८२ तक शुद्धोपयोग अधिकार में ऐसा ही केवलज्ञानी के शुद्धोपयोग का वर्णन है।

अतः प्रवचनसार गाथा १४ में जो चार विशेषण शुद्धोपयोग के लिये दिये हैं, उनको पूज्यश्री सहजानन्दजी के अनुसार परस्पर कार्य-कारण रूप से लेने से पहला विशेषण **सुविदितपदार्थसूत्रता** चौथे गुणस्थानवर्ती से लागू होगा, दूसरा विशेषण **संयमतपयुक्तता यह** पाचवें से दसवें गुणस्थान तक लागू होगा, तीसरा विशेषण **विगतराग यह ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थानों से और समसुखदुःख यह चौथा विशेषण केवलियों को लागू होगा।** इसतरह शुद्धोपयोग की मात्रा आगे आगे के गुणस्थानों में बढती हुई अर्हन्त-सिद्ध पद को प्राप्त करायेगी।

इन चारों विशेषणों को **एवम्भूत नय** से **चतुर्थ गुणस्थान** से आगे के सभी गुणस्थानों में भी लगा सकते हैं, जैसे सभी मोक्षमार्गी स्वपरभेदज्ञानी होनेसे सुविदितपदार्थसूत्र होते हैं, शुद्धोपयोग के समय इच्छारहित होनेसे वे संयमी तथा तपयुक्त होते हैं, चार, आठ या बारह कषायरहित होनेसे उतने अंशों में विगतराग भी है और उससमय वे समतापरिणामी होनेसे समसुखदुःख भी हैं, इसका भी ध्यान रहें। इस छद्मस्थ अवस्था में यह शुद्धोपयोग एकदेश शुद्धनिश्चयस्वरूप होगा, जिसका स्वरूप नीचे दिया है।

३. एकदेशशुद्धनिश्चय नय और अशुद्धनिश्चय नय की भूमिका-

यह भूमिका समझने हेतु प्रवचनसार गाथा १८१ या समयसार-पंचास्तिकाय-प्रवचनसार-द्रव्यसंग्रह आदि की गाथाओं की टीकाओं का अध्ययन आवश्यक है। इनके द्वारा पहले गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान तक मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थानों में तरतमता रूप न्यूनाधिक भेद से **बहिरात्मा** जानना चाहिये। **अविरत (सम्यग्दृष्टि) गुणस्थान में उसके योग्य शुभ लेश्या में परिणमता हुआ जघन्य अन्तरात्मा जानना चाहिये तथा इन अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे जघन्य तथा क्षीणकषाय नामक**

बारहवें उत्कृष्ट अन्तरात्माओं के मध्य में पांचवें देशविरत से ग्यारहवें गुणस्थान उपशान्त कषाय तक मध्यम अन्तरात्मा जानना चाहिये। सयोगी व अयोगी केवली यह सिद्धसदृश परमात्मा हैं तथा सिद्ध साक्षात् परमात्मा हैं।[१०]

इस तरह गुणस्थान १३,१४ वाले अर्हन्त तथा गुणस्थानातीत सिद्ध यह तीनों परमात्मा **पूर्ण-शुद्ध-निश्चय** नय से संगृहीत हैं। मिथ्यात्व, सासादन तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती अशुद्ध-अशुद्ध या **पूर्ण-अशुद्ध-निश्चयनय** में संगृहीत है तथा शेष बचे ४ से १२ तक गुणस्थानवर्ती जो अंतरात्मा हैं, वे मोक्षमार्गी है तथा वे ही **एकदेश-शुद्ध**-निश्चयनय से यहाँ संगृहीत है।[११]

इस **एकदेश-शुद्ध-निश्चयनय का ही अर्थ आंशिक शुद्धता है** अर्थात् वहाँ पर सापेक्ष आंशिक अशुद्धता भी ग्राह्य है। इसीलिये इस आंशिक अशुद्धता की अपेक्षा से करणानुयोग उसे अशुद्ध निश्चय में ग्रहण करता है तथा **अध्यात्म-दृष्टि** से उसे ही आंशिक शुद्धता की अपेक्षा से एकदेश शुद्धनिश्चयनय कहा जाता है। इसतरह यह मोक्षमार्गी न तो पूर्ण परमात्मा ही है और न पूर्ण अशुद्ध बहिरात्मा। वह तो मध्यवर्ती **कुछ शुद्धता तथा कुछ अशुद्धता को** लिये हुए बढ़ता हुआ **अन्तरात्मा** है। यह उसका क्रमशः धीरे-धीरे या तेजी से बढ़ना ही मोक्षमार्ग में गुणस्थानक्रम है।

मूलतः तो यह जीव अनादि से बहिरात्मा है ही, पर जब वह अनादि मिथ्यात्व को छेद कर सम्यक्त्व प्राप्त करते हुए मिथ्यात्व को त्रिभंग (तीन टुकडे) कर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिरूप कर देता है, उस समय वह अन्तरात्मा अवश्य बन जाता है, पर पुनश्च जब उपशम सम्यग्दर्शन से च्युत हो कर क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में यदि स्थिर न हो सका और केवल सम्यक्प्रकृति रूप देशघाति प्रकृति के चल, मल, अगाढ दोषों से युक्त सम्यग्दृष्टि भी न रह पाया, तो या तो वहाँ मिथ्यात्व का या सम्यग्मिथ्यात्व का या अनन्तानुबंधी कषायों में से एक का उदय आयेगा, तो क्रमशः पहिले,

---

१० - बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १४ टीका . ११ - प्रवचनसार गाथा १८१ टीका.

तीसरे या दूसरे गुणस्थान में आयेगा, तब वह सादि मिथ्यादृष्टि कहा जायेगा। यह बहिरात्मा सादि मिथ्यादृष्टि होने से आगे सम्यग्दृष्टि होकर मुक्ति प्राप्त करेगा ही। **यह बहिरात्मा पूर्ण-अशुद्धनिश्चयनय का विषय है।** इन तीनों गुणस्थानों में पूर्ण-अशुद्धनिश्चयनय का विषय होने से तारतम्य से मन्दतापूर्वक अशुभोपयोग होता है।

ते अप्रमत्तसंयतं विना त्रयः एव सत्सम्यक्त्वकालान्तर्मुहूर्ते जघन्येन एकसमये उत्कृष्टेन च षडावलिमात्रेऽवशिष्टे अनन्तानुबंधिनोऽन्यतमोदये सासादना भवन्ति। .....सम्यक्त्वविराधकाः स्युः। तदा तत्काले संपूर्णे जाते सम्यक्त्वप्रकृत्युदये वेदकसम्यग्दृष्टयो वा मिश्रप्रकृत्युदये सम्यग्मिथ्यादृष्टयो वा मिथ्यात्वोदये मिथ्यादृष्टयो भवन्ति।[११अ]

अब एकदेशशुद्धनिश्चय का स्थान जो चौथे से बारहवें गुणस्थान तक का है, उनमें से सम्यग्दृष्टि (४था गुणस्थान), श्रावक (५ वाँ गुणस्थान) व प्रमत्तसंयत (छठा गुणस्थान) इन में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में तरतमता से रहता है तथा उसके बाद अप्रमत्त (सातवें गुणस्थान) से क्षीणकषाय (बारहवां गुणस्थान) तक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेशशुद्धनयरूप शुद्धोपयोग रहता है। (द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीका देखें)।

इसी द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीका में आगे कहा है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में संवर नहीं है। दूसरे गुणस्थान में सोलह व तीसरे गुणस्थान में इकतालीस प्रकृतियों का संवर बंधव्युच्छितिपूर्वक होता है। यह सादि मिथ्यादृष्टि के ही होता है, क्योंकि ये गुणस्थान सम्यक्त्वपूर्वक सम्यक्त्व के छूटने पर ही होते हैं और यह मर्यादित काल लिये होते हैं। बाद में सासादन गुणस्थान से वह पहिले मिथ्यात्व गुणस्थान में ही जाता है तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि तीसरे गुणस्थान से या तो चौथे गुणस्थान में जायेगा या पहले गुणस्थान में

११अ. (गोमटसार जीवकांड जीवप्रज्ञापन/७०४/११४१)

आयेगा, तब संवर होगा ही नहीं।[१२]

आगे बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में प्रश्न किया है कि मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में तीन उपयोग (तरतमता से) कहे हैं, उनमें से अशुद्धनिश्चय में शुद्धोपयोग कैसे घटित होता है? इस के उत्तर में ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं कि **(अशुद्ध निश्चयनय होने पर भी) शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध यही जिसका एक स्वभाव है, ऐसा स्व (निज) आत्मा ध्येय होता है, इसी कारण से (उपयोग में) शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्बन होनेसे और शुद्धात्मस्वरूप का साधक होनेसे (वहाँ भी) शुद्धोपयोग घटित होता है, यही वह शुद्धोपयोग है, जो संवर शब्द से कहा जाता है। वह शुद्धोपयोग संसार के कारणभूत मिथ्यात्वरागादि अशुद्ध पर्याय जैसा अशुद्ध नहीं है तथा फलभूत केवलज्ञान जिसका लक्षण है, ऐसी शुद्धपर्याय जैसा शुद्ध भी नहीं है परंतु उनसे विलक्षण वह शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक होने से मोक्ष का कारण है और वह एकदेश प्रगटरूप है, एकदेश आवरण से रहित है, इस तरह का तीसरी अवस्थारूप यह शुद्धोपयोग है। (अर्थात् केवलज्ञान मोक्षस्वरूप है और यह एकदेश शुद्ध निरावरण ज्ञानोपयोग मोक्षमार्ग स्वरूप है।)**[१२अ]

उसी द्रव्यसंग्रह की गाथा ३४ की टीका में आगे कहते हैं कि वह शुद्धोपयोग सोलहवर्णी सुवर्णरूप कार्य के पूर्ववर्ती वर्णिकारूप उपादान कारण के समान और मिट्टी रूप घट कार्य के प्रति पिण्ड, स्थास, कोश तथा कुशूल आदिरूप उपादान कारण के समान कार्य से एकदेश (आंशिक) भिन्न होता है। इससे क्या सिध्द हुआ? **एकदेश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञान ही मुक्ति का कारण होता है।**[१२ अ.]

उसी टीका में आगे और कहते है कि **यद्यपि पूर्वकथित शुद्धोपयोगलक्षण जो क्षायोपशमिक ज्ञान है वही मुक्तिकारण है, तथापि ध्याता पुरुष**

१२अ - द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ टीका.

को (उसका ध्यान न कर) जो सदैव नित्य निरावरण अखंड, एक, सकल, विमल केवलज्ञान जिसका लक्षण है ऐसा परमात्म स्वरूप, वही मैं हूं, मैं कतई खंडज्ञान रूप नहीं हूं ऐसा भाना चाहिये।[१२ब]

इससे सिद्ध हुआ कि अशुद्धनिश्चयनय से विवक्षित पहले से तीसरे गुणस्थान तक अशुभोपयोग ही तरतमता से है, वह मिथ्यादर्शन की मुख्यता से है। चौथे से लेकर आगे असंख्यातगुणी निर्जरा लिये जो गुणस्थान है, उनमें से चौथे से छट्ठे गुणस्थानतक शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग ऊपर-ऊपर बढता जाता है अर्थात् वहाँ शुद्धोपयोग तो है, पर बहुलता से नहीं है। वहाँ शुभोपयोग की ही बहुलता है, क्योंकि वहाँ प्रमाद की प्रचुरता है। **यह चौथे, पांचवें और छठवें गुणस्थान में जो शुद्धोपयोग है, वह सातवें से आगे के गुणस्थानों में होनेवाले शुद्धोपयोग की भूमिका है और वह भूमिका शुभोपयोगरूप नहीं हो सकती,** क्योंकि शुभोपयोग पर का अवलम्बन लिये बिना हो नहीं सकता, वह पर के ध्येय से होता है और उसका फल भी संसार है। शुद्धोपयोग से साध्य जो मोक्ष है, वह शुभोपयोग से विरुद्ध है। शुद्धोपयोग का ध्येय शुद्ध होता है और साधन भी शुद्ध। इस सम्बंध में समयसार गाथा ३२० की तात्पर्यवृत्ति टीका द्रष्टव्य है। वह सीधे तौर पर चौथे गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग को सिद्ध करती है। वह टीका इस प्रकार है -

तस्य त्रयस्य मध्ये.....इति विज्ञेयं। यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेः व्यक्तिर्भवति तदा अयं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभाव-लक्षण-निजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनं आगमभाषया औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकभावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोगः इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते । स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षण-शुद्धात्मद्रव्यात् कथंचित् भिन्नः। कस्मात्? भावनारूपत्वात्।

१२ब - बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ टीका.

शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यदि एकान्तेन अशुद्धपारिणामिकात् अभिन्नः भवति तदा अस्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिक-भावस्यापि विनाशः प्राप्नोति। न च तथा । ततः स्थितं - शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यत् औपशमिकादिभावत्रयं तत् समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वात् मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः। यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः सः शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति। अयं तु मोक्षविचारो वर्तते। तथा चोक्तं सिध्दान्ते - निष्क्रियः पारिणामिकः।[१३]

अर्थ - वहाँ भी तीनों पारिणामिक भावों में से जब कालादिलब्धि के वश होकर भव्यत्वशक्ति की प्रगटता होती है, तब यह जीव सहज शुद्धपारिणामिकभावलक्षण जो निज परमात्मद्रव्य है, उसके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय से परिणमन करता है। वही परिणमन **आगमभाषा** से औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक इन तीन भावों रूप से कहा जाता है तथा **अध्यात्मभाषा से** वही **शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि अर्थात् निर्विकल्प स्वसंवेदन, शुद्धात्मभावना, शुद्धोपयोग भावना, भावना, निश्चय सम्यक्त्व , अभेदरत्नत्रय आदि पर्यायरूप** से कहा जाता है। **यह शुद्धोपयोगादि पर्याय** शुद्धपारिणामिक-भावलक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है **क्योंकि वह भावनारूप है।** शुद्धपारिणामिक भाव **भावनारूप** नहीं होता। यदि एकान्त से अशुद्ध पारिणामिक से वह शुद्धपारिणामिक अभिन्न होगा, तो उस भावनारूप मोक्ष का कारण होनेवाले भाव का मोक्ष होने पर विनाश होगा, उस समय शुद्धपारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त होगा, पर ऐसा नहीं होता। इसीलिये सिद्ध हुआ कि शुद्धपारिणामिक भाव के विषय में जो भावना है, उस रूप औपशमिकादि तीन भाव है, वे ही समस्तरागादि से रहित होने से मोक्ष के कारण है, क्योंकि उनका उपादान

---

१३ - समयसार गाथा ३२० तत्पर्यवृत्ति टीका.

शुद्ध है, पर शुद्धपारिणामिक भाव उनरूप नहीं है। जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिक भाव में पहले से ही विद्यमान है, लेकिन यहाँ तो प्रगटरूप (व्यक्तिरूप) मोक्ष का विचार चलता है। सिद्धान्त में भी कहा है कि - **शुद्ध पारिणामिक निष्क्रिय है।**

आगम के इस उद्धरण से सुसिध्द ही है कि जब भव्यत्व शक्ति प्रगटती है, तब औपशमिक सम्यक्त्व होता है, उससमय औपशमिक भाव रहता है तथा बाद में भी वह औपशमिकभाव क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव में परिणत होता है, जैसे श्रेणिकराजा का मिथ्यात्व हटकर औपशमिक सम्यग्दर्शन हुआ, उस समय शुद्धोपयोग हुआ। **आगमभाषा से उसे औपशमिक भाव** कहा गया तथा **अध्यात्मभाषा से उसे ही शुद्धोपयोग** कहा गया। बाद में वह जब औपशमिकसम्यग्दर्शन से हटा तो सम्यक्प्रकृतिसहित **क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन** में स्थित रहा। उससमय यद्यपि शुद्धोपयोग नहीं था, क्योंकि प्रमत्त अवस्था थी, पर शुद्धोपयोग के फलस्वरूप जो आत्मानन्द का अप्रमत्तरूप से क्षणिक वेदन किया था, उसी की ललक कायम होने से शुभोपयोग परिणति में यद्यपि वह आया, फिर भी **शुद्धोपयोग के लिये तड़पन कायम थी।** इसी तड़पन से वह शुद्धोपयोग का भी अनुभव अप्रत्याख्यानावरण के वासनाकाल में करता रहा। इसी को **शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग** कहा जाता है।[१४] जहाँ शुद्धोपयोग का भान ही न हो या शुद्धोपयोग का फल जिसने कभी चखा भी नहीं हो, वह शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग कैसे करेगा? यह तो हवा में बातें करना ही हो गया।

आगे भी इसी संदर्भ में देखिये प्रवचनसार की गाथा २४८ की तात्पर्यवृत्ति टीका। वह इसप्रकार हैं - **ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते, श्रावकानामपि सामायिकादि काले शुद्धभावनादृश्यते, तेषां कथं विशेषः?** - परिहारमाह - युक्तमुक्तं भवता,

---

१४ - प्रवचनसार गाथा १८१ तात्पर्यवृत्ति.

परं किन्तु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात्? बहुपदस्य प्रधानत्वात् आम्रवन निम्बवनवत्।[१४ अ]

इसमें प्रथम प्रश्न पूछा गया है कि शुभोपयोगियों के भी किसी काल में शुद्धोपयोगभावना देखी जाती है, शुद्धोपयोगियों के भी कभी-कभी शुभोपयोग भावना दीखती है, श्रावकों को भी सामायिकादि काल में शुद्धभावना दीखती है, उनमें क्या विशेषता है ? उसका उत्तर यह है कि आपने तो ठीक ही कहा, परंतु जो प्रचुरता से शुभोपयोग से रहते हैं, वे यद्यपि किसी काल में **शुद्धोपयोगभावना** करते है, तथापि वे शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं। उसीप्रकार जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी कभी-कभी शुभोपयोग से रहते हैं तथापि **शुद्धोपयोगी ही** है। किस तरह? **बहुपद की प्रधानता होने से,** जैसे आम का वन और नीम का वन। (अर्थात् आम्रवन में यद्यपि कुछ नीम के वृक्ष हैं, फिर भी आम के वृक्ष बहुतायत से होने से उसे आम्रवन ही कहा जाता है, उसी तरह नीम का वन भी नीम के वृक्ष बहुतायत से होने से, आम के कुछ वृक्ष होने पर भी वह नीम का वन ही कहा जाता है।

उसी तरह यहाँ भी ४-५-६ गुणस्थानों में शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग की तरतमता से वृद्धि कही गई है, वह इसी बहुलता के न्याय से अर्थात् वहाँ भी शुद्धोपयोग होता ही है, पर अल्पतर प्रमाण में। इसीतरह सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग कहा है, पर वहाँ पर भी अबुद्धिपूर्वक कषायांश रहता ही है और उसे भी प्रमादवश छठे गुणस्थान में आना पडता ही है। अतः चौथे, पांचवें गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग होता तो है, पर अत्यन्त अल्पकाल ही। वैसे **चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय, जिसका वासना काल अनन्तकाल है, वह नहीं है, पर**

१४अ - प्रवचनसार गाथा २४८ तात्पर्यवृत्ति।

अप्रत्याख्यान कषाय है, जिसका वासना काल (अधिकतम) छह मास है। वह कषाय छह माह तक शुद्धात्मानुभूति के अभाव में अनन्तानुबंधीरूप परिणत होती है। प्रत्याख्यानावरण का वासना काल एक पक्ष है, वह भी एक पखवाड़े में शुद्धात्मानुभूति स्वरूप शुद्धोपयोग के अभाव में अप्रत्याख्यानावरण रूप परिवर्तित हो जाती है और संज्वलन का वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त है।[१५]

इस तरह यह कषायें अपने-अपने वासना काल के बाद निम्न कषायों के रूप में परिवर्तित होकर नीचे के गुणस्थानों को जीव को प्राप्त कराती है, फिर चाहे बाह्यवेष तथा लिंग और महाव्रतादि कैसे भी क्यों न हो? अतः इन गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग देखा जाता है और उस वासनाकाल में वह होना ही चाहिये अन्यथा नीचे का गुणस्थान आयेगा। यदि जीव इस वासनाकाल में शुद्धोपयोग को प्राप्त नहीं हुआ तो नीचे के गुणस्थान में अवश्य पदार्पण करेगा।

इस वासना का स्वरूप समाधिशतक के ३७ वे श्लोक की टीका में इस प्रकार दिया है - **शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्याः तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिः तेन जनिताः संस्काराः वासना।**[१६] अर्थात् शरीरादि को शुचि (शुद्ध), स्थिर और आत्मीय (अपना) मानने रूप जो अविद्यारूप अज्ञान है, उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न संस्कारों को **वासना** कहते है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायों का नीचे गिराने का वासनाकाल क्रम से जो (१) संख्यात, असंख्यात, अनन्त काल (२) छह माह, (३) एक पक्ष और (४) अन्तर्मुहूर्त है, उसके बाद वे कषायें निश्चित रूप से इस वासना को उत्पन्न कर साधक (साधु) को नीचे धकेल देती हैं। इसीलिये बाह्य मुनिवेष हो, २८ मूलगुण हों या श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का पालन हो यह **वासना** अपना काम वहाँ करती ही है और मिथ्यात्वरूपी गढ्ढे में उतारने लगती है। इसीलिये कहा भी है -

---

१५ - गोमटसार कर्मकांड मूल व टीका ४६-४७ १६ - समाधिशतक श्लोक ३७ की टीका

मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।[१७]

अर्थात् मुनिव्रत धारण कर अनन्त बार यह मिथ्यात्वी जीव ग्रैवेयक तक जाकर इकतीस सागरोपम स्वर्गीय अहमिन्द्र का सुख अनन्त बार भोग चुका, पर इस अनन्तानुबंधी की वासना ने उसे शरीरादिक में आत्मबुद्धि छोडने नहीं दी तथा वहाँ के स्वर्गीय सुखों में ऐसा रमा रखा कि वहाँ से चय कर पुनः अनन्त संसार में परिभ्रमण करा दिया। देखें यह उद्धरण -

जो विमान वासी हूं थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय।
तहँते चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करैं।।[१८]

भावपाहुड में और भी कहा है -

णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो ण लहइ बोधिं, जिणभावणवज्जिओ सुइरं।।[१९]

जिनभावनारहित (निश्चय सम्यग्दर्शनादि से रहित) नग्न दुःख पाता है, नग्न संसार सागर में भटकता है, नग्न बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं पाता है अर्थात् वह मोक्षमार्गी नहीं है, वह मिथ्यात्वी ही है।

अतः सम्यग्दर्शन होने हेतु करणानुयोग के अनुसार (आगमभाषा से) मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम करता है तथा (अध्यात्मभाषा से) जो शुद्धात्मा को उपादेय कर वर्तता है, उसे मोक्ष होता है, ऐसा कहा है, वह इसलिये कि सात प्रकृतियों के उपशमादि के अभाव में (वह अज्ञानी) शुद्धात्मा को उपादेय कर नहीं वर्तता है, उसकी श्रध्दा नहीं करता है और जो शुद्धात्मा को उपादेय कर श्रद्धान करता है, उस को सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशमादिक रहते ही हैं और वह अवश्य भव्य होता है तथा जिसके वह शुद्धात्मा उपादेय नहीं रहता, उस के सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि नहीं होते, अतः वह मिथ्यादृष्टि ही है और भी कहते है - **ऐसे निश्चय मोक्षमार्ग में शुद्धात्मा उपादेय कर जो**

---

१७ - छहढाला गाथा ४/५ १८ - छहढाला गाथा १/१७ १९ - भावपाहुड गाथा ६८

स्थित होता है उसे ही मोक्ष होता है, व्यवहार मोक्षमार्ग में जो स्थित होता है, उसे सात प्रकृतियों के उपशमादि नहीं होते क्योंकि सात प्रकृतियों के उपशमादि हेतु शुद्धात्मा उपादेय होना आवश्यक है।[२०]

इन सात प्रकृतियों में तीन प्रकृतियाँ जैसे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति यह दर्शन मोहनीय की प्रकृतियाँ है और अनन्तानुबंधी की चार प्रकृतियाँ चारित्र मोहनीय की हैं। अतः चौथे गुणस्थान में दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम और क्षय भी होता है और साथ में चारित्र मोहनीय के अनन्तानुबंधी सम्बंधी चार प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि भी रहते है। देखें सर्वार्थसिद्धि के यह आगमभाषा के उद्धरण - (१) **आसां सप्तानां प्रकृतीनां उपशमात् औपशमिकं सम्यक्त्वं।** अर्थ - इन सात प्रकृतियों (अनंतानुबंधि की चार व दर्शनमोहनीय की तीन) के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। (सर्वार्थसिद्धि २/३) (२). **पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनां अत्यन्तक्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वं।** अर्थ - पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। (सर्वार्थसिद्धि २/४) (३). **अनन्तानुबंधि-कषायचतुष्कस्य मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात् सदुपशमात् च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं।** अर्थ - अनन्तानुबंधी चार कषायें तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों के उदय-क्षय से व उन्ही के सदुपशम से तथा सम्यक्त्वमोहनीय देशघातिप्रकृति के उदय से होनेवाला जो तत्त्वार्थश्रद्धान है, वह क्षायोपशमिकसम्यक्त्व है। (सर्वार्थसिद्धि २/५)

अतः उतने अंशों में चौथे गुणस्थान में भी सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के साथ **अनन्तानुबंधीचतुष्करहित सम्यक्त्वाचरणचारित्ररूप सम्यक्चारित्र** रहता ही है। चाहे उसे करणानुयोग कोई नाम दे सके या न दे सके क्योंकि लब्धिसार ग्रंथ **संयमलब्धि को ही चारित्र** मानता है। तत्त्वार्थसूत्र के इसी सूत्र क्र. २/५ में बारह कषायों के अभाव में क्षायोपशमिक चारित्र तथा आठ

---

२० - समयसार गाथा २७७ तात्पर्यवृत्ति।

कषायों के अभाव में क्षायोपशमिक संयमासंयम माना है। मगर पांचवे गुणस्थान को देशचारित्र भी कहते हैं। बारह कषायों का अभाव हो या आठ कषायों का हो या चार कषायों का हो, है तो वह चारित्र ही, चाहें उसे कोई भी नाम क्यों न दिया जाये। इसीलिये वह **मोक्षमार्गी है, जघन्य अन्तरात्मा है. जिनलघुनन्दन है, दृष्टिमुक्त है, सम्यक्त्वाचरण-चारित्रधारी है**, दर्शनाराधना करने वाला है, दर्शनाचार का धारी है, **इसीलिये वह स्वरूपाचरणचारित्र का धारी भी है। कहा भी है - शुद्धात्मानुभव से अविनाभावी चारित्रविशेष को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।**[२०अ]

चूंकि चारित्र गुण आत्मा का सहभावी गुण है, जो आत्मा के साथ अनादिकाल से अनन्तकाल तक सहभावी अर्थात् अखंड रूप से साथ रहने वाला है, इसीलिये पहले तीन गुणस्थानों में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के साथ मिथ्याचारित्र है, यह बात तो सर्वमान्य है, इसमें कोई विवाद नहीं है। विवाद का विषय केवल यह है, कि **क्या चौथे गुणस्थान में केवल व्यवहार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही है, क्या निश्चय सम्यग्दर्शनादि वहाँ नही हैं तथा वहाँ सम्यक्चारित्र भी नहीं है, क्योंकि उसे असंयत सम्यग्दृष्टि या अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है?** परन्तु मुझे इस विषय में जिनागम के अध्ययन से यह कथन सुसंगत प्रतीत नहीं लगता, तर्कसंगत भी नहीं लगता क्योंकि आत्मा के चारित्र गुण के दो ही भेद शक्य हैं, **एक है मिथ्याचारित्र व दूसरा सम्यक्चारित्र।** पहले तीन गुणस्थानों में उसकी मिथ्याचारित्र पर्याय है और पांचवें से आगे देश व सकल चारित्र के साथ सम्यक्रूप से सम्यक्चारित्ररूप पर्याय है, ऐसी मान्यता यदि किसी की हो, तो चौथे गुणस्थान में **चारित्र गुण उनके मत से कहाँ गया?** क्या वह पर्यायरहित हो गया? वहाँ पर **चारित्रगुण नहीं है, अतः ऐसा कहने वालों को इस पर अवश्य पुनर्विचार करना चाहिए।** अनन्तानुबंधी कषाय का चाहे उपशम, क्षय या क्षयोपक्षम हो या उसका विसंयोजन होकर

२०अ - जैनसिद्धान्तप्रवेशिका व्याख्या ११३

वह अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण या संज्वलनरूप से परिणमें, फिर भी क्या वह चारित्रगुण अपना अस्तित्व खो बैठता है? यह तो असंभव ही है।

अतः वह साधक (फिर चाहे वह चौथे गुणस्थानवर्ती ही क्यों न हो), स्वरूपाचरण चारित्र में रहता ही है, वह उसका धारी है। उस अविरतसम्यक्त्वी के देवगति के या नरकगति के भोग सागरोपम तक भोगने की अवस्था में भी अपने ज्ञायकस्वभाव का भान उसे नहीं छूटता। इस तरह अपने स्वभाव का भान न छूटने से वह सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं होता।

जैसे कोई व्यापार हेतु परदेश जा कर कईं वर्षों तक वहीं व्यापार करता है, वहाँ के निवास को अपना घर कहता है परन्तु अन्तरंग में उसे यह भावभासन अवश्य रहता है कि उस परदेश का कुछ भी मेरा नहीं है, सब कुछ पराया है। इसी तरह इस अविरतसम्यग्दृष्टि का व्यापार बाह्य इंद्रिय-भोगों में भले ही होता हो और उन्हें वह प्रयत्नपूर्वक भी रोक नहीं पाता हो, उपवासादि तप न कर सकता हो, हिंसादि से निवृत्त भी न हो सकता हो, फिर भी वह कभी-कभी छह मास के भीतर एक क्षण (जघन्य अन्तर्मुहूर्त जो एक आवली अर्थात् एक श्वासोच्छ्वास के असंख्यातवें भागप्रमाण) भी ऐसा निकाल लेता है कि वह केवल ज्ञाता रहता है, निज परमपारिणामिक भाव का ध्याता रहता है। यह काल भी असंख्यात समयों का है, क्योंकि एक आवलि असंख्यात समयों की होती है। **यही उसकी जघन्य आत्मस्थिरता है, जो स्वरूपाचरण चारित्र है, यही शुद्धोपयोग है।** बाद में वह फिर भोग-निरत होता है, पर यह भोग-निरतता उसकी मान्यता के प्रतिकूल होने से वह उसे अपनी कमजोरी का प्रतीक मानता है। इसीसे वह उसमें अनिच्छा से मजबूरी वश प्रवृत्त होने से सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं हो पाता।

यह उसकी स्थिति सामान्यों की दृष्टि में नहीं आ पाती। क्योंकि उन्हें उस की बाह्य क्रियायें दीखती हैं, उसका अन्तरंग भेदज्ञान नहीं दीखता, जिसके वश जल से भिन्न कमलवत् वह सम्यग्दृष्टि ज्ञान में उन क्रियाओं का

कर्ता नहीं बनना चाहता, पर वे क्रियायें उसे मजबूरी वश करनी पडती हैं। उनकी दृष्टि में केवल बाह्य में किये हुए भोग, असंयम तथा अविरति दीखते हैं। इसी लिये उसे असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह होते हुए भी वह कभी-कभी शुद्धोपयोग में आता ही रहता है। **यह शुद्धोपयोग ही निश्चय मोक्षमार्ग है, जिसके बिना वह जघन्य मोक्षमार्गी भी नहीं कहा जा सकता। अतः वह अचारित्री नहीं है।**

निष्कर्ष - प्रवचनसार परमागम की इस **शुद्धोपयोगपरिणत पुरुष** का स्वरूप दिखाने वाली गाथा १४ के विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि-

१. शुद्धोपयोग के यह चार विशेषण पूर्ण शुद्धोपयोग की दृष्टि से यदि ग्रहण किये जाये, तो वह **ग्यारहवें गुणस्थान से आगे के श्रमणों को ही लागू होते हैं क्योंकि वे पूर्णशुद्ध-निश्चयनयाश्रित हैं।**

२. इसीलिये पूर्ण शुद्धोपयोग के निकष सातवें से दसवें गुणस्थान तक के श्रमणों को लागू नही हो सकते क्योंकि **वे विगतराग अर्थात् पूर्ण वीतराग नहीं होते। वे अशुद्धनिश्चय के विषय हैं।**

३. यदि सातवें गुणस्थान से उन्हें लागू करना हो, तो **जिन निकषों का आधार उन्हें वहाँ पर लागू करने में लेना होता है, वही निकष चौथे गुणस्थान पर भी लागू होते हैं।**

४. वे **निकष** हैं - (१) **सुविदित-पदार्थसूत्रता** - अर्थात् स्व-पर भेदविज्ञान याने यथार्थ तत्त्वार्थश्रद्धान। यह चौथे गुणस्थान के लिये आवश्यक निकष है, क्योंकि वहाँ आने हेतु करणलब्धि में अन्तरकरण कैसे संभव होगा? उसके बिना औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे संभव हो सकता है? **अतः वहाँ शुद्धोपयोग अवश्य होना ही चाहिये।**

(२) **संयम-तपसंयुक्तता** - अर्थात् वह तप और संयम से युक्त होना चाहिये याने जब वह साधक शुद्धोपयोग में होता है, तब सभी पंचेंद्रियों के तथा मन के विषयों से संयमित हो कर वह अपने ज्ञायक

स्वभाव से तन्मय होता है तथा उससे अपने जीव सहित किसी भी जीव की हिंसा नहीं होती, इसीलिये वह उस समय संयमी है, पर अति अल्प काल के लिये ही, जो काल नगण्य है, **इसलिये उसे करणानुयोग संयम रूप में नहीं गिनता।** इसी तरह वह सभी इच्छाओं से परे होने से **तपसंयुक्त भी है, पर यह भी आम्रवन-निंबवन जैसा अत्यल्प होने से वहाँ नगण्य है फिर भी उसकी वहाँ नगण्य उपस्थिति है अवश्य।**

(३) **विगतरागता अर्थात् वीतरागता** - चौथे गुणस्थानवर्ती के चार कषायों रूप राग नहीं है, इसलिये उतने अंशों में वह विगतराग या वीतराग है ही। केवली भगवान पूर्ण वीतरागी हैं, मुनिराज बारह कषायों से रहित हैं, इसलिये वे लगभग हर अन्तर्मुहूर्त में वीतरागी हैं, **पर यह चौथे गुणस्थानवर्ती भी केवल चार कषायों के अभाव से एवम्भूतनय से अत्यल्प अंश वीतरागी है। इतना ही उन दोनों में अन्तर है।**

(४) **समसुखदुःखरूपता - शुद्धोपयोग के समय केवल निजात्मा ही ध्येय होने से** कर्म के उदय मे प्राप्त होनेवाले इंद्रियजन्य सुखमय तथा दुःखमय संयोगों के तरफ उस की दृष्टि नहीं रहती। वह तो शुद्धोपयोग के फलभूत निज शुद्ध स्वात्मानन्द में अत्यल्प काल के लिये मग्न रहता है। **वह उससमय इंद्रियज सुख-दुखों को समान मानता है।** इस का काल भी अत्यल्प है।

इस तरह ऐसे शुद्धोपयोग रूप निश्चयमोक्षमार्ग से बाहर शुभोपयोग में आ कर वह सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धान में तथा सात तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप **व्यवहार मोक्षमार्ग में** स्थित रहता ही है। **यहाँ पर इसतरह व्यवहार नय और निश्चयनय की सघन मैत्री है। यही उसकी विशेषता है।** यदि वे दोनों अलग अलग अकेले अकेले रहे, तो वे **आभासमात्र ही** रहते हैं। **उन्हें व्यवहाराभास और निश्चयाभास कहते हैं।** पंचास्तिकाय में उसे केवलव्यवहारावलंबी और केवलनिश्चयावलंबी के नाम से कहा गया हैं। (देखें- पंचास्तिकाय गाथा १७२ की समयव्याख्या

टीका)

अतः **अशुद्धनिश्चयनय के ही अन्तर्गत एकदेशशुद्धनिश्चयनय स्वरूप चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक पाया जानेवाला मोक्षमार्गस्वरूप जो शुद्धोपयोग है**, वह किस किस गुणस्थान में किस तरह होता है यह देखने से पहले निश्चयनय व व्यवहारनयों की मैत्री किस तरह रहती है, इसपर थोडासा चिन्तन करेंगे।

४. निश्चयनय और व्यवहारनय मैत्री -

प्रमाणनयैरधिगमः।[२१] यह तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है। इस सूत्र का अर्थ है - **प्रमाण और नय यह दोनों जानने के साधन हैं।** इस से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि प्रमाण और नय यह दोनों केवल जानने के ही साधन हैं। इन्ही प्रमाण और नयों द्वारा सात तत्त्वों का अर्थात् **जीव के सात स्वभावों (स्वतत्त्वों) का अधिगम अर्थात् ज्ञान** होता है। अतः दोनों नय जानने हेतु परम उपकारी है। जानने हेतु कोई भी नय हेय नहीं है। यह हेय-उपादेयता केवल श्रद्धा या दृष्टि या अभिप्राय की अपेक्षा से आगम में कही गई है।

प्रमाण सकलादेशी याने धर्म याने गुण सहित धर्मी या गुणों के भंडाररूप या गुणपर्यायमय सम्पूर्ण वस्तु को जानता है तथा **नय** विकलादेशी है अर्थात् वे अखंड वस्तु को भेद या खंडरूप से ज्ञान करने में सहायक हैं। देखें उद्धरण - **प्रमाण-नयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते। तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासंभवात्।तत एव जीवादि-अधिगमोपायभूतौ प्रमाण-नयौ अपि विवेक्तव्यौ।**[२२] अर्थात् प्रमाण और नयों से ही जिनकी विवेचना की जाती है, ऐसे जीवादिक सम्यक् रूप से जाने जाते हैं। इनके बिना जीवादिकों का अधिगम या ज्ञान करने हेतु अन्य प्रकार सम्भव नहीं है। इसीलिये जीवादिकों के अधिगम या ज्ञान के उपायभूत ऐसे प्रमाण व नयों का विवेचन करनेयोग्य है। प्रमाण का लक्षण

२१ - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र ६. २२ - न्यायदीपिका प्रकाश १.परि. १.

करते हुए आचार्य अभिनव धर्मभूषण न्यायदीपिका में कहते है - **सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।..... अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसाय-निरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति।**[२३] अर्थात् सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है।..... यहाँ सम्यक् पद संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का निरसन करने हेतु किया गया है, क्योंकि इन संशयादिज्ञानों में अप्रमाणपना है।

वैसे पांचों ज्ञान प्रमाणरूप ही हैं। देखें सूत्र - **मतिश्रुतावधिमनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्।**[२३अ] अर्थात् संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसायरूप ज्ञान अप्रमाण हैं, यह पहले ही कह आये हैं। इन पांचों ज्ञानों में से केवल श्रुतज्ञान में ही नय भी होते हैं। वे नय प्रमाण के विषय को पुष्ट कराने में सहायक होते हैं।

नय का स्वरूप आगम में **ज्ञातुरभिप्रायो नयः।**[२४] अर्थात् ज्ञाता या जाननेवाले का अभिप्राय ही नय है, ऐसा कहा है। प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु के अंश में जिस ज्ञान की प्रवृत्ति होती है उसे नय कहते है। वस्तु अनेक विरोधी धर्मों को या स्वभावों को एकसाथ अपने में धारण करती हुई **अनेकान्तात्मक होती ही है।** इसलिये उसे समझने हेतु ज्ञाता को अनेक दृष्टिकोणों से या अनेक अपेक्षाओं से वस्तु को समग्ररूप से जानना होता है। तभी वह उसका अपने-पराये या हेय-उपादेय रूप से निर्णय या निश्चय कर सकेगा। इसके बाद ही वह अपनी वस्तु का आश्रय लेकर पर वस्तु को छोड़ेगा और **प्रमाणज्ञानसाधन द्वारा सम्पूर्ण रूप से स्ववस्तु को भोग सकेगा।**

चूंकि प्रत्येक वस्तु चाहे वह निजात्मा ही क्यों न हो, अनेकान्तात्मक ही होती है, इसलिये वह अनेक (अनन्त) परस्परविरोधी धर्मों को लिये हुए है और **उन्हें अंशों में समझने** हेतु इन नयों के प्रयोग जिनागम में तथा अध्यात्मशास्त्रों में जगह-जगह किये हुए हैं, जिन्हें ग्रन्थकार की ही अपेक्षा से समझना होगा। जैसे कोई पिता अपने बच्चे से कहता है - माँ को

२३ - न्यायदीपिका अ. १ परि. ८ २३अ - तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सूत्र ९
२४ - लघीयस्त्रय कारिका ५२ तथा न्यायदीपिका अ.३ परि. ८४ में उद्धृत

बुलाओ। तब बच्चा उसकी ही मां को बुलाता है, न कि पिता की मां को। इसी तरह जिनागम में जगह जगह आगमभाषा और अध्यात्मभाषा से अथवा निश्चय और व्यवहार नय दोनों से वर्णन आये हैं।

अध्यात्मग्रंथों जैसे समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, परमात्मप्रकाश, योगसार आदि में श्री जयसेनाचार्यादि टीकाकारों ने **आगमभाषया और अध्यात्मभाषया** अर्थात् आगमभाषा से और अध्यात्मभाषा से एक ही वस्तु का अर्थात् सम्यग्दर्शन, रत्नत्रय, संयम, धर्म, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, परमभक्ति, समाधि, निजात्मा, संसार, व्रत, समाधि आदि का वर्णन कर मूल वस्तु को समझाने की कोशीश की है। यह उनका हम जैसे अल्पज्ञों पर महानतम उपकार है, जिससे आगम का मर्म समझ कर स्व-पर भेदज्ञान करना अत्यन्त अत्यन्त सरल हो गया है। **यह दोनों भाषायें परस्परपूरक हैं, परस्परविरोधी बिल्कुल नहीं है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी धर्म वस्तु में एक ही समय में विराजते हैं।** यही हर वस्तु की अनेकान्तात्मकता है तथा ऐसा होना यही उस वस्तु की शोभा व स्वभाव है।

नयों द्वारा स्व तथा पर वस्तु को यथार्थ समझने हेतु मुख्य रूप से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तथा निश्चय-व्यवहार नयों का प्रयोग करना होता है। **जानने हेतु कोई भी नय जिनागम में हेय नहीं है तथा किसी भी नय का एकान्त भी जिनवाणी को सह्य नहीं है। अध्यात्मग्रन्थों में व्यवहार नय को हेय, अभूतार्थ या असत्यार्थ केवल सम्यग्दर्शन हेतु कहा है। वह व्यवहारनय दृष्टि का विषय या ध्येय या आश्रय या लक्ष्य नहीं बन सकता, क्योंकि वह व्यवहारनय अभेद वस्तु को पर्याय रूप से या संयोग रूप से खंडित या भेदरूप बताता है।** इसलिये ये पर्यायें या संयोग अनित्य तथा अशरण होने से दृष्टि का लक्ष्य स्थिर नहीं रह सकता और इससे ध्यान भी एकाग्र नहीं हो सकता। **ध्यान एकाग्र न होने से ध्यान सतत अपना ध्येय बदलता रहेगा और इष्टप्राप्ति असंभव होगी।**

इससे निश्चय और व्यवहार नय दोनों एक ही वस्तु को अन्य-अन्य दृष्टिकोणों से समझने में सहायक ही हैं, वे कतईं विरोधी नहीं हैं। निश्चय नय द्वारा जो वस्तु का स्वरूप ज्ञान में आता है, **उसे व्यवहारनय से ही समझना होता है, इसलिये व्यवहारनय महान उपकारी है, यह ऊपर बतलाया गया ही है।** पर एक बात अवश्य है कि वस्तु के ही निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद हो या निश्चय वस्तु भिन्न हो तथा व्यवहार वस्तु भिन्न हो, ऐसी कोई व्यवस्था जिनागम में है ही नहीं। **एक ही वस्तु का वर्णन दो नयों द्वारा दो प्रकार से किया जाता है, वह केवल समझने हेतु ही, वस्तु में भेद करने हेतु बिल्कुल नहीं।**

यहाँ एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जायेगा। जैसे घर में एक घड़ा है, जिसमें घी रखा है। सेवक से मालिक कहता है - **घी लाओ।** सेवक ढूंढता है घी को, मगर उसे घी कहीं दिखता नहीं। उसे घड़े दिखते हैं। वह मालिक से कहता है कि **मालिक! घी तो कहीं दिखता ही नहीं है।** तब मालिक कहता है कि **जिस घड़े में घी रखा है, वह घी का घड़ा लाओ।** फिर वह घड़ों को सूक्ष्मता से देखता है और वह फिर वापिस आ कर कहता है कि **घड़े तो सब मिट्टी के ही है, एक मिट्टी के घड़े में घी है, पर कोई घड़ा घी का नहीं है।** तब मालिक बोले कि **अरे मूर्ख! घड़े निश्चय से तो मिट्टी के ही होते हैं, पर व्यवहार नय से जिस घड़े में जो वस्तु रखी हो, उस संयोग के अनुसार उस मिट्टी के घड़े को ही घी का या नमक का या तेल का या किसी अन्य वस्तु का कहा जाता है।** तब वह सेवक यथार्थ समझता है और घी जिसमे भरा है, ऐसा घड़ा उठा कर लाता है।

इस पर से हम यह देख पायेंगे कि घड़ा तो एक मिट्टी का ही है पर जब उस में नमक हो तो वह नमक का कहलायेगा और जब घी हो तो घी का कहलायेगा। पर वह त्रिकाल में कभी भी घी का या नमक का हो नहीं सकेगा। **यहाँ सेवक को घी का घडा समझाने हेतु मालिक ने निश्चय**

नय तथा व्यवहारनय ऐसे दोनों नयों से वर्णन समझाया। उसने वह शान्तिपूर्वक सुना और समझने पर यथार्थ वस्तु की प्राप्ति उसे हो गई।

इसी तरह क्या आश्रय करने योग्य और क्या न करने योग्य, क्या हेय और क्या उपादेय यह समझने में ये नय कार्यकारी हैं। दोनों नय पुरुष की दोनों आँखों के समान है, जिन से पुरुष दोनों बाजुएँ देख कर चलने योग्य मार्ग का निर्णय कर सकता है, उसी तरह श्रावक के तो क्या, ज्ञानी तपस्वी मुनिराज के भी आगमचक्षु होते हैं। **(आगमचक्खू साहू।)**[२४-अ] आगम का यथार्थ परिशीलन स्वाध्यायपूर्वक करके उसमें विविध जगह जिन जिन अनुयोगों में जिन जिन अपेक्षाओं से कथन आया है, उसे उसी परिप्रेक्ष्य में हमें समझना योग्य है। क्योंकि कहा भी है - **निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।।**[२५] अर्थात् आपके मत में नय यदि अपेक्षासहित हों तो सम्यक् हैं और निरपेक्ष नय मिथ्या हैं।

इसलिये जिस समय निश्चयनय का विषय जो परमपारिणामिक भाव रूप सिद्धसमान शुद्ध चैतन्य विराजमान है, **उसी समय व्यवहारनय के विषय रूप चाहे वह संयोगरहित शुद्ध पर्याय हो या संयोगी अशुद्ध पर्याय हो वह विराजमान है, पहले भी थी तथा आगे भी अनन्तकाल तक रहेगी।** जिस उपयोग में ज्ञान निश्चयनय के विषयरूप त्रिकाली परमपारिणामिकभाव को विषय करेगा, तब यदि उस ही का एकान्त करके व्यवहार नय के विषय की सत्ता को स्वीकार नहीं करेगा, **तो वह नय मिथ्यानय हो जायेगा, यही निश्चयाभास कहलाता है** तथा यदि व्यवहारनय के विषय को ही सर्वथा सत्ता में स्वीकार कर निश्चयनय के विषय का इन्कार किया जायेगा, **तो वह भी मिथ्यानय होनेसे व्यवहाराभास हो जायेगा। वह भी अप्रमाण ज्ञान है, वह प्रमाण नहीं है।**

अतः हमें प्रमाणरूप ज्ञान से (दोनों नयों के विषयों का अस्तित्व स्वीकार करके) ही **ज्ञान में अनुभव** करना होगा। उसमें **परमशुद्धनिश्चय**

---

२४ अ - प्रवचनसार गाथा २३४ २५ - आप्तमीमांसा श्लोक १०८

नय का विषयभूत आत्मा हो **दृष्टि के विषय**रूप से श्रद्धा में ग्रहण होगा। वह त्रिकाल में एकरूप, अकेला, ज्ञान-दर्शन-आनन्दमय, पूर्ण शान्तिमय, पूर्ण सुखमय सिद्धों जैसा अनुभव में आने से तथा वह स्वयं ही सहज होने से आकुलता नहीं होगी, निराकुल, शाश्वत, सहजसुख का अनुभव होगा। पर उस समय व्यवहारनय के विषयभूत अशुद्धपर्याय भी वर्तमान में मौजूद है, उसे गौणरूप से स्वीकार करना होगा, तभी दृष्टि ध्येयरूप में निश्चयनय के विषय का आश्रय करेगी, तब पर्याय की अशुद्धि हटती जायेगी व **प्रमाणज्ञान का जन्म होगा** अन्यथा पर्याय की अशुद्धि के अस्वीकार से अशुद्धि कायम रहेगी तथा संसार बढता जायेगा।

अब मोक्षमार्ग को ही लीजिये, वह है रत्नत्रयस्वरूप। उसी रत्नत्रय पर दोनों नयों को घटायेंगे। चूंकि मोक्ष एकही है इसलिये वह रत्नत्रय भी एक ही है, पर उस का वर्णन दोनों नयों से आगम में स्वीकृत है। उपर्युक्त निकष वहाँ भी उपयुक्त है। जब निश्चयरत्नत्रय का वर्णन चलता है, तब व्यवहाररत्नत्रय का विषय यद्यपि वहाँ उपलब्ध है, फिर भी उस का वर्णन वहाँ गौणरूप में स्वीकार्य रहता है, क्योंकि वस्तु प्रमाण रूप से दोनों रूप परिपूर्ण है।

अब छहढाला में पं. दौलतरामजी मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं -

परद्रव्यनतैं भिन्न आप मे रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप कौ जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।।
आपरूप में लीन रहे थिर सम्यक्चारित सोई।
अब व्यवहार-मोखमग सुनिये, हेतु नियत को होई।।[२६]

अर्थात् परद्रव्यों से भिन्न स्वयं की रुचि यह **सम्यग्दर्शन**, उसी का ज्ञान **सम्यग्ज्ञान** और उसी में लीनता यह **सम्यक्चारित्र यह निश्चय मोक्षमार्ग** है। उसी का हेतु या उस को ही दिखाने वाला या उस का ही प्रतिपादन करने वाला **व्यवहारमोक्षमार्ग वे आगे कहेंगे**। ऐसी प्रतिज्ञा कर व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के वर्णन के लिये उर्वरित तीसरी,

---

२६ - छहढाला अध्याय ३/३

चौथी, पांचवीं तथा छठवीं ढालें लिख दीं। इसपर से यह स्पष्ट होता है कि निश्चयनय से जो रत्नत्रय का स्वरूप एक दोहे में समाया, उसी का स्पष्टीकरण पूर्णतः चारों ढालों में उन्हें व्यवहारनय से करना पडा, क्योंकि निश्चयनय स्वाश्रित होता है तथा व्यवहार नय पराश्रित होता है। **स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः।**

वहीं व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप समझाते हुए कहा है कि **सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन है। उनकी दृढ प्रतीति हृदय में धारण करो।**[२७] इनका स्वरूप तीसरी ढाल में बताया है। चौथी ढाल में व्यवहार सम्यग्ज्ञान का वर्णन तथा व्यवहार सम्यक्चारित्र का वर्णन चौथी, पाचवीं तथा छठवीं ढालों में किया हे। इसतरह यह मोक्षमार्ग एके ही है। उसका वर्णन दो प्रकार से किया है।

आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिये।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो ववहारो।।[२८]

अर्थात् आत्मा का हित जो सुख है वह मोक्ष में है और वह आकुलतारहित है। उसका मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शिवमय है। उसका विचार दो प्रकार से किया जाता है। पहला जो निश्चय है, वह सत्यार्थरूप है व दूसरा जो व्यवहार है, वह उसका कारण है, अर्थात् वह सत्यार्थ नहीं है, वह असत्यार्थ रूप है अर्थात् जो व्यवहार है, वह निश्चय का प्रतिपादक होने से उसे दर्शानेवाला है। इसलिये वह भी उसका उपकारी है तथा उसका सहकारी कारण है। **इसलिये यह सिद्ध हुआ कि निश्चय नय का विषय जो निश्चय सम्यग्दर्शन है वह ही मोक्ष का मूल और सही अन्तरंग कारण मोक्षमार्गस्वरूप है, वह दिखता नहीं है और सात तत्त्वादि के श्रद्धानरूप या देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धानरूप जो**

---

२७. छहढाला ढाल ३ दोहा ३ २८. छहढाला ढाल ३ दोहा १

व्यवहारसम्यग्दर्शन है, वह दिखता है, वह प्रामाणिकता से निश्चय सम्यग्दर्शन का साथ देता है, इसलिये उसे निश्चय का कारण, उपचार, व्यवहार या प्रतिपादक कहा जाता है।

इस निश्चयनय के आगमदृष्टि से चार भेद है। १. परमशुद्धनिश्चयनय २. पूर्णशुद्धनिश्चयनय ३. एकदेशशुद्धनिश्चयनय और ४. अशुद्धनिश्चयनय।

१. **परमशुद्धनिश्चयनय** - इसका विषय पर्यायरूप नहीं है। वह ध्रुवरूप है, त्रिकाली शाश्वत शुद्ध रहनेवाला परमपारिणामिकभाव है, जो द्रव्यरूप है, अखंड है, अभेद है, अकर्ता है, दृष्टि का विषय है। **उसीका ग्रहण अध्यात्म में शुद्धनय शब्द द्वारा कराया जाता है। अभेदवृत्ति इस नय का विषय है।**

२. **पूर्णशुद्धनिश्चयनय** - यह पूर्णशुद्धपर्याय को ग्रहण करता है। वह जीव के स्वतत्त्वरूप पांचों भावों में से (देखिये तत्त्वार्थसूत्र अ. २ सू.१) यह नय **क्षायिकभाव** को ग्रहण करता है। यह भाव पर्यायरूप होने से अनित्य व अशरण है। यह भाव वर्तमान में अल्पज्ञ भव्य ध्याता जीव के पास नहीं है। यह न अनादि है, न अभेद है, न अखंड है। यह भाव सादि अर्थात् उत्पन्न होता है, इसलिये पर्यायार्थिक नय का विषय है। **इसीलिये वह अध्यात्मदृष्टि से दृष्टि के विषय में (अभिप्राय) में शामिल नहीं है। वह स्वाश्रित होने से पूर्णशुद्धनिश्चयनय हो कर भी परमशुद्ध-निश्चयनयग्राही द्रव्यदृष्टि उसे इसी कारण से हेयरूप से स्वीकार करती है किन्तु पर्यायदृष्टि से ज्ञान हेतु तो इस की अनिवार्य स्वीकार्यता या उपादेयता है ही।**

३. **एकदेश-शुद्ध निश्चय नय** - इस का विषय एकदेश अर्थात् आंशिक शुद्ध है अर्थात् **यह एकदेश अशुद्ध भी है।** इस लिये इसे **एकदेश अशुद्ध निश्चयनय भी** कह सकते है किन्तु उसे **एकदेश-अशुद्ध** इसलिये नहीं कहते क्योंकि यहाँ विषय मोक्षमार्ग का है और मोक्षमार्ग की अपेक्षा से यहाँ शुद्धता को ही ग्रहण किया है। यह स्वाश्रित होने से निश्चयनय में

गर्भित है, पर आंशिकशुद्ध पर्यायरूप है, यह पूर्णद्रव्य को अंश रूप से ग्रहण करता है, क्योंकि इसका विषय सादि-सान्त है। **इसका विषय जिनागम में औपशमिक भाव तथा क्षायोपशमिक भाव है,** जो नश्वर हैं। अतः उसका विषय भी द्रव्यदृष्टि से अध्यात्म में **हेय** ही है।

४. अशुद्ध (पूर्णअशुद्ध) निश्चय नय - यह भी स्वाश्रित होने से निश्चय नय ही है। यह आत्मा के विभाव परिणामों को अर्थात् अशुद्ध आत्मा को पर्यायरूप से बतानेवाला नय है। **यह सादि-सान्त होने से जानने हेतु उपादेय हो कर भी उस का विषय दृष्टि के विषय (अभिप्राय) में नहीं आता, अतः वह हेय ही है।**

इस तरह आगम में यद्यपि चारों निश्चयनय स्वाश्रित हैं, ज्ञेय हैं, पर इन में से **अकेला परमशुद्धनिश्चयनय ही त्रिकाली परमपारिणामिकभावरूप जीवत्व को अर्थात् कारणपरमात्मस्वरूप ज्ञायकशुद्ध निजात्मा को दिखाता है, इसलिये वह ही उपादेय है,** शेष औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भाव तथा पारिणामिक-भावों में से भव्यत्व, अभव्यत्व **आदि सभी अन्य स्व-भाव परमशुद्धनिश्चयनय के सामने हतबल हैं।** वे पर्याय होने से अध्यात्म में दृष्टि या अभिप्राय का विषय नहीं हो सकते। (नियमसार गाथा ४१ टीका के आधार से) इतना नयों का वर्णन प्रसंगवश करने पर परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि के विषय में ग्राह्यता किस प्रकार है, यह ध्यान में आया होगा। **वास्तव में परमशुद्धनिश्चयनय के सामने शेष तीनों निश्चय नयों को अध्यात्म में व्यवहारनय के रूप में ही गिना गया है।**

अब मूल विषय रत्नत्रय में निश्चयनय और व्यवहारनय का क्या स्थान है, इसे देखेंगे - यह एक गलत धारणा सामान्यों के हृदय मे जमा दी गयी है, कि **व्यवहार रत्नत्रय चौथे से छठवें गुणस्थानतक होता है तथा निश्चय रत्नत्रय सातवें में तथा उसके आगे के गुणस्थानों में होता है।** ४-५-६ गुणस्थानों में शुभोपयोग या अशुभोपयोग तो होता है पर

शुद्धोपयोग नहीं होता, ऐसी **शुद्धोपयोग** पुस्तककर्ता की मान्यता है।[२९], इसके आधारभूत उन्होंने बृहद् द्रव्यसंग्रह की अध्याय २ की उत्थानिका का यह उद्धरण दिया है -

निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयस्वरूपं चेति।

अर्थात् जो निश्चयरत्नत्रयस्वरूप है, उसका साधक व्यवहारत्नत्रयस्वरूप है। वह चौथे से छठवें गुणस्थानों में होता है, इसलिये उसे शुद्धोपयोगसाधक शुभोपयोग कहा जाता है। इस शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग से (छूट कर) सातवें गुणस्थान से ही शुद्धोपयोग होता है, ऐसा तर्क वहाँ पुष्ट करने की कोशीश आचार्य विरागसागरजी ने भरसक की है परन्तु विडम्बना यह है कि उन का यह भ्रामक तर्क उन्ही के उक्त उद्धरण को पूर्णतया अच्छी तरह पढ़ने पर पूर्णरूप से निरस्त हो जाता है। उस मूल उद्धरण को यहाँ अर्थसहित दे रहा हूं -

उपादेयतत्त्वं अक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षः, मोक्षस्य कारणं संवर-निर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुचरण-लक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं, तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयस्वरूपं चेति।[२९] अर्थात् उपादेय तत्त्व वह अक्षय-अनन्तसुख है, (जो त्रिकाली कारणपरमात्मा रूप में प्रत्येक आत्मा में शक्तिरूप से विद्यमान है।) उस का कारण (प्रगटतास्वरूप) मोक्ष है। (यह कार्यपरमात्मस्वरूप सिद्धपद है।) मोक्ष का कारण संवर तथा निर्जरा यह दो हैं। (यह मोक्षमार्गस्वरूप है।) उस का कारण विशुद्ध-ज्ञान-दर्शनस्वभाव है (यही कारणपरमात्मा है।) उसी निजात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् अनुचरण (रत्नत्रय) जिस का लक्षण है, वही निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप है। इसी निश्चयरत्नत्रय का साधक यह व्यवहार-रत्नत्रय है। ऐसे उद्धरण और भी अनेक हैं।

अब जैसे घी को चाहने वाला घी के घड़े की ओर निर्देश कर घी लाने

---

२९ - शुद्धोपयोग (विरागसागरजी रचित) पृष्ठ ३६

को कहता है तथा सेवक भी घी से भरा घड़ा लाता है। पर उस घी के घड़े को लाये जाने पर भी मालिक घी का ही सेवन करता है और घडे को त्याग देता है, उसी प्रकार जब तक निश्चयस्वरूप घी अन्दर विराजमान है, तब तक व्यवहारस्वरूप घड़ा उस घी-स्वरूप निश्चय को सुरक्षित रखता है, उसका लेबिल (ब्राण्ड नाम) अपने वक्ष पर चिपका रखता है। इसलिये वह घड़ा मिट्टी का होने पर भी उसे घी के घड़े के नाम से पूज्यता आती है, सम्मान मिलता है, उसीतरह जब तक देव-शास्त्र-गुरु की तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा है लक्षण जिसका ऐसा वह व्यवहारसम्यग्दर्शन, उन्हींका ज्ञान व्यवहारसम्यग्ज्ञान तथा उन्हींकी भक्ति, उनके अनुचरण रूप व्रत-तपादि के रूप से व्यवहारचारित्र रूप यह व्यवहाररत्नत्रय निजशुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणलक्षणरूप निश्चयरत्नत्रय को अपने साथ सुरक्षित रखता है, तभी तक उसे मोक्षमार्ग में **निश्चयरत्नत्रय के साधक** रूप से बहुमान मिलता है, उसे भी पूज्यता आती है। **पर अन्दर में घी-स्वरूप निश्चयरत्नत्रय न हो, तब उस व्यवहार-रत्नत्रय को खोखला, शून्य तथा आभासरूप कहा जाता है। यही आगम क्रा व्यवहाराभास है और वह तो मिथ्यात्व ही है या वह मिथ्यात्वपोषक होता है।** इस सम्बंध में समयसार कलश १३७ में यह कहा है -

जो परद्रव्यों में राग-द्वेष से सहित होते हैं तथा अपने को सम्यग्दृष्टि मानते हुए गर्व से उद्धत होकर महाव्रतादि का आचरण करते हैं, वचन-आहार-विहार की क्रिया में उत्कृष्टरूप से समिति में तत्पर भी होते हैं, तो भी वे पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं। क्योंकि वे आत्मा तथा अनात्मा के भेदज्ञान से शून्य हैं -

सम्यग्दृष्टिः स्वयमहमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।।[३०]

३० - समयसार कलश १३७

अर्थात् मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, कभी मुझे बंध नहीं होगा, ऐसा जो मानते हैं और गर्व से मुंह फुलाकर कुछ भी आचरण करते है, फिर भी यद्यपि वे समिति में तत्पर हो, तो भी वे अभी भी पापी हैं क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान (अनुभव) से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित अर्थात् मिथ्यात्वी ही है।

यही उनका व्यवहाराभास है। उस से स्वर्गसुख पाकर तथा उसे भोगकर वह स्वर्ग से च्युत होंगे, स्वर्ग का खिलौना छूटकर एकेन्द्रियों में बाद में उन्हें रुलना पडेगा। छहढाला में कहा है -

तहँते चय थावरतन धरैं, यों परिवर्तन पूरे करैं।[३१]

इस से यह सिद्ध होता है कि निश्चयनय और व्यवहारनय यह दोनों जाननेवाले की दो आँखें हैं, दो दृष्टियाँ हैं, जो दोनों पूरी वस्तु को जानने, देखने, परखने में सहायक होती हैं। उनमें से एक को भी फोड़ना, स्वयं को अपंग या अंग-हीन बनाने जैसा है। पंचास्तिकाय के अन्त में उपसंहार रूप से आचार्यश्री अमृतचंद्रजी अपनी समयव्याख्या नामक टीका पूर्ण करते हुए कहते हैं कि इस **परमेश्वरकथित शास्त्र का तात्पर्य परमार्थ से वीतरागता ही है। यह वीतरागता व्यवहार-निश्चय दोनों के अविरोध से ही अपने सम्यक् इष्टसिद्धि के लिये सुसंवादपूर्वक अनुसरण या अनुगमन करने से ही प्राप्त होती है। इसके बिना कोई भी अन्य मार्ग नहीं है। अर्थात् दोनों के विरोध से समीचीन इष्टसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।**[३२]

इस व्यवहारनय के आलम्बन से भिन्न साध्य-साधनभाव का अवलम्बन तेते हुए सविकल्प भूमिका में (प्रायोग्यलब्धि) यह प्राथमिक साधक सुख पूर्वक ही (करणलब्धि द्वारा) साध्यरूप तीर्थ को प्राप्त होते हैं। वहाँ पर वे **यही वास्तविक श्रद्धेय है और यह अश्रद्धेय है, यही श्रद्धा करनेवाला है, यह ही ज्ञेय है और यह ही ज्ञाता है, यह ही ज्ञान है, यही आचरणीय है, यही आचरण करनेवाला है, यह आचरण है, इसतरह**

३१ - छहढाला ढाल १ गाथा १७

३२ - पंचास्तिकाय गाथा १७२

यह कर्तव्य, यह अकर्तव्य, यह कर्ता, यह कर्म, ऐसे विभाग (भेद) के अवलोकन से उल्हसित हो कर जिन का उत्साह चरमता को प्राप्त हो गया है, (प्रायोग्यलब्धि) वह धीरे-धीरे मोहमल्ल को उन्मूल कर, पछाड कर **(करणलब्धि द्वारा)** सम्यग्दृष्टि होता है (निर्विकल्प सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाता है।) फिर भी कुछ अज्ञानवश मद तथा प्रमादयुक्त होने से (प्रमादवश होकर) वह आत्माधिकार में शिथिल होता है और फिर अपने न्याय्य मार्ग में प्रवृत्ति करने हेतु प्रचण्ड दण्डनीति का प्रयोग करता है, पुनः पुनः दोषों का प्रायश्चित्त करता है, निजस्वभाव में सतत उद्यमवन्त रहता है तथा उसी भिन्न विषय के श्रद्धान-ज्ञान-चारित्रों द्वारा स्वयं पर संस्कार डालते हुए धोबी जिसतरह पत्थर पर निर्मल जल से मलिन वस्त्र को धो कर स्वच्छ करता है, **उस तरह किंचित् किंचित् विशुद्धि प्राप्त करता जाता है** और उसी समय निश्चयनय से भिन्न साध्य-साधनभाव का अभाव होने से दर्शन-ज्ञान-चारित्रों की एकता रूप में सभी क्रियाकांड को जिस में स्थान नहीं है, ऐसे **परमचैतन्ययुक्त भरपूर आनन्द से परिपूर्ण निज भगवान आत्मा में विश्रान्ति लेता जाता है।** यह विश्रान्ति (वस्त्रों की शुद्धता में वृद्धि जैसी) क्रम से बढने से जो समरसीभाव को प्राप्त हो जाते है, वे परम वीतराग भाव को जानकर साक्षात् मोक्ष का अनुभव (इस शुद्धोपयोग में अर्थात् अभेद मोक्षमार्ग में) करते जाते है।[३३] यही गुणस्थानों की परिपाटी है।

इस तरह निश्चय नय और व्यवहार नय का सुमेल बताने के बाद आचार्य अमृतचंद्रजी अकेले व्यवहारावलम्बी व अकेले निश्चयावलम्बी के दोष गिनते है जैसै-

परन्तु जो **केवल व्यवहारनय का आलम्बन लेते हैं, वे** भिन्न साधन-साध्य भाव (मूलगुण-उत्तरगुणादि) का भेद रूप अवलोकन कर सतत खेद को प्राप्त होते हैं, (१) बार-बार **धर्मादिकों के श्रद्धानरूप अध्यवसानों में मन अटकने से** तथा (२) बहुत से शास्त्रों के संस्कारों से जो विचित्र

---

३३ - पंचास्तिकाय गाथा १७२ समयटीका शास्त्र तात्पर्य

नानाविध विकल्पों का जाल उमड़ता है, **उससे उनकी चैतन्यवृत्तियाँ मलिन हो गयी होने से**, (३) मुनियों के (तथा श्रावकों के भी) समस्त आचारों के समुदायरूप तप में तथा प्रवृत्तिरूप कर्मकांडों में जो चित्त को रमाते जाते है, उससे वे कदाचित् कुछ रुचि करते हैं, कदाचित् कुछ विकल्प करते हैं, कदाचित् कुछ आचरण करते हैं, **दर्शनाचार के लिये** कदाचित् प्रशमयुक्त होते हैं, क्वचित् संसार से भीतिरूप संवेग धारण करते हैं, क्वचित् अनुकम्पा धारण करते हैं, क्वचित् तत्त्वों में आस्तिक्यबुद्धि का दर्शन कराते हैं, **इसतरह दर्शनाचार के शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि इन के उत्कर्ष को रोकने हेतु नित्य कटिबद्ध रहते हैं तथा वे उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना की भावना कर बारम्बार उत्साह बढाते हैं। ज्ञानाचार हेतु** स्वाध्याय काल को देखते है, बहुधा विनयवन्त होते जाते हैं, कठिन उपधान की साधना करते हैं, आगम को अतिशय बहुमान देते हैं, निन्हव को संपूर्ण दूर करते हैं, अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धि में **निरन्तर सावधान रहते हैं। चारित्राचार हेतु** हिंसादि पांच पापों से संपूर्ण विरत हो कर पंचमहाव्रतों में एकनिष्ठ होते हैं, सम्यक् योगनिग्रह जिन का लक्षण है, ऐसी गुप्तियों में अत्यन्त उद्यमशील रहते हैं व ईर्या, भाषा आदि पांच समितियों में अत्यन्त प्रयत्नशील रहते हैं। **तपाचार हेतु** अनशनादि छह प्रकार के बाह्यतपों में अतिशय उत्साहित होते हैं और प्रायश्चित्तादि छह अन्तरंग तपों से अपने अन्तःकरण को अंकुश लगाते हैं। इसी तरह **वीर्याचार हेतु** कर्मकाण्ड में सर्वशक्ति की बाजी लगाकर मशगुल या मग्न हो जाते है।

इसतरह ये **केवल (व्यवहारावलंबी साधक) कर्मचेतनाप्रधान हो कर (करने करने की भावना से एकदम भरे हुए हो कर)** उन्होंने अशुभ कर्मप्रवृत्तियों को तो दूर से ही रोक लगा दी है और शुभ कर्मप्रवृत्तियों को यथावत् स्वीकार कर लिया है, इसीलिये वे (इन कर्मकाण्डों में उलझे रहने से) संपूर्ण क्रियाकाण्ड के आडम्बर से पार जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की

ऐक्य-परिणति-रूप ज्ञानचेतना है, उसकी सम्भावना वहाँ पर शून्य रहती है। **वे (वहाँ पर) अतिशय पुण्य के भार से भरी हुई है चित्तवृत्ति जिन की ऐसे होकर स्वर्गलोकादि के क्लेशों की प्राप्ति की परम्परा प्राप्त कर संसारसागर में प्रदीर्घ (अनन्त भी) कालतक परिभ्रमण करते हैं।** कहा भी है कि - **चरणानुयोग व करणानुयोग की प्रधानता से जो स्वसमय परसमयरूप परमार्थ में व्यापार नहीं करते, वे चरणानुयोग व करणानुयोग के सारभूत निश्चयशुद्ध को नहीं जानते।**

इसतरह **केवल व्यवहारावलम्बी** की भूमिका बता कर अब **केवल निश्चयावलम्बी की भूमिका किसतरह पापमूलक होती है**, यह बताते हैं - यहाँ **जो केवलनिश्चयावलम्बी हैं**, वे संपूर्ण क्रियाकाण्ड के आडम्बर से अपनी बुद्धि को हटाकर अर्धोन्मीलित (आधी ढंकी हुई) आंखों से कुछ भी अपनी बुद्धि से देखते हुए **सुख-चैन से रहते हैं**, वे यथार्थतः भिन्न साध्य-साधनभाव का तिरस्कार करते हैं, पर अभिन्न साध्य-साधनभाव को प्राप्त नहीं होते। इसतरह वे मध्य में ही झूलते हुए (शुभ से हटकर और शुद्ध को न प्राप्त कर मध्य में अशुभ में ही रमकर) प्रमत्त करनेवाली मदिरा के पान से मत्त होते हैं, **गहरी नींद में सोये जैसे होते हैं**, बहुत घी-शक्कर की खीर खाकर सुस्त हो गये जैसे हैं, अत्यधिक बुद्धिभ्रष्ट हो जाने से वे अज्ञानी बन गये जैसे हैं, जिनका विशिष्ट चैतन्य कुण्ठित हो गया है, ऐसे वनस्पति जैसे हो गये जैसे हैं, पुण्यबंध के भय से मुनियों के योग्य कर्मचेतना का अवलम्बन करने से डरते हैं तथा कर्मरहित ज्ञानचेतना में जिन्हें विश्रान्ति प्राप्त नहीं हुई, ऐसे वे होकर वे व्यक्त तथा अव्यक्त प्रमादों के आधीन हो गये हैं तथा **परमकर्मफलचेतनाप्रधान वृत्तिवाले वनस्पतियों जैसे होकर केवल पापबंध ही करते हैं।**

इसतरह **निश्चय का आलम्बन लेनेवाले पर निश्चय से निश्चय को न जाननेवाले वे चरणानुयोग व करणानुयोग के सार को नष्ट करते हैं, क्योंकि वे बाह्याचरण में आलसी होते हैं।**

इस तरह **केवल निश्चयावलम्बी की शून्यता या विफलता बता कर** अब आगे आचार्यश्री अमृतचंद्रजी कहते हैं कि - जो मोक्ष हेतु सतत उद्यमवन्त भगवान महाभाग हैं, **वे व्यवहार तथा निश्चयनयों में से किसी एक अकेले का अवलम्बन न लेकर मध्यस्थ रहते हैं**, शुद्धचैतन्यरूप जो आत्मतत्त्व है, उसमें विश्रान्ति लेने हेतु उन्मुख हुए हैं, प्रमाद के उदयानुसार उत्पन्न होनेवाली वृत्ति का निराकरण करनेवाली **क्रियाकाण्ड परिणति को अर्थात् शुभोपयोगपरिणति को भी बहुमान न देकर अत्यन्त उदासीन होते हैं व यथाशक्ति आत्मा से आत्मा में संचेतन या संवेदन (शुद्धोपयोग) करते हुए नित्य सावधान रहते हैं, वे ही वास्तवरूप में अपने स्वतत्त्व में विश्रान्ति के अनुसार क्रम से कर्मों से संन्यास लेते हुए अत्यन्त निष्प्रमादी होते हैं**, मानो वे वनस्पति तुल्य हो गये हो। उससमय वे दूर से ही कर्मफल की अनुभूति को निरस्त कर देते हैं, कर्म करने की अनुभूति में उत्सुक नहीं होते व **केवल ज्ञानमय अनुभूति से प्राप्त तात्त्विक आनन्द से अतिशय भरे रहते हुए** संसारसागर को उत्तीर्ण करते हैं व शब्दब्रम्हरूप जो जिनवाणी उसके फलभूत मोक्ष के शाश्वत भोक्ता बनते हैं।[३४]

इसपर से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि जो मोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान से जघन्य अन्तरात्मा के रूप में प्रारम्भ होता है तथा जिसमें करणलब्धिरूप पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही जो ज्ञान और चारित्र उस समय होते है, वह सम्यक् रूप में परिवर्तित हो जाते है।

चूंकि **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है**,[३५] और चूंकि **चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा है**,[३६] अतः वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनों की एकता सहित ही है। ऊपर में पंचास्तिकाय का जो उद्धरण दिया है, उस से यह बात सिद्ध हो ही जाती है कि मोक्षमार्ग न केवल व्यवहारनय से जानने में आने वाले व्यावहारिक-

३४ - पंचास्तिकाय १७२ समयटीका शास्त्रतात्पर्य ३५ - तत्वार्थसूत्र अ.१ सू.१
३६ - छहढाला ढाल ३ श्लोक ५

क्रियाकांडरूप व्यवहार मोक्षमार्ग से सत्ता में रह सकता है और न केवल निश्चयनय के द्वारा व्यावहारिक क्रियाकाण्ड से भयभीत होकर शुभाचरण से हटकर अशुभ में रमने से भी वह सत्ता में रह सकता है।

चौथे गुणस्थान में भी **आगमभाषा से अर्थात् व्यवहारनय से** दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का तथा चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबंधी रूप चार प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होता है। उसीको **अध्यात्मभाषा से शुद्धोपयोग** आदि कहते हैं। **(तच्च परिणमनं आगमभाषया औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकभावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।।**[३७] वह शुद्धोपयोग वहाँ होता ही है। जब वह होता है, उसीसमय चारित्रमोहनीय के चार प्रकृतियों के विसंयोजनारूप अभाव से चारित्र गुण में उतने अंशों में स्वरूप में आचरण प्रारम्भ हुआ है। उसे ही **स्वरूपाचरण चारित्र** के नाम से पहचाना जाता है, जो असंयम सहित होता है। इसलिये चौथे गुणस्थान में भी **चारित्र होता है। चारित्र के बिना चौथे गुणस्थानवर्ती मोक्षमार्गी नहीं रह सकता और न कहला ही जा सकता है।**

५. क्या केवल संयम ही चारित्र है? - केवल संयम ही चारित्र नहीं है, इस निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले चारित्र क्या है, इसकी विवेचना आवश्यक है। प्रवचनसार में चारित्र की निम्न व्याख्यायें दी है -

(१) चारित्र ही धर्म है, वही साम्य या समता भाव है और वह समता भाव निश्चयनय से मोह व क्षोभ याने राग-द्वेष रहित आत्मा का परिणाम है।

चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।)[३८]

(२) **स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः**। अर्थात् स्वरूप में चरना, चलना, रमना ही चारित्र है।[३९]

---

३७ - समयसार गाथा ३२० तात्पर्य वृत्ति
३८ - प्रवचनसार गाथा ७
३९ - प्रवचनसार गाथा ७ तत्त्वप्रदीपिका टीका

(३) सर्व पापयुक्त मन, वचन, काय के योगों के त्यागरूप या पूर्ण कषायरहित निर्मल व परपदार्थों से विरक्तिरूप जो चारित्र है, वह आत्मा का स्वरूप है।[४०]

(४) चरति, चर्यते अनेन चरणमात्रं वा चारित्रं। अर्थात् जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा जो आचरण करना, वही चारित्र है।[४१]

यह आचरण करना तीन प्रकार से होता है (१) अशुभ, (२) शुभ व (३) शुद्ध। इन तीनों रूपों से परिणमनेवाला आत्मा भी क्रमशः अशुभ, शुभ या शुद्ध होता है। जब वह अशुभ या शुभरूप से परिणत होता है, तब जपापुष्प के संयोग से या तमालपुष्प के संयोग से परिणमे हुए स्फटिक की भान्ति आत्मा अशुभ या शुभराग द्वारा अशुभ या शुभ चारित्रवाला होता है, तथा जब अराग अर्थात् वीतरागभाव से परिणत होता है, तब केवल स्फटिक जैसा शुद्ध होता है।[४२]

इसी प्रवचनसार गाथा क्र. ९ की टीका में आचार्य जयसेन कहते हैं - **जीव स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध एकस्वभावी होने पर भी** व्यवहार से गृहस्थ की अपेक्षा से यथासंभव सराग-सम्यग्दर्शनपूर्वक दान-पूजा आदि शुभ अनुष्ठानों से और तपोधन की अपेक्षा से मूल व उत्तर गुणों के अनुष्ठानों से शुभ होता है। मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योग के प्रपंचरूप अशुभ उपयोग से अशुभ होता है और निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोग से शुद्ध होता है।[४३]

इस से यह सिद्ध होता है कि गृहस्थ भी निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोग से शुद्ध हो सकता है, क्योंकि सरागसम्यग्दर्शनपूर्वक गृहस्थ तथा मुनि दोनों व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभ अनुष्ठानों में आते हैं, पर उन दोनों के लिये निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोग यही शर्त रखी है।

---

४० - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३९
४१ - सर्वार्थसिद्धि १/१/६/२
४२ - प्रवचनसार गाथा ९ तत्त्वप्रदीपिका टीका
४३ - प्रवचनसार गाथा ७३

शुभोपयोग की व्याख्यायें आगम में इसप्रकार दी गई है -

१. देव-गुरुओं की पूजा, दान, सुशील, उपवासादि में रत आत्मा शुभोपयोगी है।[४४] २. जो जिनेन्द्र को जानता है, सिद्धों को देखता है, वैसे ही अनगार (मुनि) का अनुकरण करता है तथा जीवों में अनुकम्पा धारण करता है, वह उसका शुभोपयोग है।[४५] ३. प्रतिक्रमणादि आठ प्रकार का शुभोपयोग है।[४६] ४. दान, पूजा, व्रत, शीलादिरूप शुभराग, जो चित्त की प्रसन्नतास्वरूप है, वह परिणाम शुभ (शुभोपयोग) कहलाता है।[४७] ५. पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्तिरूप भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग जिसका लक्षण है, उसे सरागचारित्र के नाम से जाना जाता है।[४८]

इत्यादि अनेक व्याख्याओं में झांकने से यह स्पष्ट है कि शुभोपयोग पराश्रित है और वह पराश्रितता व्यवहारनय से चौथे या पांचवें गुणस्थान में प्रमुखता से होती ही है। उसे ही आगम में सरागचारित्र, शुभोपयोग, अपहृतसंयम आदि नामों से कहा गया है। सरागचारित्र अर्थात् रागसहित चारित्र। इसीका अर्थ यह है कि राग, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, वह वास्तव में या निश्चय से चारित्र ही नहीं है। इस शुभरागसहित चारित्र से सहित उपयोग ही शुभ उपयोग है। **यह मुख्यतया बिना सम्यग्दर्शन के नहीं होता। सम्यक्त्वपूर्वक जब शुभोपयोग होता है, तब मुख्यरूप से पुण्य का बंध होता है और परम्परा से निर्वाण होता है। यदि सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग नहीं होता, तो वहाँ केवल पुण्य का ही बंध होता है।**[४९] इसका अर्थ यही है कि **मिथ्यात्वपूर्वक भी शुभोपयोग होता है, परन्तु वह केवल पापानुबंधी पुण्य का ही बंधक होता है और इसीलिये उसे पापानुबंधी पुण्य कहते है,** जो नव ग्रैवेयकों तक ले जा कर फिर अनन्त संसार में पटकने से नहीं चूकता। इस पुण्य से मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिंगी मुनि होकर महाव्रतों का निरतिचार पालन कर तथा अनेक घोर परीषहों को सहते हुए नव ग्रैवेयकों तक जाकर फिर चारों

४४ - प्रवचनसार गा. ७३ ४५ - प्रवचनसार गा १५७/१६९. ४६ - समयसार गा.७ तात्पर्यवृत्ति
४७ - पंचास्तिकाय १३१ ता.वृ. ४८- बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ४५ ४९ - प्रवचनसार.ता.वृ. २१५

गतियों में अनंत परिभ्रमण करते हैं व अनंत संसारी बने रहते हैं। छहढाला में कहा है- **मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो। पै निज आतमज्ञान विना सुख लेश न पायौ।।**[५०] और भी कहा है - **तहँतैं चय थावर-तन धरैं, यों परिवर्तन पूरे करैं।।**[५१]

इसतरह यह सरागसंयम अर्थात् शुभोपयोग गृहस्थ की अपेक्षा से सराग सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजा आदि शुभ अनुष्ठानों से होता है और मुनियों, तपोधनों की अपेक्षा से मूलगुण तथा उत्तरगुणों आदि के शुभ अनुष्ठान से होता है। उससे परिणत होता हुआ उपयोग शुभ-उपयोग जानना चाहिये। इस का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जीव के जो असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम सिद्धान्त में या जिनागम में मध्यमप्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान से कहे गये हैं, वे मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों के रूप में ही कहे गये हैं। इस प्राभृतशास्त्र में वे ही गुणस्थान संक्षेप से अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोगरूप से (तीन प्रकारों में) कहे (विभाजित किये गये) हैं। यह विभाजन किस प्रकार है? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से अशुभोपयोग होता है। बाद में असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से शुभोपयोग होता है और उसके बाद अप्रमत्तसंयत से लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में तरतमता से (तारतम्य से) शुद्धोपयोग होता है तथा सयोगकेवलि, अयोगकेवलि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल होता है, ऐसा भावार्थ है। **(मिथ्यात्व.....भावार्थः)**[५२]

इसीतरह बृहद् द्रव्यसंग्रह में निम्न उद्धरण दिया है - मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र इन तीन गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्द होता हुआ अशुभोपयोग होता है, उसके बाद असंयतसम्यग्दृष्टि, श्रावक व प्रमत्तसंयतों में परंपरा से शुद्धोपयोगसाधक ऊपर-ऊपर तरतमता से अर्थात् बढता हुआ शुभोपयोग होता है और बाद में अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय

५० - छहढाला ढाल ४ गाथा ५ ५१ - छहढाला ढाल १ गाथा १७
५२ - प्रवचनसार गाथा ९ तात्पर्यवृत्ति

(बारहवें) गुणस्थान तक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेशशुद्धनयस्वरूप शुद्धोपयोग होता है। **(अथ संवरविषयनयविभागः कथ्यते। तथाहि - मिथ्यादृष्टि ..... .विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूप-शुद्धोपयोगो वर्तते।)**[५३]

अब क्या संयम ही चारित्र है, इस विषय में उपर्युक्त दोनों उद्धरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उससे यह सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्वगुणस्थान में जो असंयम कहा है, वहाँ भी व्रतादि रूप शुभराग के साथ रहा हुआ शुभोपयोग है और वही शुभोपयोग वहाँ से साधक को नव ग्रैवेयक तक पहुंचाता है। इसलिये वहाँ जो चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र ही है, किन्तु वह संयमरूप नहीं है, वह असंयम रूप ही है। **चूंकि संयम तो संवर का तथा निर्जरा का कारण है तथा वह संयम धर्म के दस लक्षणों में धर्म का एक लक्षण है।**[५४] इस संयम-धर्म का बाह्य स्वरूप छह प्रकार प्राणीसंयम तथा छह प्रकार का इंद्रियसंयम अथवा श्रावक या मुनि के मूलगुण या उत्तरगुण या व्रतादिक है। **यह बाह्यसंयम शुभरागरूप है और उस के साथ रहनेवाला अर्थात् उसे विषय करनेवाला उपयोग शुभोपयोग है।** इस शुभरागयुक्त संयम से बंध ही होता है, फिर भी वह शुद्धोपयोग का साधक होने से अर्थात् शुद्धोपयोग में ले जाने में सहायक हो सकता होने से उसे परम्परा से निर्वाण का कारण कहा है।

वह शुभोपयोग चौथे तथा पांचवें गुणस्थानों में बहुलता से होता है, पर यह बहुलता या मुख्यता इन गुणस्थानों में शुद्धोपयोग के अभाव को सिद्ध नहीं करती। इस हेतु निम्न उद्धरण देखिये -

(१) आपने कहा है कि रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता। यदि ऐसा है तो चौथे, पांचवें गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर-कुमार, भरत, सगर, राम, पांडवादिक सम्यग्दृष्टी नहीं होंगे? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य आगे कहते हैं कि **चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ**

---

५३ - बृहद्द्रव्यसंग्रह का गाथा ३४ की टीका ५४ - तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. ६

तथा मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होते हुए पत्थर पर उकेरी रेषाओं के समान रागादिक नहीं होते हैं। (इसलिये वे उतने अंशों में रागी नहीं होते)। पांचवें गुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यान-क्रोध-मान-माया-लोभ के उदय से होनेवाले भूमि पर उकेरी रेषाओं के समान रागादि नहीं होते यह पहले ही हमने कहा है। (अर्थात् वहाँपर वे भी उतने अंशों में रागी नहीं होते।) इस ग्रन्थ में **पांचवें गुणस्थान से ऊपर के वीतराग सम्यग्दृष्टियों का मुख्यता से ग्रहण है, सराग सम्यग्दृष्टियों का ग्रहण गौणता से है।** इस व्याख्यानपद्धति को सम्यग्दृष्टि के व्याख्यानकाल में सर्वत्र तात्पर्यरूप से जानना चाहिये। (**किंच - रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवति.....अत्र तु ग्रंथे .....तात्पर्येन ज्ञातव्यं।**)[५५]

आचार्य जयसेन और भी आगे कहते हैं कि निश्चयमोक्षमार्ग में स्थित साधकों को नियम से मोक्ष होता है, व्यवहारमोक्षमार्ग में स्थित साधकों को होता भी है और नहीं भी होता। यह किसतरह? ऐसा पूछनेपर समाधान देते है कि मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम-क्षय-क्षयोपशम के साथ (वह साधक) शुद्धात्मा को उपादेय कर रहता है, तब मोक्ष होता है। यदि पुनः इन सात प्रकृतियों के उपशमादि के अभाव में शुद्धात्मा को उपादेय कर नहीं रहता, तब (मोक्ष) नहीं होता। ऐसा क्यों इस प्रश्न के उत्तर में वे समाधान देते हैं कि सात प्रकृतियों के अभाव में वह साधक अनंतज्ञानादि-स्वरूप आत्मा को उपादेय कर वर्तन नहीं करता, इसलिये उसे मोक्ष नहीं होता। जो ऐसे आत्मा को उपादेय कर श्रद्धा करता है, उसके सात प्रकृतियों के उपशमादिक रहते हैं और वह भव्य होता है। पर जिसके पहले कहा हुआ शुद्धात्मा का स्वरूप उपादेय नहीं होता, उसके सात प्रकृतियों के उपशम-क्षय-क्षयोपशमादिक नहीं रहते। अतः वह मिथ्यादृष्टि ही है, ऐसा जानना चाहिये। ..... अतः यह स्पष्ट है कि **निर्विकल्पसमाधि रूप निश्चय में ठहरकर व्यवहार छोड़ना चाहिये।** परन्तु ऐसी तीन गुप्तियों

---

५५ - समयसार २०१-२०२ तात्पर्यवृत्ति टीका

साहेत अवस्था में व्यवहार खुद ही नहीं रहता यह तात्पर्य है। (निश्चयमोक्षमार्गे..... .स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः। [५६]

इसी तरह परमात्मप्रकाश ग्रंथ की टीका में आचार्य ब्रह्मदेवसूरि कहते हैं कि व्यवहारनय से आत्मा से जो अभिन्न है तथा निश्चय से आत्मा से जो भिन्न और हेयभूत हैं, ऐसे पुण्यरूप धर्म को तथा पापरूप अधर्म को बहिरात्मा मिथ्यात्व-रागादि से परिणमित होकर अपने आत्मा में योजता है तथा वह उन्हीं पुण्य-पापादि समस्त संकल्प-विकल्पों के परिहार की भावना स्वरूप जो निज शुद्धात्मा है, उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक परमसमाधि में स्थित होकर अन्तरात्मा शुद्धात्मा की तुलना में पृथक् जानता है, यह तात्पर्य **है। (व्यवहारनयेनात्मनः सकाशात्.....पृथक् जानातीति तात्पर्यार्थः।)** [५७]

इन सभी उद्धरणों का तालमेल बिठाया जाय, तो **शुद्धोपयोग-साधक शुभोपयोग** चौथे, पांचवें तथा छठे गुणस्थानों में शुद्धोपयोग के अस्तित्व के बिना ठहर नहीं सकता। वहाँ सात प्रकृतियों के उपशमादि होते हैं और **अध्यात्मभाषा में उसी को शुद्धोपयोग कहा है।** समयसार की २७६ वी गाथा में उसे ही शुद्धात्मा को उपादेय कर रहना कहा है और उसी को परमात्मप्रकाश में पुण्यरूप शुभ या पापरूप अशुभ को आत्मस्वरूप में न योजकर चौथे, पांचवें, छठवें गुणस्थानवर्ती अन्तरात्मा उन्हें शुद्धात्मा से पृथक् जानता है ऐसा कहा है।

अतः **चौथे गुणस्थानवर्ती अन्तरात्मा का असंयम भी सम्यक्चारित्र ही है, पर मिथ्यादृष्टि का असंयम मिथ्याचारित्र है। यह सिद्ध करता है कि संयम ही चारित्र नहीं है, अपितु वह चारित्र का एक अंश या एक अंग है और वह संयम मोक्षमार्ग में होता है।** जो बाह्यसंयम मिथ्यादृष्टि में देशव्रतरूप या महाव्रतरूप दीखता है, वह वास्तव में संयम ही नहीं है, अपितु वह **संयमाभास** है और उसे विषय बनाता हुआ उपयोग

---

५६ - समयसार गाथा २७६ तात्पर्यवृत्ति टीका

मन्दता से उभरने वाला शुभोपयोग ही है, जो परमशुक्ललेश्या तक अति मन्दकषायरूप से साधक को पहुंचा कर भी वह असंयमरूप है। **वह व्यवहारसंयमरूप दिखता है, पर वह संयमाभास ही है,** क्योंकि वहाँ मिथ्यादर्शन की सत्ता है। सम्यग्दर्शन के साथ में **जो असंयम चौथे में है, वह दर्शनाचार, दर्शनाराधना या ज्ञानाराधनारूप के साथ सम्यक्चारित्र ही है,** भले ही वहाँ व्रतादि बाह्य संयम न हो। वहाँ इस असंयमरूप चारित्र का सद्भाव ही सिद्ध करता है कि केवल संयम ही चारित्र नहीं है। फिर भी ऐसा मानना कि संयम ही चारित्र है, यह **अव्याप्तिदोष से दूषित है,** क्योंकि संयम यह चारित्र गुण का एक अंग है। चारित्र गुण में पूर्णरूप से निश्चयसंयम व्याप्त नहीं होता, प्रत्युत चारित्र में गुप्ति-धर्म-परीषहजय आदि का भी समावेश होता है, जबकि संयम में व्यवहाररूप से इंद्रियसंयम व प्राणीसंयम ही अंतर्भूत होता है।

चारित्र के बिना मोक्षमार्ग मानना अर्थात् **चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते हैं पर संयम न होने से चारित्र नहीं होता,** ऐसा मानना और फिर भी वहाँ पर मोक्षमार्ग मानना तथा उसे जघन्य अन्तरात्मा कहना, यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग की आगम में जो व्यवस्था है, उसपर कुठाराघात है। न्यायदीपिका नामक न्यायग्रंथ में परोक्षप्रकाश नामक तीसरे अधिकार में यह कहा है - **आप्तवाक्यनिबंधनं अर्थज्ञानं आगमः। ..... सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।** (तत्त्वार्थसूत्र १-१) **इत्यादिवाक्यार्थज्ञानम्। सम्यग्दर्शनादीणि मोक्षस्य सकल-कर्मक्षयस्य मार्गः उपायः, न तु मार्गाः। ततो भिन्नलक्षणानां दर्शनादीनां त्रयाणां समुदितानां एव मार्गत्वं, न तु प्रत्येकमिति अयं अर्थः मार्गः इति एकवचनप्रयोगतात्पर्यः सिद्धः।**[५७अ] अर्थात् आप्त के वाक्य से निबंधित अर्थात् बद्ध होकर जो पदार्थ का ज्ञान होता है, वह आगम है।.....**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह तीनों मिलकर एक**

---

५७ - परमात्मप्रकाश गाथा ९२ टीका ५७अ - न्यायदीपिका परोक्षप्रकाश परि. ७५

मोक्षमार्ग है। (त.सू.१-१) इत्यादि वाक्यों से जो अर्थज्ञान होता है वह आगम है। (इसका अर्थ यह है कि) सम्यग्दर्शनादि तीनों भी सकल कर्मों के क्षयरूप मोक्ष का एक ही उपाय अर्थात् मार्ग है, पर अनेक मार्ग नहीं हैं। इसलिये भिन्न-भिन्न लक्षणवाले दर्शनादिक तीनों के समुदायरूप से अर्थात् एकतारूप से ही उनमें मार्गपना आता है, परन्तु उनमें से प्रत्येक को अलग-अलग मार्गपना नहीं आता, इसप्रकार जो अर्थ या पदार्थ यहाँ पर विचारणीय है, **वह मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग अकेला है, यही सूत्र में जो एकवचनप्रयोग है उस का तात्पर्य है यह सिद्ध हुआ।**

इससे यह भलीभांति सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थान में चूंकि मोक्षमार्ग सभी को सम्मत है, **इसलिये वहाँ चारित्र भी है। उसे क्या नाम दिया जाय इस पर विद्वज्जन या गुरुगण विचार करें।**

और भी आगे श्लोकवार्तिक ग्रंथ के उद्धरण से संयम और चारित्र का भेद तथा चौथे गुणस्थान में चारित्र का अस्तित्व सुस्पष्ट हो जायेगा। वह उद्धरण इसप्रकार है - **सम्यग्दर्शनोत्पत्तौ असंयतसम्यग्दृष्टेः मिथ्यादर्शनस्य अपक्षये मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः तत्पूर्वकमिथ्याचारित्राभावात् तन्निबंधनसंसारस्य अपक्षयप्रसिद्धेः। .....न च असंयमात् भेदेन मिथ्यासंयमस्य उपदेशाभावात् अभेदः इति युक्तं। तस्य बालतपःशब्देन उपदिष्टत्वात्, ततः कथंचित् भेदसिद्धेः। न हि चारित्रमोहोदयमात्रात् भवत् चारित्रं दर्शन-चारित्रमोहोदयजनितात् अचारित्रात् अभिन्नं एव, इति साधयितुं शक्यं, सदैव कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः। मिथ्यादृष्ट्यसंयमस्य नियमेन मिथ्याज्ञान-पूर्वकत्व-प्रसिद्धेः, सम्यग्दृष्टेरसंयमस्य मिथ्यादर्शन-ज्ञान-पूर्वकत्वविरोधात्।** [५८] अर्थ - सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति में असंयतसम्यग्दृष्टि को मिथ्यादर्शन का अपक्षय होने पर मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये तत्पूर्वक मिथ्याचारित्र का अभाव होने से उससे होने वाले संसार का अभाव (अपक्षय) होना प्रसिद्ध है।.....असंयम के भेद से मिथ्यासंयम

५८ - श्लोकवार्तिक अ. १ सू. १ श्लोक १०५ का वार्तिक।

का उपदेश न होने से अभेद ही है, यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मिथ्यासंयम को बाल-तप शब्द से उपदेशित किया गया है। इसलिये कथंचित् (असंयतसम्यग्दृष्टि) का असंयम और (मिथ्यादृष्टि का) मिथ्यासंयम इनमें भेद सिद्ध होता है। अविरत-सम्यग्दर्शन नामक चतुर्थ गुणस्थान में दर्शनमोहनीय से रहित केवल चारित्रमोहनीय मात्र (अप्रत्याख्यानादि-चारित्रमोह) के उदय से होनेवाला जो चारित्र है, वह प्रथम गुणस्थान (मिथ्यात्व) में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोह के उदय में होने वाले अचारित्र अर्थात् मिथ्याचारित्र से भिन्न नहीं ही है, ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं है, क्योंकि सर्वत्र कारणभेद होनेपर भी फल में अभेद होने का प्रसंग आयेगा। मिथ्यादृष्टि के असंयम का नियम से मिथ्याज्ञानपूर्वक होना प्रसिद्ध है, जबकि सम्यग्दृष्टि के असंयम के मिथ्यादर्शनपूर्वक होने में विरोध आता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थान का असंयम यह अचारित्र नहीं है। इसका कारण यह है कि वह दर्शनमोहनीय के व अनन्तानुबंधीचतुष्क के अभाव में व केवल चारित्रमोह के बारह कषायों के सद्भाव में होता है, जबकि पहले गुणस्थान का असंयम दर्शनमोहनीय के व संपूर्ण चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होता है और वही अचारित्र अर्थात् मिथ्याचारित्र है। उससे विपरीत चौथे गुणस्थान का असंयम सम्यक्चारित्र है। आगे इसी शृंखला में आचार्यश्री विद्यानंदि उसका कारण देते हैं, कि मिथ्यादृष्टि का असंयम नियम से मिथ्याज्ञान व मिथ्यादर्शनपूर्वक ही होता है और सम्यग्दृष्टि का असंयम मिथ्याज्ञानपूर्वक नहीं होता। अतः यह निश्चित है कि सम्यग्दृष्टि का असंयम भी चारित्रमय ही है।

इस संबंध में गोमटसार जीवकांड की गाथा १२ में जो चारित्तं णत्थि जदो अविरदअंतेसु ठाणेसु। अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानतक चारित्र नहीं होता है, ऐसा कहा है, वह स्थूलरूप से करणानुयोग की जो दृष्टि संयम को ही चारित्र के रूप में देखने की

है, उस अपेक्षा से कहा है। इसहेतु लब्धिसार का क्षयोपशमचारित्रलब्धि अधिकार भी देखें। उस दृष्टि में और द्रव्यानुयोग की दृष्टि में यह अन्तर है कि करणानुयोग उसे **अशुद्धनय** के रूप में और द्रव्यानुयोग उसे **एकदेशशुद्धनिश्चयनय** के रूप में देखता है। इसे सर्वत्र आगम का अध्ययन करते हुए लागू करना चाहिये।

६. शुभराग (भाव), शुभयोग, शुभलेश्या, शुभोपयोग, शुभभावना, शुभोपयोगभावना इन का स्वरूप -

इन शुभ विशेषणों से युक्त राग, योग, लेश्या, उपयोग, भावना, उपयोगभावना इन का स्वरूप और अन्तर समझे बिना इनका प्रयोग यथार्थ में करना असम्भव है। अतः इसपर थोडा विवेचन आवश्यक होने से नीचे उन्हें स्पष्ट किया जा रहा है।

१. शुभराग - यह चारित्रमोहनीय के उदय में होनेवाला विभावरूप औदयिक भाव है। **यह शुभराग कषाय होने से बंध का कारण है**। वह मुक्ति का कारण है ही नहीं, क्योंकि जितने अंशों में राग है, वह बंध का ही कारण है। (**येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति**।)[५९अ]

२. शुभ योग - मन-वचन-काय के माध्यम से शुभ परिणामों से होनेवाले आत्मप्रदेशों के स्पन्दन को शुभयोग कहते है। शुभयोग से प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं, स्थिति-अनुभागबंध नहीं होते। यह शुभयोग शुभोपयोगस्वरूप ही है, ऐसा नहीं है, क्योंकि शुभोपयोग में उपयोग की पर्याय अर्थात् ज्ञान गुण की पर्याय है और योग आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन है, इसलिये उनमें भिन्नता है।

३. शुभ लेश्या - लेश्यायें छह हैं। कृष्ण, नील, कापोत यह तीन लेश्यायें अशुभ हैं। पीत पद्म शुक्ल यह तीन लेश्यायें शुभ हैं।[५९] तीनों शुभ लेश्यायें पहले गुणस्थान में भी होती हैं।[६०] इसीसे पहले गुणस्थान में

---

५९ - गोमटसार कर्मकांड गाथायें ५७१-५७२ ५९अ - पुरुषार्थसिद्धि उपाय श्लोक २१२ से २१४

६० - पंचसंग्रह प्राकृत गाथा १९२

मुनिव्रतों को धारण कर अभव्य भी परमशुक्ललेश्या तक पहुंचता है व नव ग्रैवेयकों में अनन्त बार जन्म लेकर भी अनन्तसंसारी बना रहता है।

४. शुभोपयोग - उपयोगो लक्षणम्। तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र २/८ के अनुसार उपयोग जीव का त्रिकाली लक्षण है। इस उपयोग के बिना जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता। यह उपयोग शुद्ध व अशुद्धरूप से दो प्रकार का है। उनमें से अशुद्ध उपयोग अशुभ और शुभ के भेद से दो प्रकार का है। इसतरह कुल भेद तीन हुए। जीव का उपयोग अशुभ, शुभ या शुद्ध इन त्रिविध विषयों को ध्येय करता है, इसलिये उसके तीन भेद होते हैं। **शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलंबनं उपयोगलक्षणम्।** (प्रवचनसार गाथा १८१ ता.वृ.)। अशुभ विषय को लेकर अशुभ राग होता है, उसे विषय करनेवाला उपयोग अशुभोपयोग कहा जाता है। देवपूजा, दान. मूलगुणादि का पालन का राग शुभराग है और इसको विषय करने वाला उपयोग शुभोपयोग होता है। शुभोपयोग इसी शुभराग को विषय करता है। **यह शुभोपयोग पुण्यास्रवस्वरूप है तथा अशुभोपयोग पापास्रवस्वरूप है।**[६१] जीव के शुभ परिणाम पुण्य है।[६२] इसीको व्यवहारधर्म कहते है। भोग के निमित्तरूप यह व्यवहारधर्म है। अभव्य इसे भोगहेतु पालता है, परन्तु इससे कर्मक्षय नहीं होता। (सद्दहदि य पत्तेदि य.....कम्मक्खयणिमित्तं।) [६३] **अशुभ से विनिवृत्ति और शुभ में व्रत, समिति आदिरूप जो प्रवृत्ति वह व्यवहारनय से चारित्र कहा जाता है।**[६४] **वास्तव में शुभोपयोगरूप व्यवहार को धर्म कहना यह रूढि है, क्योंकि रूढि से ही शरीर व वचन की तथा उनके अनुकूल मन की क्रियायें धर्म कहलाती हैं।**[६५] (रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहः। तत्रानुकूलरूपा या मनोवृत्तिः सहानया।।) **व्रतों से सहित पूजा आदि को जिनशासन में पुण्य कहा है, मोह तथा क्षोभरहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है।**[६६] इस पर से यह

६१ - मूलाचार गाथा २३५ ६२ - पंचास्तिकाय गाथा १३२ ६३ - समयसार मूल २७५
६४ - द्रव्यसंग्रह मूल ४५ तथा प्रवचनसार गा ६९ तत्त्वप्रदीपिका टीका
६५ - पंचाध्यायी गाथा १४८६ ६६ - भावपाहुड गाथा ८३

स्पष्ट हो जाता है कि शुभराग चारित्र की पर्याय है और उसके साथ जुड़ी ज्ञान की पर्याय शुभोपयोग है। तथा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में शुभोपयोग धर्म ही नहीं है परन्तु शुद्धोपयोगरूप धर्म के साथ रहने से उसे व्यवहारनय से धर्मसंज्ञा प्राप्त हो जाती है।

५. शुभभावना या शुभोपयोगभावना। - इसमें **भावना का अर्थ उसमें अभ्यासरत होना यह है।**[६७] इसके अनुसार शुभ भावना अर्थात् शुभ में अभ्यास तथा शुभोपयोगभावना का अर्थ **शुभोपयोग में रमने का अभ्यास है।** यह भावना का अर्थ केवल मैं ऐसा होऊंगा या करूंगा ऐसा कदापि नहीं होता है। जब यह साधक शुभपरिणाम में या शुभ उपयोग में या जिनेंद्रपूजादि शुभ अनुष्ठानों में अपने उपयोग को लगाता है या विषय करता है, तब उसी में आगे बढने का या तन्मयरूप से अनुभवने का अभ्यास शुभभावना या शुभोपयोगभावना है।

इसतरह से इन सभी की परिभाषायें तथा उनमें भेद समझे बिना इस विषय में आगे बढना असंभव है। अतः इसे यहाँ स्पष्ट किया है। **इसीतरह शुद्धोपयोग, शुद्धभावना, शुद्धात्माभिमुखपरिणाम, शुद्धात्मानुभूति आदि के विषय भी सूक्ष्मता से समझना आवश्यक है। इनमें शुद्धोपयोग में शुद्धात्मा यह विषय रहता है व शुद्ध या प्रमाण ज्ञान यह साधन होता है, तभी शुद्धोपयोगरूप फल आता है।** इसीका अभ्यास **शुद्धोपयोग-भावना** है। इसी को **शुद्धभावना** इस नाम से भी जाना जाता है। इसे ही **भावना** भी कहा जाता है। इसमें **अध्यात्मभाषा से द्रव्यशक्तिरूप शुद्ध या परमपारिणामिकभाव विषय या ध्येय होता है। इसी भावना को पर्यायनामों से निर्विकल्प-समाधि, शुद्धोपयोग या शुद्धात्मानुभूति आदि रूप से जाना जाता है। यही भावना या शुद्धोपयोग या शुद्धात्मानुभूति या शुद्धात्माभिमुखपरिणाम या शुद्धात्मसन्मुखपरिणाम मुक्ति का कारण है।** परन्तु शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव मुक्ति का कारण

---

६७ - भगवती आराधना गाथा १९० टीका

६८ - समयसार गा.३२० तात्पर्यवृत्ति

नहीं है। वह केवल ध्येयरूप है, जब कि भावना या शुद्धोपयोग ध्यानरूप या मोक्षमार्गस्वरूप है।[६८]

७. भावना - इस मोक्षमार्गस्वरूप भावना के विषय में साधारणतया एक महाभ्रान्ति फैली हुई है कि भावना याने मैं ऐसा होऊंगा, ऐसी आशा या कल्पना। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इस को हम आगम से समझने की कोशिश करें।

भावना के विषय में जिनागम में निम्नानुसार प्रयोग हर ग्रंथ में विपुल तादाद में भरे पडे हैं। उनमें से कुछ उद्धरण मैं यहाँ दे रहा हूं।

१. अनन्तज्ञानादि **सिद्धगुणभावनारूप सिद्धभक्ति** से तथा निर्मलसमाधि से परिणत परमयोगी के **गुणों में भावनारूप योगभक्ति** से मैं पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ।[६९]

२. **निज आत्मा में भावना से उत्पन्न** सुखामृतरूपी शीतलजल से कामक्रोधादिरूप अग्निजनित संसार के दुःखरूपी दाह का उपशम होना, यही शम नामक धर्म है।[७०]

३. **शुद्ध-उपयोग में भावना के प्रभाव से समस्त घाति कर्मों के नष्ट हो जाने से** शुद्ध अनन्तशक्तिमान चैतन्यस्वभाव को जिसने प्राप्त किया, ऐसा यह आत्मा.....। (शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्त-घातिकर्मतया.....)[७१]

४. अथवा जो **आत्मभावनारत है**, वह निश्चयश्रुतकेवली होते है, ऐसा सूत्र ३३ में कहा है।[७२]

५. अध्यात्मभाषा से **निजशुद्धात्मभावना के अभिमुखरूप से** जो सविकल्प स्वसंवेदनज्ञान होता है, उसीको आगमभाषा से अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप जो दर्शनमोह का क्षपण करने में समर्थ ऐसे परिणामविशेष हैं, उन के बल से वह बाद में आत्मा में जोड़ता है। तभी अविकल्पस्वरूप प्राप्त होने पर जैसे पर्यायस्थानीय मोती और गुण के स्थानरूप जो श्वेतपना आदि यह सभी हार ही है, उसीप्रकार पूर्व में कहे गये

---

६९ - प्रवचनसार गा ३ तात्पर्यवृत्ति, ७० - प्र.सा.गा ७ तात्पर्यवृत्ति,
७१-प्रवचनसार गाथा १६ तत्त्वप्रदीपिका ७२. प्रवचनसार गाथा ३४ तात्पर्यवृत्ति की उत्थानिका
७३. प्रवचनसार गाथा ८० तात्पर्यवृत्ति

जो द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, वे अभेदनय से आत्मा ही है, ऐसा भानेवाले का अर्थात् **ऐसी भावना करनेवाले का दर्शनमोहरूप अंधकार प्रलय अर्थात् नष्ट हो जाता है।** (निजशुद्धात्मभावना..... दर्शनमोहान्कारः प्रलीयते।)[७३]

६. **परमात्मतत्त्व में भावनास्वरूप** जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं, उसके बल से.....।[७४]

७. **निज आत्मद्रव्य में निरन्तर भावना** करनी चाहिये।[७५].

८. इसप्रकार शरीरादि का अध्रुवपना जान कर ध्रुवस्वभावी **निज आत्मा में भावना करनी चाहिये।**[७६]

९. इसीकारण से उत्सर्ग से निरपेक्ष अपवादमार्ग को छोड़ कर **शुद्धात्मा की भावनारूप (निश्चय संयम)** या शुभोपयोगरूप (व्यवहार संयम) की विराधना न करके औषध, पथ्य आदि के कारण जो अल्प पाप उत्पन्न होता है.....उसे अपवाद रूप से स्वीकार करते हैं।[७७]

१०. **निजशुद्धात्मा में भावना के बल** से समस्त शुभ- अशुभ संकल्पों से रहित होने के कारण शुद्धोपयोगी निरास्रव होते हैं।[७८]

११. **स्वशुद्धात्मभावना से उत्पन्न वीतराग परमात्मसुख**....,....।[७९]

१२. उपयोग शब्द से **शुभभावनानुष्ठान, अशुभभावनानुष्ठान और शुद्धभावनानुष्ठानरूप भावना शब्द** जानना चाहिये।[८०]

१३. निजनिरंजनशुद्धात्मा से उत्पन्न परमानन्द ही जिसका लक्षण है, ऐसा जो सुखामृत का स्वाद है, उससे जो पराङमुख है, वह बहिरात्मा है।[८१]

१४. आगमभाषा से निजशुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप से जो वर्तेगा (होगा), वह भव्य है। ऐसे भव्यत्व नाम के पारिणामिकभाव से सम्बंधित प्रगटता कही जाती है। (यह अनादि-मिथ्यात्व छूटते समय चौथे, पांचवें या सातवें गुणस्थान में होती है।), उसी को अध्यात्मभाषा में द्रव्यशक्तिरूप **अशुद्धपारिणामिक-भाव के विषय में भावना कही जाती है। उसी भावना को अन्य पर्यायनामों से निर्विकल्पसमाधि या**

---

७४ - प्रवचनसार गा. १६५ तात्पर्यवृत्ति
७५ - प्रवचनसार गा. १७९-१८० तात्पर्यवृत्ति
७६ - प्रवचनसार गा. १९३ तात्पर्यवृत्ति
७७ - प्रवचनसार गा.२३१ तात्पर्यवृत्ति
७८ - प्रवचनसार गा. २४५ तात्पर्यवृत्ति
७९ - परमात्मप्रकाश गा.२ टीका
८० - द्रव्यसंग्रह गाथा ६ टीका
८१ - द्रव्यसंग्रह गाथा २८ की उत्थानिका

शुद्धोपयोगादिरूप जाना जाता है। यह भावना मुक्ति की कारण है। इसीलिये शुद्धपारिणामिकभाव (जीवत्वरूप परमपारिणामिकभाव) ध्येय है, वह ध्यान में **भावनारूप** नहीं है क्योंकि ध्यानपर्याय विनश्वर है और वह शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप होने से अविनश्वर है। यहाँ इसका यह तात्पर्य है कि मिथ्यात्वरागादिरूप विकल्पजालरहित जो निजशुद्धात्मा है, उसमें भावना से उत्पन्न सहजानन्द ही जिसका लक्षण है, ऐसे सुख के संवेदनरूप जो यह भावना है, वह मुक्ति का कारण है। उसीको कोई कोई लोग किसी भी पर्यायनामों से कहते है।[८२]

१५. **शुद्धोपयोगभावना के सामर्थ्य से नीरस हो गये जो कर्मपुद्गल,** उनके एकदेश जाने को निर्जरा कहते है।[८३]

१६. **कर्मास्रव को निर्मूल करनें में समर्थ ऐसी शुद्धात्मभावना** .....।[८४]

१७. अन्तरंग में **निजपरमात्मरूप में भावनाजन्य** परमसुखामृत में ...।[८५]

१८. **भेदाभेदरत्नत्रय में भावनारूप** जो मोक्षमार्ग है।[८६]

१९. बारह अनुप्रेक्षाओं के व्याख्यान में सर्वत्र **भावना का महत्त्व** दिखाया है। जैसे अध्रुव अनुप्रेक्षासहित पुरुष के संयोगी चेतन-अचेतन पदार्थों का विरह होने पर भी ममत्व नहीं होता, इसलिये वह अविनश्वर निजपरमात्मा को ही भाता है अर्थात् भावना करता है और जैसे अविनश्वर परमात्मा को वह भाता है (भावना करता है), वैसे ही अक्षय-अनन्त सुख-स्वभावी मुक्तात्मा को पाता है। इसी तरह का व्याख्यान हर अनुप्रेक्षा के व्याख्यान के अन्त में आ. ब्रह्मदेवसूरि ने द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका में किया है। वह मूल से पढ़ लेना चाहिये। विस्तारभय से यहाँ उसे उद्धृत नहीं किया जा रहा है।[८७]

---

८२ - द्रव्यसंग्रह गा. २८ की उत्थानिका
८३ - द्रव्यसंग्रह गा.२८ टीका
८४ - द्रव्यसंग्रह गा. २९ टीका
८५. द्रव्यसंग्रह गा. ३० टीका
८६ - द्रव्यसंग्रह गा. ४१ टीका.
८७. द्रव्यसंग्रह गा.३५ टीका

२०. निजशुद्धात्माभिमुखपरिणाम से ज्ञात होने वाले **निर्मलभावना के विशेष खड्ग** से पुरुषार्थ कर कर्मशत्रु को मारता है।[८८]

२१. पंचमहाव्रतादि से युक्त **अति प्रशस्त शुभभावना** में व्यवहारनय के अभिप्राय से परमचारित्र होता है।[८९] (इसी का भाव यह है कि जघन्यशुभभावना में जघन्य चारित्र होता है, जिसे चौथे गुणस्थान में शुभोपयोग कहा है। यह उसी गुणस्थान में उपस्थित शुद्धोपयोग का साधक या प्रतिपादक होता है, अन्यथा चौथा गुणस्थान वहाँ नहीं है अपितु वह केवल मिथ्यात्वी है।)

२२. ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में भावना करनी चाहिये। यह तीनों आत्मा ही है। इसलिये **निश्चय से आत्मा (शुद्धात्मा) में ही भावना करनी चाहिये**। आत्मा में जो भावना है, उसमें शुद्धोपयोगी मुनि सम्यक् आचरण करता है अर्थात् आत्मभावना मे लीन होता है, वह थोडे ही काल में मुक्त होता है।[९०]

२३. विषयसुखानुभव के आनन्द से रहित वीतरागस्वसंवेदन से वेदन करनेयोग्य तथा भूतार्थ से एकत्व में जो व्यवस्थित है तथा चिदानन्द ही जिसका स्वभाव है ऐसे शुद्ध परमात्मद्रव्य में जो स्थित है, उन्हें ही समस्त शुभ और अशुभ परभावों से शून्य तथा निर्विकल्पसमाधि जिसका लक्षण है, ऐसे **शुद्धोपयोग में भावना (रमणता)** के बल से उन **सम्यग्ज्ञानियों** का ही **मैं शुभाशुभ कर्म का कर्ता हूँ, ऐसा महा-अहंकाररूप अंधकार नष्ट हो जाता है**, मिथ्याज्ञानियों का नहीं। उस महाहंकार का विकल्पजाल नष्ट होने पर पुनः बंध नहीं होता। यह जान कर बाह्यद्रव्यों में **मैं यह करता हूँ, यह नहीं करता**, ऐसा दुराग्रह छोड रागादि विकल्पजालों से रहित पूर्ण कलश जैसे चिदानन्दरूपी अकेले स्वभाव से भरे हुए अपने **निज परमात्मा में निरंतर भावना करनी चाहिये**।[९१]

(इसपर से यह सिद्ध होता है कि जहाँ मिथ्यात्व नहीं है, ऐसे औपशमिकादि सम्यक्त्वों के सद्भाव में चौथे गुणस्थान में भी शुभ-

८९. नियमसार ७६ टीका ९० समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ११ १२.

९१. समयसार गाथा ९६ तात्पर्यवृत्ति

अशुभ में कर्तापने का अहंकार नष्ट हो गया होता है।)

२४. इस प्रकार संवर पूर्वक होनेवाले भावनिर्जरा के उपादानकारणरूप से जो **शुद्धात्मभावनारूप हैं, ऐसे सम्यक्त्व के निःशंकितादि आठ अंग हैं,** उनका व्याख्यान करने की मुख्यता से नव गाथायें गई।[९२]

(इससे भी सिद्ध होता है कि जो सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में होता है, वह ऐसे **शुद्धात्मभावनारूप आठ अंगों** से सहित होता है, उन अंगों का स्वरूप निश्चयनय से शुद्धात्मभावनारूप ही है।) अतः चौथे गुणस्थान में भी **शुद्धात्मा में भावनारूप** शुद्धोपयोग होता ही है।

२५. मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) में भी आचार्यश्री उमास्वामी ने **पांचों व्रतों की पांच-पांच भावनायें** दी है। (अ.७ सूत्र ३ से १२ तक)। आचार्य श्री भट्टाकलंकदेव **भावना शब्द** की व्याख्या देते हुए राजवार्तिक में लिखते हैं कि **वीर्यान्तराय-क्षयोपशम-चारित्रमोहोपशम-क्षयोपशमांगोपांगनामत्व-लाभापेक्षेणाऽऽत्मना भाव्यन्ते ताः इति भावनाः।**[९२-अ] अर्थात् वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के साथ चारित्रमोहनीय का उपशम तथा क्षयोपशम और अंगोपांगनामकर्म के लाभ की अपेक्षा से जो आत्मा के द्वारा भायी जाती हैं, वे यह भावनाये हैं। इसी सन्दर्भ में आचार्यश्री विद्यानन्दि श्लोकवार्तिक में इसी सूत्र पर श्लोक १ में लिखते हैं -

तत्स्थैर्यार्थं विधातव्या भावनाः पंच पंच तु।
तदस्थैर्ये यतीनां तु, संभाव्यो नोत्तरो गुणः।।१।।

अर्थात् देशव्रतों और महाव्रतों में स्थिरता हेतु **ये पांच-पांच भावनायें** भायी जानी चाहिये। इन व्रतों के अस्थिर होने पर उत्तर गुण की संभावना ही नहीं हो सकती। इससे भी यही सिद्ध होता है कि **भावना शब्द का प्रयोग आगम में सर्वत्र जिस वस्तु के हेतु से किया जाता है, उसी का पोषण वह** भावना करती है।

इन सभी उद्धरणों का निष्कर्ष यही है कि **जिस अशुभ या शुभ या**

---

९२ - समयसार गाथा २३६ तात्पर्यवृत्ति

९२अ - राजवार्तिक अ. ७ सू. ३ वार्तिक १

शुद्ध विषय में भावना हो, उस उपयोग को अशुभोपयोग, शुभोपयोग या शुद्धोपयोग कहते है। इसीतरह मोक्षमार्ग में अशुभभावनारूप अशुभोपयोग तथा शुभभावनारूप शुभोपयोग दोनों रागरूप होने से दोनों बंध के ही कारण हैं। इसीलिये वे हेय तथा त्याज्य हैं।

चूंकि यहाँ श्रद्धा का अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है, इसीलिये **श्रद्धा में एक अकेले परमपारिणामिकभाव को ही ध्येय माना जाता है तथा उसके आश्रय से होनेवाले मोक्ष को ही उपादेय माना जाता है।** इस मोक्ष के कारणभूत जो संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग है, उसे भी तात्कालिक उपादेयरूप से श्रद्धा स्वीकार करती है। ऐसा होने पर भी **ध्येय तो केवल एकमेव ज्ञायक या ज्ञान-दर्शनस्वभावरूप से ज्ञात होनेवाला परमपारिणामिकभावरूप अपरिणामी जीवत्व ही है, अन्य नहीं।** शुभराग किसी भी अंश में क्यों न हो, वह बंध का ही कारण है, क्योंकि वह राग है। कहा भी है - **जिस अंश में राग है, उस अंश में वह बंध का ही कारण है तथा जिस अंश में राग नहीं है, उस अंश में वीतरागता होने से बंध नहीं है। वह मुक्ति का कारण है या वही निर्जरा है।**[९३]

व्यवहारधर्म या शुभोपयोग ज्ञान का ज्ञेय तथा चारित्र में तात्कालिकरूप से स्वीकार्य या उपादेय है, **फिर भी श्रद्धा में तो हेय ही है, आश्रयणीय नहीं है।** यही **जिनागम मान्य निष्कर्ष** है।

८. शुद्धोपयोग के स्वामी - अब शुद्धोपयोग का स्वरूप समझ लेने पर तथा शुद्धोपयोग के पर्यायवाची **भावना** शब्द को जान लेने पर **भावना शब्द का उपयोग** मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में १. शुद्धोपयोगरूप, २. सिद्धभक्तिरूप, ३. योगिभक्तिरूप तथा उसे ही ४. संसारदाह नष्ट करनेवाली, ५. समस्त घातिकर्मों की नाशक, ६. सम्यग्दर्शन से पहले होनेवाले तीन करणरूप जो करणलब्धि है उसस्वरूप, ७. सम्यग्दर्शन की जनक, ८. सम्यग्दर्शन के आठ अंगों रूप, ९. धर्म्यध्यान-शुक्लध्यान रूप, १०.

---

९३ - **समाधिशतक श्लोक २१४.**

दर्शनमोहतम की विनाशक आदि उपर्युक्त विशेषणों से उसे इन उद्धरणों में सराहा गया है। **इसलिये यह भावना शुभोपयोगरूप न होकर शुद्धोपयोगरूप है।** शुभोपयोगरूप शुभभावना या शुभोपयोगभावना रागरूप है और बंधक है। **उसे इस भावना प्रकरण में स्थान ही नहीं है।** मोक्षमार्ग में ग्राह्य भावना तो पूज्य है, ध्यानस्वरूप है, मोक्षमार्गस्वरूप है और इसी भावना से वीतरागपरमात्मसुख उत्पन्न होता है। उसी से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होकर मिथ्यात्व नष्ट होता है।

ऐसी यह भावना चतुर्थ गुणस्थान में भी रहती ही है क्योंकि चौथे गुणस्थानवर्ती भी जघन्य अन्तरात्मा है, मोक्षमार्गी है। यद्यपि वह असंयत है और अविरत है, फिर भी वह अचारित्री तो बिल्कुल नहीं है। उसे अचारित्र नाम से आगम में संबोधा भी नहीं गया है। वहाँ सम्यग्दर्शन के सद्भाव में उसकी दर्शनाचार में, सम्यक्त्वाचरण में, दर्शनाराधना में तथा दर्शनप्रतिमा में भी जो वृत्ति-प्रवृत्ति है, वह या तो शुद्धोपयोगरूप या शुद्धोपयोगसाधक शुभोपयोगरूप है। आचार्य जयसेन समयसार में कहते हैं

- वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीव जिस शुद्धात्मभावनारूप परिणाम को करता है, वह परिणाम पूरा का पूरा ज्ञानमय ही होता है। इसलिये उस ज्ञानमय परिणाम से संसारस्थिति को छेद कर वह देवेन्द्र या लौकान्तिकादि महर्द्धिकदेव होता है और दो घडी में (एक मुहूर्त में) सुमति-सुश्रुत-सुअवधिरूप ज्ञानमय भावरूप पर्याय को प्राप्त करता है। वहाँ वह प्राप्त हुई विमान-परिवारादि विभूति को तृणवत् गिनता हुआ पंचमहाविदेह में जाकर वही यह समवसरण है, वे ही यह वीतराग-सर्वज्ञ हैं, वे ही यह भेदाभेदरत्नत्रय के आराधक गणधरादि देव हैं तथा जो परमागम में सुना है, वे ही यहाँ प्रत्यक्ष हैं, यह जान कर विशेषरूप से दृढमति होता हैं और चतुर्थ गुणस्थान योग्य शुद्धात्मानुभूति को न छोडते हुए निरंतर धर्म्यध्यान से देवलोक में काल व्यतीत करता हैं और बाद में मनुष्यभव में राजाधिराज, मंडलीक, महामंडलीक, कामदेव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर

आदि पद प्राप्त करने पर भी पूर्वभव में वासित (संस्कारित) शुद्धात्मस्वरूप-भेदभावना के बल से राम, पांडवों जैसा मोह को प्राप्त नहीं होता।.....[९४]

इसमें **शुद्धात्मभावनारूप शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थान में भी देवलोक में होता है,** ऐसा स्पष्ट कहा है। इसलिये विद्वानों को अपनी धारणा सुव्यवस्थित करने में सहायता मिलेगी। इससे यह भी स्पष्ट होगा कि **चौथे गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि भी शुद्धोपयोग का स्वामी है।** इसकी पुष्टि में अन्य अनेक उद्धरण आगम में यत्रतत्र भरे पडे हैं, उनमें से कुछ उद्धरण मैं नीचे दे रहा हूँ।

१. इसप्रकार संक्षेप से भावमोक्ष जानना चाहिये। यह कौनसा भाव है और कौनसा मोक्ष है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यहाँ जो भाव विवक्षित है, वह कर्म से आवृत संसारी जीव के क्षायोपशमिक ज्ञान के विकल्परूप है। वह भाव अनादि के मोह के वश होकर राग, द्वेष, मोहरूप से अशुद्ध होता है। **अब उसी भाव (राग, द्वेष, मोह) का मोक्ष कहते हैं।** जब यह जीव **आगमभाषा से** कालादि के लब्धि के रूप से तथा **अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुखपरिणाम से** (अर्थात् **शुद्धोपयोग से,** जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है), स्वसंवेदनज्ञान प्राप्त करता है, उससमय **प्रथमतः वह मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि द्वारा सरागसम्यग्दृष्टि होकर** पंचपरमेष्टिभक्ति आदिरूप से पराश्रित धर्म्यध्यानरूप बहिरंग सहकारिकारणरूप से **मैं अनन्तज्ञानादि-स्वरूप हूँ, इत्यादि भावना-स्वरूप आत्माश्रित (निश्चय) धर्म्यध्यान को प्राप्त होकर आगम में कहे हुए क्रम से असंयतसम्यग्दृष्टि (चौथा), देशविरत (पाँचवाँ), प्रमत्तसंयत (छठ्वाँ), अप्रमत्तसंयत (सातवाँ) इन चार गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान में..... केवलज्ञानादि-अनंतचतुष्टयस्वरूप भावमोक्ष को प्राप्त करता है, यह भावार्थ है।** [९५]

---

९४ - प्रवचनसार गा.१३०-१३१ तात्पर्यवृत्ति ९५ - पंचास्तिकाय गा. १५० तात्पर्यवृत्ति।

इसमें भी चारों गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान में वह करणलब्धि में स्थित हो कर **सविकल्परूप सरागसम्यग्दृष्टि** होता है, उससमय वह आत्माश्रित निश्चय धर्म्यध्यान को अर्थात् निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त करता है और उसी गुणस्थान में श्रेणिक जैसा **अव्रती रहकर तीनों करण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी बनता है।** इसमें कोई भी शंका जैसी चीज को बिल्कुल जगह नहीं होनी चाहिये। इसमें सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम, क्षयवाली बात प्रायोग्यलब्धि की न होते हुए **करणलब्धि** की है, जिसमें सविकल्प-सराग-धर्म्यध्यान होता है, **जो नियम से निर्विकल्प-वीतराग-धर्म्यध्यानरूप शुद्धात्मानुभूति को कारण होता है।**

२. **रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता ऐसा आपने कहा है, तब चौथे गुणस्थानवर्ती तीर्थंकरकुमार, भरत, सगर, राम, पांडवादिक सम्यग्दृष्टि नहीं होंगे?** इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि ऐसा नहीं है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से तेतालीस प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से वे सराग-सम्यग्दृष्टि होते हैं। किसतरह से? तो उन **चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व इन के उदय से उत्पन्न होनेवाले पाषाणरेखा आदि के समान रागादिकों का अभाव होता है, इसलिये वे रागी नहीं होते।** (उतने अंशों में वे चौथे गुणस्थानवर्ती **रागरहित वीतरागी** होते हैं, क्योंकि उन्हें बारह कषाय होते हैं और चार कषाय नहीं होते है।) पांचवें गुणस्थानवर्ती जीवों के पुनः अप्रत्याख्यानक्रोध-मान-माया-लोभजनित भूमिरेखा आदि के समान रागद्वेष नहीं होते। इसलिये वे सम्यग्दृष्टि रागी नहीं होते। (वे भी आठ कषायें होने से रागी हैं, तो आठ कषायें न होनेसे **उतने अंशों में वीतरागी हैं।**)[९६]

आगे और आचार्यश्री जयसेन कहते हैं कि **इस ग्रंथ में मुख्यतया वीतराग सम्यग्दृष्टियों का (सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर बारह कषायें नहीं होती, केवल चार कषायें होती हैं, इसलिये वे बहुलता**

९६ - समयसार गाथा २०१-२०२ तात्पर्यवृत्ति

से वीतरागसम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं)। परन्तु यहाँ पर भी सरागसम्यग्दृष्टियों का गौणवृत्या व्याख्यान है, ऐसा सम्यग्दृष्टि के व्याख्यानकाल में सर्वत्र जानना चाहिये।[९६अ] इस उद्धरण से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि चौथे गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दष्टि तथा पांचवें गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक बहुपद के या बहुलता के न्याय से सरागसम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं, जब कि वे चार तथा आठ कषायों के **अभाव से उतने अंशों में वीतरागी होते हुए भी वे सरागसम्यग्दृष्टि ही कहे जाते हैं** क्योंकि इसी गाथा २०१-२०२ में

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं खु सव्वागमधरो वि।।२०१।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।२०२।।

अर्थात् परमाणुमात्र भी यदि रागादि जिनके हृदय में हैं, वे सर्व आगम के ज्ञाता होकर भी आत्मा को नहीं जानते। जब वे आत्मा को नहीं जानते, तो वे अनात्मा को भी नहीं जानते,, तो फिर **आत्मा तथा अनात्मा को (जीव-अजीव) को न जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे होंगे?**[९७]

इस पर से यह स्पष्ट है कि जिनके परमाणुमात्र भी राग नहीं है, वह पूर्णरूप से बारहवें गुणस्थानवर्ती ही हैं। इसे आंशिक रूप से घटाना हो तो ऊपर जैसे स्पष्ट किया है कि वह चौथे से दसवें गुणस्थानवर्ती बारह से चार कषायसहित सरागी उसमें सहजता से समाविष्ट होते हैं, उनमें से सातवें गुणस्थानवर्ती से ही वीतरागसम्यग्दृष्टि मान लेना अन्याय लगता है। कृपया विद्वत् गण व गुरुगण विचार करें। इसे समझने हेतु प्रवचनसार गाथा २४८ की टीका में आचार्यश्री जयसेन का अक्षरशः भाव ग्रहण करना चाहिये। उसका हिंदी अनुवाद इसतरह है -

यहाँ कोई शंका करता है कि **शुभोपयोगियों** के भी किसी समय

९६-अ - समयसार गाथा २०१-२०२ तात्पर्यवृत्ति ९७ - समयसार गाथा २०१-२०२ मूल

शुद्धोपयोग में भावना दिखाई देती है, **शुद्धोपयोगियों को** भी किसी समय **शुभोपयोग में भावना** दिखाई देती है, **श्रावकों को** भी सामायिकादि के काल में **शुद्धभावना** (शुद्धस्वरूप में भावना) देखी जाती है, उनमें विशेष भेद कैसे जाना जायेगा? इसका परिहार कहते हैं - आपने ठीक ही कहा। **परन्तु जो प्रचुरता से शुभोपयोग में रहते हैं, वे यद्यपि किसी काल में शुद्धोपयोगभावना करते हैं, तथापि वे शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं और जो शुद्धोपयोगी है, वे भी किसी काल में शुभोपयोग से रहते हैं, फिर भी वे शुद्धोपयोगी ही कहे जाते हैं।** यह कैसे? इसमें **बहुलता या बहुपद की प्रधानता होने से वैसा कहा जाता है, जैसे आम्रवन और निंबवन।**[९८] अर्थात् जिस वन में आम्र के वृक्ष बहुतायत में होने से उसमें नीम के कुछ वृक्ष होते हुए भी उसे आम्रवन ही कहा जाता है तथा जिस वन में नीम के वृक्ष बहुत संख्या में हैं, उसमें आम के कुछ वृक्ष होनेपर भी उसे नीम का वन ही कहते हैं।

इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि जैसे मोक्षमार्गी के ४-५-६ गुणस्थानों में तारतंम्य से शुभोपयोग तथा ७-८-९-१०-११-१२ गुणस्थानों में तारतम्य से शुद्धोपयोग होने की बात प्रवचनसार की ९ वीं गाथा की टीका में कही है, वह इसी न्याय के अनुसार इसी कसौटी पर कसने पर कही है। क्योंकि ७ से १० गुणस्थानों में शुद्धोपयोगरूप आम्रवृक्षों की बहुलता है और शुभोपयोगरूप नीमवृक्ष अल्प हैं, इसीलिये उन्हें **शुद्धोपयोगी** कहा जाता है। तथा ४-५-६ गुणस्थानों में शुभोपयोगरूप नीमवृक्षों की बहुलता होने से वे **शुद्धोपयोग** के कुछेक आम्रवृक्षों से सहित होनेपर भी उन्हें नीम का वनरूप **शुभोपयोगी** ही कहा जाता है। इसीपर से यह भी सिद्ध हो जाता है कि **चौथे व पांचवें गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग में भावना या शुद्धोपयोग होता है, इसलिये वे भी अवश्य उसके स्वामी हैं, इसमें शंका को कोई गुंजाईश नहीं है।**

---

९८ - प्रवचनसार गा. २४८ तात्पर्यवृत्ति

३). परमात्मप्रकाश का यह उद्धरण भी देखिये - जो वीतरागसम्यक्त्व है, उसका लक्षण निजशुद्धात्मानुभूति है तथा वह वीतरागचारित्र के बिना नहीं होता, उसे ही निश्चयसम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ पर प्रभाकरभट्ट कहते हैं - निजशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसे रुचिरूप ही निश्चयसम्यक्त्व होता है ऐसा आपने बहुत बार कहा है। अब आप कहते हो कि वीतरागचारित्र से अविनाभावी निश्चयसम्यक्त्व होता है। इन व्याख्यानों में पूर्वापर विरोध आता है, क्योंकि निजशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप निश्चय-सम्यक्त्व गृहस्थावस्था में तीर्थंकर परमदेव, भरत, सगर, राम, पांडवादिकों को विद्यमान रहता है, पर उन्हें वीतरागचारित्र नहीं होता, इसतरह उसमें परस्पर विरोध आता है। यदि उन्हें भी वीतरागचारित्र है, तो उनके असंयतपना किसतरह है? यह पूर्वपक्ष है। उसका परिहार करते हैं -

उनके शुद्धात्मा उपादेय है इस भावनारूप निश्चयसम्यक्त्व है परन्तु चारित्रमोह के उदय से स्थिरता नहीं है, उनके व्रतों की प्रतिज्ञा का भंग होता है, इस कारण से उन्हें असंयत भी कहते हैं। शुद्धात्मभावना (शुद्धोपयोग) से च्युत होकर भरतादिक पुरुष जो अर्हन्त-सिद्धादि निर्दोषी पुरुष (परमात्मा) हैं, उनके गुणस्तवनादि करते हैं, उनके चरित्र-पुराणादिक सुनते हैं, उनके आराधक पुरुष जो आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं, उनको विषय-कषायों के दुर्ध्यान से बचने हेतु और संसार की स्थिति घटाने हेतु दान-पूजादि करते हैं, इस कारण से शुभराग के योग से वे सरागसम्यग्दृष्टि होते हैं। जो पुनः उनके सम्यक्त्व की निश्चयसम्यक्त्व संज्ञा है, वह वीतराग चारित्र से अविनाभूत निश्चयसम्यक्त्व की परंपरासाधक है। वस्तुरूप से वह सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व नाम का व्यवहारसम्यक्त्व ही है। यह [illegible][99]

९९ - परमात्मप्रकाश गाथा २/१७ टीका

इस उद्धरण में भी **जो निश्चयसम्यक्त्व यहाँ चौथे-पांचवें गुणस्थानों में है**, उनमें व्रतों में प्रतिज्ञाभंग होता है अर्थात् महाव्रत नहीं होते। इसी कारण उसे वीतरागचारित्र नहीं कहा। वस्तुतः पाँचवें गुणस्थान मे देशचारित्र होते हुए भी उन्हें वीतरागचारित्र नहीं कहा तथा चौथे गुणस्थान में जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र, दर्शनाराधना, दर्शनाचार या पच्चीस दोष-रहितता है और आठ अंगों से सहितता है, वही चारित्र की पर्याय है और वही **स्वरूपाचरण-चारित्र का जघन्यरूप** है। उसके होते हुए भी अर्थात् वहाँ पर चारित्रमोहनीय के चार कषायों का अभाव होते हुए भी उसे बहुपद-न्याय से (प्रवचनसार २४८ ता.वृ.) नीम का वन अर्थात् शुभोपयोगी के खाते में डाल दिया है। यह कथन की शैली सातवें गुणस्थान से ऊपरवाले साधकों की शुद्धोपयोग की बहुलता को दृष्टिगत कर ही है। निचले गुणस्थानियों को इस में गौणरूप से अवश्य ही ग्रहण कर लिया गया है, **क्योंकि वहाँ पर भी निश्चयसम्यक्त्व कहा है तथा उसे ही वीतराग-सम्यक्त्व कहा है** क्योंकि इसी ग्रंथ की गाथा १४२ की टीका में कहा है कि **शुद्धनिश्चय से शुद्धात्मानुभूतिरूप जो वीतरागसम्यक्त्व है. उसका केवल नित्यानंदस्वभावी निजशुद्धात्मा ही विषय होता है।**[१००]

४. **चौथे से छठवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग का साधक तरतमता से बढता हुआ शुभोपयोग कहा है।**[१०१] इसमें भी यह सिद्ध होता है कि शुद्धोपयोग ही उन गुणस्थानों में न हो **तो वहाँ का शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधक कैसे हो सकता है**? अर्थात् यह सिद्ध करता है कि **इन गुणस्थानों में शुद्धोपयोग की अल्पांश में उपस्थिति रहती ही है**, तभी तो उसका साधक शुभोपयोग आगे आगे की गुणस्थानों में बढता जाता है। यह शुभोपयोग सम्यक्त्वपूर्वक होता है। वहां मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी की चारों कषायों का अभाव होता है, तभी यह सम्यक्त्व वहाँ पर होता है। चौथे गुणस्थान में भी शुद्धात्मा जिस में उपादेय

---

१०० - परमात्मप्रकाश गा. १०३ टीका। १०१ - द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ टीका।

है, ऐसं रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व होता ही है, यह ऊपर सिद्ध कर आये ही है। **सम्यक्त्वरहित शुभोपयोग से पापानुबंधी पुण्य होता है तथा सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग से पुण्यानुबंधी पुण्य होता है। पापानुबंधी पुण्य से तीसरे भव में नरक होता है।**[१०२]

५. समयसार गाथा ३२० की टीका में भी स्पष्टतया लिखा है कि - इन तीनों (जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व पारिणामिकभावों) में से भव्यत्व-लक्षण जो पारिणामिकभाव है, उसका प्रच्छादक तथा सम्यक्त्वादि गुणों का घातक देशघाति-सर्वघाति नामक मोहादि कर्मसामान्य है, वह पर्यायार्थिकनय से है, ऐसा जानना। वहाँ भी जब कालादिलब्धि के वश उस भव्यत्व-लब्धि की प्रगटता होती है, **(यह चौथे, पाँचवें तथा सातवें गुणस्थानों में ही होती है) उससमय यह जीव सहजशुद्धपारिणामिकभाव जिसका लक्षण है, ऐसा जो निजपरमात्मद्रव्य है, उसकी सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप जो पर्याय है, उस से परिणमित होता है। वह परिणमन आगमभाषा से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीन भाव रूप होता है तथा अध्यात्मभाषा से उसे ही शुद्धात्माभिमुख-परिणाम या शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञा प्राप्त होती है।**[१०३]

वह पर्याय भावना रूप है अर्थात् मोक्षमार्ग-स्वरूप है तथा ध्यान-रूप है। यह भावना विनश्वर है जबकि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येय-रूप है। चौथे गुणस्थानवर्ती भी इस ध्येयरूप परमपारिणामिकभाव को ध्येय बनाते हुए ही करणलब्धि में चढ़ता है और सविकल्प धर्म्यध्यान से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर निर्विकल्प धर्मध्यान में अंतर्मुहूर्त रहकर फिर या तो सम्यक्प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बनता है या फिर सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से तीसरे गुणस्थान में, अनंतानुबंधी के उदय से दूसरे गुणस्थान में या मिथ्यात्व के उदय से पहले गुणस्थान में जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि **चौथे गुणस्थान में जो निर्विकल्प धर्म्यध्यान में प्रवृत्ति होती है,**

---

१०२ - भगवतीआराधना ५८ तथा परमात्मप्रकाश २/५७ १०३ - समयसार गा. ३२० तात्पर्यवृत्तिटीका

वह शुद्धात्मानुभूति या शुद्धोपयोग ही है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार का यह श्लोक भी देखें -

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।[१०४]

अर्थात् मोक्षमार्गस्थ गृहस्थ निर्मोही याने दर्शनमोह से रहित होता है। वह निर्मोही गृहस्थ मोही मुनि से श्रेष्ठ है। इससे भी यह सिद्ध है कि गृहस्थ मोक्षमार्गस्थ है अर्थात सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से सहित है।

६. समयसार गाथा ६ और ७ में कहा है कि -

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादा जो सो दु सो चेव।।६।।
ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।७।।

अर्थ - जो ज्ञायकभाव है, वह न कभी अप्रमत्त होता है, न कभी प्रमत्त ही होता है। जो ज्ञाता है वह तो ज्ञाता ही है, अन्य कोई नहीं है। व्यवहारनय से ज्ञानी के सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ऐसे तीन प्रकार हैं, ऐसा उपदेश दिया जाता है। वास्तव में निश्चय से वह न तो ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है, वह तो केवल शुद्धज्ञायक ही है।

इसी तरह इनकी टीका में भी कहा है - यह जीव भी निश्चयरूप से अभेदनय से शुद्धचैतन्यस्वरूप ही है, फिर भी भेद रूप व्यवहारनय से जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है, वह दर्शन है और जो चरता है अर्थात् आचरण करता है वह चारित्र है, ऐसे व्युत्पत्ति-भेद से जीव तीन प्रकार का कहा जाता है।[१०५]

इन गाथाओं के भाव को यदि वास्तविकता से ग्रहण किया जाय, तो वह जो ज्ञाता अपने परमपारिणामिक भाव को जानता है, वही उसकी श्रद्धा

१०४ - रत्नकरंडश्रावकाचार श्लोक ३३ १०५ - समयसार गाथा ६ व ७

करता है और जितना समय उसे जानते रहता है, उतने समय तक वह उस स्वयं में ही आचरण करता है। अतः वह ही भेदरूप से सम्यग्दर्शन रूप, सम्यग्ज्ञान रूप तथा सम्यक्चारित्र रूप होता हुआ **अभेद रूप से (निश्चयनय) से केवल ज्ञाता या ज्ञायकभाव ही है।** अतः वह मोक्षमार्गी ही है।

ऐसा भी नहीं होता कि मोक्षमार्ग केवल सम्यग्दर्शनरूप, केवल सम्यग्ज्ञानरूप, केवल सम्यक्चारित्ररूप, केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप, केवल सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप या केवल सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप हो, अर्थात् तीनों की एकता से सकलरूप न होकर केवल विकलरूप ही हो क्योंकि **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**[१०६] अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। गृहस्थ मोक्षमार्गी है, इसमें भी कोई विवाद नहीं है, क्योंकि वह जघन्य अन्तरात्मा है, यह भी सर्वमान्य है। जब ऐसा है तो यह मान्यता कि **पहले सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है, बाद में सम्यक्चारित्र होता है यह सत्य नहीं है।** यह भी कहा जाता है कि **सर्वार्थसिद्धि आदि के या आदिनाथ, अजितनाथादि तीर्थंकरकुमार आदि चौथे गुणस्थानवर्ती क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव या नरक के भी श्रेणिक के जीव जैसे क्षायिक-सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रमी जीव ये करोडों वर्षों तक या सागरोंपम तक सम्यक्चारित्र से शून्य होते हैं, वे असंयमी होने से शुद्धोपयोग या शुद्धात्मानुभूति नहीं करते हैं तथा केवल व्यवहार से बाह्य चर्चादि कर आत्मानुभूति से शून्य शुभोपयोगी रहकर काल गंवाते हैं, यह कहना उन पर अन्याय है।**

७. समयसार की आत्मख्याति टीका में आ. अमृतचन्द्र कहते हैं - कि जिसप्रकार कोई धन का अर्थी पुरुष उद्यम से पहले तो राजा को जानता है कि यह राजा है, फिर उसीका श्रद्धान करता है कि यह राजा ही है और फिर उसी का अनुसरण करता है, सेवा करता है, आज्ञा में रहता है, उसे प्रसन्न करता है; **उसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को**

१०६ - तत्त्वार्थसूत्र अ.१ सू.१

जानना चाहिये, श्रद्धान करना चाहिये और अनुभव के द्वारा उसी में लीन होना चाहिये, क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद ध्रुव-स्वरूप है, उसकी सिद्धि की उपपत्ति इसीप्रकार है, अन्यथा उपपत्ति हो नहीं सकती।

जब आत्मा अनुभव में आता है तब भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी, सर्व प्रकार से प्रवीणता से **जो यह अनुभूति है, वह ही मैं हूँ** इस प्रकार आत्मज्ञान के द्वारा **इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही मैं हूँ**, इस प्रकार का प्रतीतिस्वरूप श्रद्धान उत्पन्न होता है, तब समस्त भावों से भेद होने से निःशंकरूप से ऐसा आत्मा का आचरण उदित होता है। तब आत्म-साधना उदित होती है, **ऐसे साध्य आत्मा की इस प्रकार उपपत्ति तथोपपत्ति है।**

अब **अन्यथा अनुपपत्ति** इस प्रकार है - परंतु जब **ऐसा अनुभूति-स्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल (सभी अज्ञानी तथा ज्ञानी पुरुषों) सभी के सदा ही स्वयं से अनुभव में आने पर भी** अनादि बंध के वश पर (अन्य) के साथ, **जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ, ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता,** इसलिये उसके अभाव से न जाने हुए खर अर्थात् गधे के सींग के श्रद्धान के समान होने से (आत्मा का) श्रद्धान उदित नहीं होता, तब समस्त भावों में जो अन्तर है, उसका विवेक न होने से वह निःशंकरूप से नहीं रह सकता। **अतः आत्मानुचरण (स्वरूपाचरण) उत्पन्न न होने से आत्मा को नहीं साधता है।** ऐसी **साध्य की सिद्धि के साथ अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती।**

फिर आचार्यश्री स्वयं प्रश्न उपस्थित कर समाधान करते हैं -

प्रश्न - आत्मा तो ज्ञान से तादात्म्यरूप ही है, फिर ज्ञान का सेवन नित्य करता हुआ भी ज्ञान की उपासना करने का उपदेश उसे क्यों दिया जाता है? **समाधान** - ऐसा नहीं है। **कारण यद्यपि आत्मा ज्ञान से तादात्म्यरूप ही है, तो भी एक क्षणभर भी वह ज्ञान की उपासना**

नहीं करता। इस के ज्ञान की उपपत्ति **स्वयंबुद्ध** (स्वयं स्वंयं को जानना) या **बोधितबुद्ध** (दूसरे के उपदेश से जानना) इस कारण से होती है। **ऐसा जानने से पूर्व वह अज्ञानी ही है।**[१०६अ]

इससे सिद्ध होता है कि **आत्मा को निज आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता रहता है,** पर यह उसे अनुभव में न लेकर पर के साथ अपना एकत्व अपने उपयोग में करता रहता है, इसलिये उसे आत्मा की उपपत्ति नहीं होती और वह अज्ञानी रहता है। इसलिये **अपने उपयोग को आत्मा के निजशुद्धस्वभाव के तरफ उपासित करने से (उस तरह से उसकी उपासना करने से) ही आत्मा ज्ञानी होता है।**

अब प्रश्न है कि क्या केवल बाह्य परिग्रह छोड़ने से ही आत्मा की उपासना होती है? इसका उत्तर एक अपेक्षा से **ना** में ही दिया जायेगा। उपासना का अर्थ है - **उप** याने पास में **असना**-रहना या होना। हमारी ज्ञान की पर्याय ज्ञानस्वभाव के पास न रहकर स्वयं के ध्रुव शाश्वत ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं करती, अतः उसने अपने जनक को तो भुला ही दिया है। वह हरक्षण नवीन नवीन उत्पन्न होनेवाली उपयोग की पर्याय इस अपने अनादि-जनक की सेवा न कर अपने में प्रतिबिंम्बित होनेवाले ज्ञेयों के दृश्यों पर (ज्ञेयरूप ज्ञानाकारों पर) ही फिदा होते आयी है। यही उसकी सही विडम्बना है। यह विडम्बना ऊपर समयसार गाथा १७-१८ की आत्मख्याति टीका में आ. अमृतचंद्रजी ने स्पष्ट की है। उन्होंने बताया कि **हर बाल (अज्ञानी) ओर गोपाल (ज्ञानी) भी अपने ही निज-शुद्ध-ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा का ही निरन्तर अनुभव या स्वसंवेदन करता है या करता रहता है, फिर भी स्वयं को ही दुर्लक्षित कर वह स्वयं की ही उपेक्षा कर रहा है।** वह ज्ञेयों के जो प्रतिबिम्ब या चित्र उस उपयोग में झलकते हैं, उन पर फिदा होकर अपने उपयोग में शुभरूप या अशुभरूप राग का आश्रय लेता है। वास्तव में शुभराग याने शुभोपयोग नहीं तथा अशुभराग

---

१०६ अ - समयसार गाथा १७-१८ की आत्मख्याति टीका

याने अशुभोपयोग नहीं है क्योंकि शुभराग या अशुभराग यह चारित्रगुण की विभावपर्यायें हैं और शुभ या अशुभ उपयोग यह ज्ञान गुण की पर्यायें या परिणतियाँ है। जब यह उपयोग शुभराग को विषय करता है, तब शुभराग का साथ देने से उसे **शुभोपयोग** कहा जाता है, उसी प्रकार अशुभराग को विषय कर उसका साथ देने से उसे **अशुभोपयोग** कहा जाता है।

इस तरह **स्वयं के स्वभाव से प्रतारणा करने से** ज्ञान का उपयोग ज्ञानरूप शुद्ध न रहकर अज्ञानरूप जड़ या पुद्गलप्रदेश में परिणत (पुद्गल-कर्मप्रदेश-स्थित) परसमय-रत हो जाता है, उस समय आत्मा भी **परसमय** कहा जाता है। वही उपयोग जब अपने चारित्र-ज्ञान-दर्शनस्वभाव में स्थित हो कर अपने से तन्मय होता है, तो वह स्व का संवेदन करता हुआ **स्वसमय** होता है।[१०७]

ऐसा यह **स्वसमय ही अन्तरात्मा** है। इसमें **चौथे से बारहवें तक गुणस्थान** आते हैं। वे सभी मोक्षमार्गी हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है, और इन **सभी गुणस्थानों में इन तीनों की एकता है, यह स्पष्ट है।**[१०८] चौथे गुणस्थान में भी भव्यत्वशक्ति प्रगट हो गयी है, इसीलिये यह चौथे गुणस्थानवर्ती जीव भी सहजशुद्धपारिणामिकभाव जिसका लक्षण है, ऐसे निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है। इसी को **आगमभाषा से औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव व क्षायिकभाव के नाम से जाना जाता है तथा इसी को अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुख-परिणाम या शुद्धोपयोग इत्यादि नामों से जाना जाता है।**[१०९] ऐसा यह स्वसमयस्वरूप जघन्य अन्तरात्मा शुद्धोपयोगी भी है, यह निर्विवादतया सिद्ध होता है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि करणानुयोग चारित्रलब्धि को तभी मानता है कि जब संयम हो, इसीलिये लब्धिसार ग्रंथ की गाथा १६८ कहती है कि चारित्रलब्धि दो प्रकार की होती है, **जो देशचारित्र व सकलचारित्र** के

१०७ - समयसार गाथा २ का भावार्थ। १०८ - तत्त्वार्थसूत्र अ.१ सू १।
१०९ - समयसार गाथा ३२० ता.व.

नाम से जानी जाती है। इसी तरह उसी की गाथा १८४ भी कहती है कि देशलब्धि भी जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो प्रकार की है।[११०] इसमें भी संयम की ही अपेक्षा वर्णन है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में इस सम्बंध में निम्न वर्णन है - **यद्यपि परमार्थ से (अनन्तानुबंधी) कषाय का घटना चारित्र का अंश है,** तथापि व्यवहार से जहाँ ऐसे कषायों का घटना हो व जिससे श्रावकधर्म व मुनिधर्म का अंगीकार हो, **वही चारित्र नाम पाता है। सो असंयत में ऐसे कषाय घटते नहीं हैं, इसलिये यहाँ असंयम ही कहा है।**[१११]

इस सम्बंध में भावदीपिका ग्रंथ में पं.श्री दीपचंदजी ऐसा लिखते हैं - अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यान चारित्रमोह के उदयतैं जीव के असंयमभाव हो है। ..... सो असंयमभाव दोय प्रकार है - **एक तो अनन्तानुबंधी चारित्रमोह के उदयतैं होय है, तहाँ तो योग्य-अयोग्य, न्याय-अन्याय, हेय-उपादेय के विवेकरहित विषय-कार्यन विषै वा कषाय-कार्यन विषै प्रवर्तै है। स्वच्छन्द दयारहित होकर त्रस-स्थावर जीवन की हिंसा करैं हैं, ऐसा (अनन्तानुबंधीजनित) असंयमभाव हो है। दूसरा असंयमभाव अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोह के उदय तै होय है।** तहाँ विषयकार्य वा कषायकार्य वा त्रस-स्थावर जीवन की हिंसा, न्याय-अन्याय, योग्य-अयोग्य के विचार सहित होय है। तहाँ त्यजन-ग्रहण की प्रतिज्ञा नहीं कर सकै है, परन्तु हेय-उपादेय के विचार सहित होय है। तातैं अपने पद के योग्य न्याय्य कार्यन विषै प्रवर्तै है अर पद के अयोग्य अन्याय्य कार्यनविषै नाही प्रवर्तै है। **अर अप्रत्याख्यान के मंद उदयतैं किंचित् त्यजन-ग्रहणरूप प्रतिज्ञा, व्यसनादिक का त्याग, अभक्ष्य, उदुम्बरादिक का त्यागरूप प्रतिज्ञा भी होय है, परंतु पंच पापन का एकदेश वा सर्व देश त्याग नहीं कर सकै है। तातैं असंयम ही कहै है।**[११२]

---

११० - लब्धिसार गाथा १६८ और १८४ मूल,

१११ - मोक्षमार्गप्रकाशक अ.९ पृष्ठ ३३९ सोनगढ प्रकाशन

११२ - भावदीपिका (दीपचंदजीकृत) असंयमभाव अन्तराधिकार पृ ९१. जयपुर प्रकाशन

यह असंयम श्रावक के दर्शनप्रतिमा (पहली) तक होता है। भावदीपिका में क्षायोपशमिकभाव के सम्यक्त्व-अन्तराधिकार में इस असंयम को भी समाविष्ट कर लिया गया है, जो दर्शन प्रतिमारूप है।[११३] यहाँ दर्शनप्रतिमा में असंयम हो कर भी सप्तव्यसन का त्याग, अभक्ष्यभक्षण का त्याग, अष्टमूलगुण का पालन तथा किंचित् अभ्यासरूप परिग्रहपरिमाण भी होता है, जो दर्शनाचारस्वरूप है और उसका वर्णन इसी अधिकार में सर्वप्रथम किया है, वह मूलतः पठनीय है और भी आगे कहा है कि उपचार से इस दर्शनप्रतिमा को अविरत (असंयत) कहते हैं। यही उसका दार्शनिक श्रावकपना है, जो सम्यक्त्वाचरणचारित्र या दर्शनाचार या **जघन्य स्वरूपाचरण चारित्ररूप होता है किन्तु उसे यहाँ गौण कर असंयम की ही संज्ञा दी गई है।** क्षायोपशमिक संयमासंयम को भी चारित्र का नाम देने में करणानुयोग संकोच करता है। वहाँ तो देशचारित्र नाम भी आगमसंमत है, फिर भी पूर्णता की दृष्टि से ही संयम न होनेसे किंचित् असंयम के खाते में क्षायोपशमिक संयमासंयम नाम से डाला गया है। इससे यह स्पष्ट है कि **संयमासंयम को भी अचारित्र की ही श्रेणी में रखा गया है।**[११४]

इसतरह से **करणानुयोग की दृष्टि अशुद्धता को प्रमुखता देने की है, जो अन्तरंग की अशुद्धता को ही देखता है। वहीं चरणानुयोग तो बाह्याचरण को ही स्पष्टता से प्रमुखता देता है। मात्र एकमेव द्रव्यानुयोग** ही ऐसा है जिसमें **मोक्षमार्ग की दृष्टि से अन्तरंग शुद्धता को ही प्रमुखता** दे कर बढते हुए शुद्धता के अंशों से परिणामों की **नापतौल** की जाती है। इससे जिस शुद्ध तथा अशुद्ध अंशों को साथ में लेकर चलनेवाले क्षायोपशमिक पर्याय में करणानुयोग अशुद्धता को नापता है, वहीं **द्रव्यानुयोग शुद्धता को नापता है और उसहेतु उसमें अध्यात्मभाषा और आगमभाषा रूप से स्पष्टीकरण किया गया है।** उनमें से **परमशुद्ध-निश्चयनय की प्रधानता को अध्यात्मभाषा उपादेय रूप से ग्रहण**

११३ - भावदीपिका पृ. १३५ ११४ - देशविरतसंयमासंयम तथा क्षायोपशमिक चारित्रभावाधिकार के भावदीपिका के प्रकरण पृ. १२८ से आगे.

करती है, प्रत्युत बचे हुए १. पूर्णशुद्धनिश्चयनय, २. एकदेशशुद्धनिश्चयनय तथा ३. अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कह कर वह **हेय** के खाते में ड़ालती है।

इस सम्बंध में नियमसार का यह कथन देखिये -

णो खइयभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा।।[११५]

अर्थात् क्षायिकभाव के स्थान, क्षायोपशमिकभाव के स्वभावस्थान, औदयिकभाव के स्थान तथा औपशमिकभावरूप जो स्वभावस्थान हैं, वे आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति के कारण नहीं है परन्तु त्रिकाल-उपाधिरहित ऐसा जिसका स्वरूप है, **वह निरंजन निज परमपारिणामिक पंचमभाव है, उसमें भावना से (उसके अभ्यास से या उसमें तन्मयता से) ही मुमुक्षु पंचमगति को प्राप्त होते हैं, मुक्ति को जाते हैं, पहले गये हैं और आगे भी जायेंगे।**[११६]

यह **जो परमपारिणामिकभावरूप जीवत्व है, वही अध्यात्मभाषा को ग्राह्य है।** इसलिये शेष चारों भाव, जिसमें क्षायिकभाव अत्यन्त शुद्ध है तथा कर्मों के क्षय से सादि-अनन्त शुद्ध हो कर भी और पूर्णदेश-शुद्धनिश्चयनय का विषय हो कर भी अन्य औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा औदयिक भावों (शुद्धाशुद्धपर्यायमय भावों) के साथ ही आत्मस्वभाव में से उसे बहिष्कृत कर दिया है।

आगे इसी नियमसार में कहते हैं कि - **जैसे सिद्धात्मा है, वैसे ही संसारी जीव भी उनके ही समान है, क्योंकि वे जन्म, जरा और मरण से मुक्त हैं तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं** तथा जैसे लोकाग्र में सिद्धभगवान अशरीरी हैं, अविनाशी हैं, अनिन्द्रिय है, निर्मल हैं, विशुद्ध आत्मा हैं, वैसे ही संसारी जीव भी (इसी परमशुद्धनिश्चयनय से) इस संसार में जानना चाहिये। ये सभी चारों औपशमिकादि भाव व्यवहारनय के आश्रय

११५ - नियमसार गाथा ४१ मूल. ११६ - नियमसार गाथा ४१ टीका.

से कहे गये हैं परन्तु सभी संसार में रहनेवाले संसारी जीव संसार में भी सिद्ध-स्वभावी ही हैं।[११७]

यह दृष्टि अध्यात्मभाषा की है, जो सभी जीवों में अनादिअनंत शुद्धता को ही देखती है तथा उसी समय उसी शुद्धता की प्रगटता या व्यक्तता जितनी जितनी अधिक होती जाती है, उस शुद्धता को ही मुख्यता देकर पर्यायगत अशुद्धता को वह गौण कर देती है, उसे दृष्टि से ओझल कर देती है, पर उसे नष्ट नहीं करती, केवल गौण ही करती है।

पंचास्तिकाय में षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय-वर्णन अधिकार में यह कहा है - **सभी संसारी स्थावरकाय जीव कर्मफलचेतना को, सभी त्रस जीव कर्मचेतना को तथा प्राणीपना से अर्थात् द्रव्यप्राणों से अतीत सिद्ध जीव ज्ञानचेतना को अनुभव करते हैं।**[११८]. इस गाथा की टीका में प्राणों से अतीत का अर्थ इंद्रियादि से रहित सिद्धों को ही ग्रहण न करते हुए **केवलज्ञानियों को भी ग्रहण किया है।**[११९] अन्यथा अर्हन्तों को भी कर्मचेतना कहने का प्रसंग आता। इस गाथा की दृष्टि भी **पूर्णशुद्धता** पर है, जबकि पंचाध्यायी उत्तरार्ध गा. ८२२ में तथा गा. १९८ में ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि को कही है। यही बात समयसार की आत्मख्याति टीका में इसप्रकार कही है - **१. कर्मचेतना** - ज्ञान से अन्यत्र यह मैं करता हूँ (अर्थात् ज्ञानकार्य के सिवाय अन्यत्र मैं यह करता हूँ) ऐसा चेतन करना (अनुभव करना) यह कर्मचेतना है। **२. कर्मफलचेतना** - ज्ञान के वेदन से अन्यत्र इसे मैं भोगता हूँ, ऐसा चेतन या अनुभवन करना यह कर्मफलचेतना है। यह दोनों प्रकार की अज्ञानचेतना सम्पूर्ण रूप से संसार का या बंध का बीज है क्योंकि संसार के बीज रूप जो आठ प्रकार के कर्म हैं, उनका बीज यह **कर्मफलचेतना और कर्मचेतना** है। इसलिये **मोक्षार्थी जीव को अज्ञानचेतना का नाश करने हेतु संपूर्ण कर्म-संन्यास में भावना तथा संपूर्ण कर्मफलों से संन्यास में भावना को नचाकर स्वभाव से**

११७ - नियमसार गाथा ४८ तथा ४९. ११८ - पंचास्तिकाय गाथा ३९ टीका.
११९ - पंचास्तिकाय गाथा ३९ टीका

उपजने वाली अकेली भगवती ज्ञानचेतना ही नित्य नचानी चाहिये।[१२०] यह मेरा कर्म है, मैंने यह कर्म किया है, इत्यादि अज्ञानभाव से ईहापूर्वक इष्ट-अनिष्टरूप से निरुपराग (रागरहित) शुद्धात्मानुभूति से च्युत हो कर मन-वचन-काय का व्यापार (क्रिया) करना, यह बंध की कारणभूत ऐसी कर्मचेतना है। निजस्वभाव से रहित अज्ञानभाव से यथासम्भव व्यक्त या अव्यक्त स्वभाव से इच्छापूर्वक जो इष्ट या अनिष्ट विकल्प होते हैं, उसरूप जो हर्ष या विषाद के रूप से अनुभव करना, वह ही बंध की कारणरूप कर्मफलचेतना है। यह दोनों चेतनायें त्यागनेयोग्य हैं।[१२१]

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि **अज्ञानचेतना जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप से दो प्रकार की कही गई है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानियों को होती है तथा ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को होती है।** यह समयसार की, प्रवचनसार की, नियमसार की तथा पंचाध्यायी आदि की दृष्टि कर्मसहित छद्मस्थ सम्यक्त्वी जीवों को कर्मसहित होते हुए भी सम्यग्दर्शन के बल से ज्ञानचेतनावाला कहने की और उसीसे अबंधक कहने की है, क्योंकि द्रव्यानुयोग के शास्त्र क्षायोपशमिक भाव में उपस्थित शुद्धता को ही दृष्टिगत करते हैं। यहाँ पर भी थोडा समयसार व प्रवचनसार की दृष्टियों में आंशिक भेद दिखता है। वह इसप्रकार है -

प्रवचनसार की शुद्धोपयोग का फल दर्शानेवाली गाथा १४ भगवत् कुन्दकुन्ददेव की है। ऐसा लगता है कि इसमें पूर्ण वीतरागी, पूर्ण ज्ञानी, संयमतपसंयुक्त व सुखदुःख में समताधारक को ही शुद्धोपयोगी कहने दृष्टि है। किन्तु एवंभूतनय से विचार करनेपर समयसार की या नियमसार की या प्रवचनसार की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है। यह तथ्य विद्वानों को तथा गुरुगणों को स्वीकार करना चाहिये। यह पहले ही सिद्ध किया गया है।

केवल सिद्धों में ही ज्ञानचेतना कहने वाले भी आचार्य कुन्दकुन्द ही है (देखें पंचास्तिकाय गाथा ३९) और **सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को भी**

---

१२० - समयसार गा. ३८७ आत्मख्याति टीका १२१ - समयसार गाथा ३८७ तात्पर्यवृत्ति

ज्ञानचेतनावाला अबंधक ज्ञानी कहनेवाले वे ही भगवत् कुन्दकुन्द ही हैं। (देखें समयसार और नियमसार की दृष्टि जो उपर दर्शाई है)। उनकी दृष्टि कहाँ-कहाँ किस-किस अपेक्षा से कथन करने की है, यह हमें उन्हीं की दृष्टि से परखने की कला सीखना योग्य है अन्यथा यह वाद विवाद में तथा विसंवाद में बढता ही चला जायेगा, मताग्रह बढ़ कर वह प्रत्यक्ष भगवत् कुन्दकुन्ददेव का ही मारक ठहरेगा।

अतः इसका निष्कर्ष भी यह निकलता है कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि का पद जघन्य अन्तरात्मा से उत्कृष्ट अन्तरात्मा तक **ज्ञानचेतनावाला** है, जो कर्म करने में या कर्मफल भोगने में कमजोरी या अपराध महसूस करता है। **इसी से वह कर्म तथा कर्मफल का केवल ज्ञाता रहता है।** सिद्धों को तो न कर्म करना शेष हैं और न कर्मफल भोगना शेष हे। पर पंचास्तिकाय में पूर्णता या अखंडता की अपेक्षा से प्राणातिक्रान्त सिद्धों का ग्रहण किया है। समयसार में इस से विपरीत आंशिक शुद्धता की अपेक्षा से वर्णन है अर्थात् अशुद्धनयवाले चौथे से बारहवें गुणस्थानवर्ती सम्यग्ज्ञानियों का वर्णन है।

अब इसी शृंखला में शुद्धोपयोग के सम्बंध में थोडासा विचार फिर से करते हैं। प्रवचनसार की चौदहवीं गाथा मे जो पूर्ण वीतरागी व पूर्ण ज्ञानी को शुद्धोपयोग कहा है, उसके संदर्भ में उसीकी तेरहवी गाथा में शुद्धोपयोग का अधिकार आरम्भ करते हुए प्रथमतः आत्मा के प्रोत्साहन के लिये शुद्धोपयोग के फल की प्रशंसा करते हैं। **(तत्र शुद्धोपयोगफलं आत्मनः प्रोत्साहनार्थं अभिष्टौति।)** ऐसी उत्थानिका दी है।[१२२] इस शुद्धोपयोग के फल को कहते हुए शुद्धोपयोगियों को जो सुख प्राप्त होता है, वह **(१) अतिशयस्वरूप है (अर्थात् अन्य सुखों से भी अपूर्व आह्लाददायी है), (२) पंचेंद्रियविषयों से अतीत है, (३) अनन्त है, (४) अनुपम है, (५) आत्मा से उपजता है तथा (६) वह अव्युच्छिन्न है (निराबाध है)** ऐसा तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं।[१२३]

---

१२२ - प्रवचनसार गाथा १३ उत्थानिका

१२३ - प्रवचनसार गाथा १३ मूल

तेरहवीं गाथा द्वारा ऐसा शुद्धोपयोग का फल जो तेरहवें गुणस्थान से आगे सिद्धों तक का बताया, उसी उपलक्ष्य में चौदहवीं गाथा आयी है, जिसमें ऐसे शुद्धोपयोग में परिणत आत्मा का स्वरूप बताया है।[१२४] यह गाथा समग्ररूप से पढने पर केवलियों का स्वरूप बताती लगती है, न कि उत्तरोत्तर कार्यकारणभाव की दृष्टि से। **पंद्रहवीं गाथा में** उपयोग-विशुद्ध अर्थात् शुद्धोपयोग-परिणत ऐसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मरहित और सभी ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त आत्मा का स्वरूप बताया है। अतः **चौदहवी गाथा की दृष्टि को** नौवीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति से मिलान करना चाहिये। **उसके अनुसार अप्रमत्तसंयतादि क्षीणकषाय पर्यन्त छह गुणस्थानों में तारतम्य से बढता हुआ शुद्धोपयोग होता है।**[१२५] इसी नौवीं गाथा में भगवत् कुन्दकुन्द कहते हैं - **जीव जब शुभरूप से या अशुभरूप से परिणमता है, तब वह शुभ या अशुभरूप होता है और जब शुद्धरूप परिणमता है तब शुद्ध होता है।**

अतः सातवें गुणस्थान से प्रमुखता से बढता हुआ शुद्धोपयोग आगे-आगे के गुणस्थान में होता है। यह शुद्धोपयोग उन पूर्ण शुद्ध वीतरागियों के शुद्धोपयोग के फल-रूप से होनेवाले अखंड शुद्धोपयोगरूप नहीं है, पर यह शुद्धोपयोग अशुद्धनिश्चयरूप सातवें से बारहवें गुणस्थानों में **खंडित शुद्धोपयोग** है। वह बारह कषायों के अभाव में वहाँ **ध्यान व ध्यानसन्तानरूप** होता है। इन ध्यान व ध्यानसन्तान के वर्णन हेतु प्रवचनसार की गाथा १९६ की तात्पर्यवृत्ति टीका द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है -

किंच किलात्मा शुद्धो जातः तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यानं क्रियते। तथाहि - ध्यानं ध्यानसन्तानस्तथैव ध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति। तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधो **ध्यानम्। तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा। अथ ध्यानसन्तानः कथ्यते** - यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता, पुनरपि अन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं, पुनरपि तत्त्वचिन्ता इति

---

१२४ - प्रवचनसार गाथा १४ तात्पर्यवृत्ति टीका उत्थानिका १२५ - प्रवचनसार गाथा ९ तात्पर्यवृत्ति

प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवत् अन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति **स ध्यानसन्तानो भण्यते। स च धर्म्यध्यान-सम्बन्धि। .....इदानीं ध्यानचिन्ता कथ्यते** -यत्र ध्यानसन्तानवत् ध्यानपरावर्तो नास्ति, ध्यानसम्बधि चिन्तास्ति, **तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यानं करोति तथापि सा ध्यानचिन्ता भण्यते। अथ ध्यानान्वयसूचनं कथ्यते** - यत्र ध्यानसामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यत् वा ध्यानसम्बन्धि संवेग-वैराग्यवचनं व्याख्यानं **वा तत्ध्यानान्वयसूचनं इति** [१२५अ] अर्थात् - इसका विशेष यह है कि ध्यान से आत्मा शुद्ध हुआ। इस विषय में चार प्रकार का व्याख्यान किया जाता है। वह है - ध्यान, ध्यानसन्तान. ध्यानचिन्ता, ध्यानान्वयसूचन। उनमें -

१) **ध्यान** - यह एकाग्रचिन्तानिरोधरूप हो कर शुद्ध व अशुद्ध रूप से दो प्रकार का है।

२) **ध्यानसन्तान** - जहाँ अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान होता है, बाद में अन्तर्मुहूर्त पर्यंत तत्त्वचिन्ता होती है, पुनश्च अन्तर्मुहूर्त पर्यंत ध्यान होता है, पुनश्च तत्त्वचिन्ता होती है, इस तरह प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान जैसा अन्तर्मुहूर्त-अन्तमुहूर्त जाने पर परावर्तन होता है, उसे ध्यानसन्तान कहते हैं। यह धर्म्यध्यानसम्बन्धी होता है।

३) **ध्यानचिन्ता** - जहाँ ध्यानसन्तान जैसा परावर्तन नहीं होता, पर ध्यानसंबंधी चिन्ता या चिन्तन होता है, वहाँ पर वह कभी-कभी ध्यान करता है, फिर भी वह ध्यानचिन्ता कही जाती है।

४) **ध्यानान्वयसूचन** - जहाँ ध्यान की सामग्रीरूप बारह अनुप्रेक्षायें या अन्य ध्यान संबंधी संवेग-वैराग्य का वचन या व्याख्यान किया जाता है, वह ध्यानान्वयसूचन है।

इसतरह छठवें, सातवें गुणस्थान में झूलने वाले मुनिराज ध्यान व ध्यानसन्तान रूप परावर्तन किया करते हैं अर्थात् सामायिकचारित्र व छेदोपस्थापना चारित्र के झूले में झूलते रहते हैं, जबकि पंचम व

---

१२५ अ - प्रवचनसार गाथा १९६ तात्पर्यवृत्ति

चतुर्थगुणस्थानवर्ती साधक कभी कभी शुद्धोपयोग में आ कर ध्यान भी करते हैं उसे ध्यानचिन्ता कहते हैं। ध्यानान्वयसूचन में ध्यान नहीं होता। **इनमें से ध्यान शुद्धोपयोगरूप है, वह प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानों में भी होता है इसीलिये चौथे पांचवें गुणस्थानों में भी कभी कभी ध्यान किया जाता है ऐसा ऊपर ध्यानचिन्ता में कहा गया है।**

अतः चौथे से छठवें गुणस्थान तक तरतमता से (प्रमुखता से) बढता हुआ शुभोपयोग कहा है और सातवें से दसवें गुणस्थान तक बढता हुआ शुद्धोपयोग प्रमुखता से कहा है। वहाँ पर भी चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व व चार कषायों के अभावरूप शुद्धता है, पांचवें गुणस्थान में आठ कषायों के अभाव रूप शुद्धता है तथा छठवें गुणस्थान में बारह कषायों के अभाववाली शुद्धता होते हुए भी प्रमाद की बहुलता है, इसलिये वहाँ पर भी शुभोपयोग ही बढता हुआ कहा है। **जैसे आम्रवन और निम्बवन।**[१२६] यहीं पर यह कथन भी द्रष्टव्य है कि श्रावकों को भी सामायिकादि काल में शुद्धभावना दीखती है, उसमें क्या विशेष है, इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य जयसेन समाधान देते हैं कि वे यद्यपि किसी काल में शुद्धोपयोग से रहते हैं फिर भी वे शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं।.....जैसे आम्रवन व निम्बवन।[१२७]

अतः शुभोपयोगी गृहस्थ के भी शुद्धोपयोग की सिद्धि इसतरह से आगम से ही सिद्ध हो गई है। इसमें शंका को कोई गुंजाईश नहीं है।

९. शुद्धोपयोग - भावना - ध्यान -

अब इस शुद्धोपयोग के स्वामी प्रकरण को अन्य दृष्टि से प्रस्तुत करता हूँ। वह दृष्टिकोण ध्यान-भावना प्रकरण का है।

ध्यान को भावना या मोक्षमार्ग रूप से आगम में निम्नानुसार बताया है। समयसार गाथा ३२० की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है - **अध्यात्मभाषया** पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोगः इति पर्यायसंज्ञां लभते। स च

१२६ - प्रवचनसार गाथा २४८ तात्पर्यवृत्ति

१२७ - प्रवचनसार गाथा २४८ तात्पर्यवृत्ति

पर्यायः ..... कथंचित् भिन्नः। कस्मात्। भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। ..... शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यत् औपशमिकादि भावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वात् मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः। यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स च शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति। **अयं तु मोक्षविचारो वर्तते। ..... मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिः तद्रूपश्च (शुद्धपारिणामिको) न भवति। ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानरूपो न भवति। ध्यानस्य विनश्वरत्वात्।**[१२८]

अर्थ - **अध्यात्मभाषा से पुनः जो शुद्धात्माभिमुखपरिणाम है, उसे ही शुद्धोपयोग यह पर्यायसंज्ञा प्राप्त होती है।** वह (शुद्धोपयोग) पर्याय शुद्धपारिणामिकभाव जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है, क्योंकि वह भावनारूप है। शुद्धपारिणामिकभाव भावनारूप नहीं है। ..... **शुद्धपारिणामिकभाव के विषय में जो भावना है, उसरूप जो औपशमिकादि तीन भाव हैं, वे समस्त रागादि से रहित होनेसे शुद्ध के उपादानकारण हैं।** अतः वे मोक्ष के कारण या मोक्षमार्ग है, पर शुद्धपारिणामिकभाव उसतरह (मोक्षका कारण) नहीं है। जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह शुद्धपारिणामिक भाव में पूर्व से ही रहता है। यह तो व्यक्तिरूप अर्थात् प्रगटरूप मोक्ष का विचार है। ..... मोक्ष के कारणभूत जो क्रिया है, वह शुद्धभावना-परिणति है, उसरूप से वह शुद्धपारिणामिकभाव नहीं है। इसलिये जाना जाता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं है, क्योंकि ध्यान तो विनश्वर है।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि **भावना या शुद्धोपयोग यह मोक्षमार्गस्वरूप है,** मोक्ष का उपादानकारण है। यह मोक्ष का कारण ध्यानस्वरूप है, जो विनश्वर है, जब कि जो त्रिकाली शाश्वत कारणपरमात्मा रूप शुद्धपारिणामिकभाव है, वह ध्येयरूप है, न कि ध्यानरूप या शुद्धोपयोग रूप। अतः **इस विनश्वर ध्यानरूप शुद्धोपयोग के फलरूप से प्राप्त**

१२८. समयसार गाथा ३२० तात्पर्यवृत्ति

होनेवाला अखंड-अनन्त शुद्धोपयोग वह प्रगट केवलज्ञानरूप है। शुद्धोपयोग का फल भी शुद्धोपयोगरहित नहीं है बल्कि शुद्धोपयोग-स्वरूप ही है। इतना विशेष यह है कि खंडित शुद्धोपयोग छद्मस्थ के होता है और वह मोक्षमार्गस्वरूप है, जबकि उसके प्रताप से मिलनेवाला मोक्ष या केवलज्ञानस्वरूप अखंड शुद्धोपयोग रूप फल है, वह भी शुद्धोपयोग ही है। इसे निम्नप्रकार देखा जा सकता है -

१. शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव	त्रिकाली कारणपरमात्मा ज्ञायकस्वभावी, जीवत्व त्रिकालमुक्त, जीवतत्त्व	ध्येय
२. छद्मस्थ का शुद्धोपयोग	मोक्षमार्गस्वरूप,भावनारूप विनश्वर, शुद्धपारिणामिक भाव का आश्रय लेनेवाला खंडित, खंडितसुखमय	ध्यान
३. केवली का शुद्धोपयोग	अखंडित, एकसमान, मोक्षस्वरूप, अनंतसुखमय	ध्यानफल

अब ध्यान का स्वरूप देखेंगे - १) उत्तमसंहनन वाले का एक विषय में चिन्ता (चिन्तन) को रोकना ध्यान है, जो अन्तर्मुहूर्त तक होता है। (उत्तमसंहननस्यैकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानं आ अन्तर्मुहूर्तात्।)[१२९] २) चित्त के विक्षेप का त्याग करना यह ध्यान है।[१३०] ३) इस ध्यान के लक्षण में एकाग्र शब्द के ग्रहण से व्यग्रता को छोडना ही हेतु है। ध्यान एकाग्र होता है, अन्यथा ज्ञान व्यग्र ही होता है।[१३१]. ४) जिसे राग-द्वेष-मोह नहीं है, योग की चंचलता नहीं है, उसे शुभ-अशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि उपजती है।[१३२] ५) निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चल रूप अवभास करनेवाला ज्ञान ही ध्यान है।[१३३]. अतः जो ध्यान है, वह वास्तव में ज्ञानरूप ही है। (तत्र ध्यानस्य ज्ञानात्मत्वमात्रेण नास्ति विवादः सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः। ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति परैरपि अभिधानात्।)[१३३अ]

इस ध्यान के आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान - ऐसे

---

१२९ - तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू.२७ १३० - सर्वार्थसिद्धि अ ९ सू २८ १३१ - तत्त्वानुशासन श्लोक ५९
१३२ - पंचास्तिकाय गा. १४६. १३३ - सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सू २७
१३३-अ - श्लोकवार्तिक अ. ९ सू. २७ कारिका ४ टीका

चार भेद हैं।[१३४] इनमें से अन्तिम दो अर्थात् धर्म्य और शुक्ल यह दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।[१३५] तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार भेद कहे हैं अवश्य, पर उनमें से अन्तिम दो को ही मोक्षमार्ग या मोक्ष का हेतु कहा है। पहले दो ध्यान संसारहेतु होने से आचार्य उमास्वामीजी ने उनका केवल जिक्र करना ही उचित समझा, क्योंकि यह मोक्षशास्त्र है।

धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान यही **दो ध्यान भावनास्वरूप** है, जिन्हें शुद्धात्माभिमुखपरिणाम, शुद्धोपयोग, शुद्धोपयोग-भावना, निर्विकल्प-समाधि आदि संज्ञायें भी प्राप्त होती हैं। इनमें से धर्म्यध्यान तो मोक्षमार्ग-स्वरूप है ही, पर शुक्लध्यान भी सिद्धदशा तक मोक्षमार्ग-स्वरूप ही है। यह दोनों ध्यान केवल एक शुद्ध परमपारिणामिकभावरूप चैतन्यमयी निजात्मा को ही ध्येय करनेवाले होते हैं। चूंकि यह दोनों ध्यान विनश्वर हैं, पर्यायरूप हैं और मोक्षमार्गस्वरूप हैं पर परमपारिणामिकभाव अविनश्वर है और ध्येयरूप है, वह मोक्षमार्गस्वरूप नहीं है, इसलिये वह ध्यान ही निश्चयमोक्षमार्ग है, संवर-निर्जरा का हेतु है। वह आत्माश्रित है, परद्रव्य इसका ध्येय नहीं होता। पंचपरमेष्ठि भी इसके ध्येय नहीं होते। **यह धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक होता है।**[१३५-अ]

इस धर्म्यध्यान के मुख्य और गौण ऐसे दो भेद हैं। अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान में यह मुख्य है तथा चौथे से छठवें गुणस्थान तक यह गौण है।[१३६] यह धर्मध्यान कहो या धर्म्यध्यान कहो दोनों एक ही है पर वास्तव में धर्म्यध्यान यह नाम ही सही लगता है, क्योंकि धर्मविषयक एकाग्रचिन्तानिरोध यह धर्म्यध्यान है। यही वास्तविक है। कहा भी है - **धर्मो वस्तुस्वरूपं, धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानं तृतीयम्।**[१३७] अर्थात् धर्म याने वस्तु का स्वरूप। उस को न छोडनेवाला ध्यान ही तीसरा धर्म्यध्यान है। और भी कहा है - **धर्म्यं धर्मे स्वस्वरूपे भवं ध्यानं धर्म्यं**

१३४ - तत्त्वार्थसूत्र अ.९ सू.२८
१३५ - तत्त्वार्थसूत्र अ.९ सू. २९ टीका
१३५-अ - सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सू.२७
१३६ - तत्त्वानुशासन श्लोक ४६ और ४७
१३७ - स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४७१ टीका

ध्यानम्।[१३८] अर्थात् धर्म्य याने निजस्वरूप में होनेवाला ध्यान ही धर्म्यध्यान हैं। अथवा वस्तुस्वभाव ही धर्म है, धर्म ही वस्तु या पदार्थ या द्रव्य है और वह द्रव्य आत्मा भी है। उस अपने आत्मस्वरूप को ध्यानेवाला ध्यान ही धर्म्यध्यान है, ऐसा मुनींद्रों ने कहा है।[१३९] ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं में ध्यान ही सारभूत और श्रेष्ठ है।[१४०] जिसप्रकार पाषाण में स्वर्ण और काष्ठ में अग्नि प्रयोग किये विना दिखाई नहीं देते, उसीप्रकार ध्यान के बिना आत्मा दिखाई नहीं देता।[१४१]

इस धर्म्यध्यान के निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद हैं। व्यवहार धर्म्यध्यान में शास्त्रों के अर्थ की खोज करना, शील और व्रतों का पालन करना, गुणाढ्यों में अनुराग करना, छींक, डकार, श्वासोच्छ्वास में मन्दता लाना, शरीर को निश्चल करना और आत्मा को व्रतों से युक्त करना, यह धर्म्यध्यान का बाह्य अर्थात् व्यवहार लक्षण है तथा अपायविचय आदि उसका आध्यात्मिक अर्थात् निश्चय लक्षण है।[१४२] यह धर्म्यध्यान बाह्य व अभ्यन्तर ऐसे दो प्रकार का है। जिसे अन्य लोग भी अनुमान से जान सके, वह बाह्य या व्यवहार धर्म्यध्यान है। इसमें सूत्रों के अर्थ की खोज, व्रतों को दृढ रखना, आदि बाह्य धर्म्यध्यान है। जिसे केवल अपना आत्मा ही जान सके, उसे आध्यात्मिक या निश्चय धर्म्यध्यान कहते है।[१४३]

यह निश्चय या वास्तविक या आध्यात्मिक धर्म्यध्यान मिथ्यादृष्टि को नहीं होता क्योंकि वह प्रमाण और नय (साधन) के द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसे नहीं जानता।[१४४] जो साक्षात् रत्नत्रय को प्राप्त नहीं करता और ध्यान करना चाहता है, वह वंध्यापुत्र को मुकुट चढ़ाना चाहता हैं।[१४५] सिद्धान्त में केवल मिथ्यादृष्टियों को ही ध्यान नहीं है, ऐसा कहा हो ऐसा नहीं है किन्तु जो जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा से प्रतिकूल है तथा जिन

---

१३८ - स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४७२ टीका
१३९ - भावसंग्रह गाथा ३७३
१४० - भगवतीआराधना गाथा १८६९
१४१ - ज्ञानसार श्लोक ३६
१४२ - हरिवंशपुराण ५६/३६ से ३८
१४३ - चारित्रसार १७२/३ की टीका
१४४ - नयचक्रवृत्ति श्लोक १७९
१४५ - ज्ञानार्णव अ.९ श्लोक ४

का चित्त चलित हैं और वे जैन साधु कहलाते है, उनके भी ध्यान का निषेध किया जाता है, क्योंकि उनके ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।[१४६]

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, वास्तविक धर्म्यध्यान नहीं है, यह बात स्पष्ट हो गयी। वास्तव में जो ध्यान है, वह निश्चय और व्यवहार दोनों नयों से किस प्रकार जाना जाता है, उसके गमक या साधन यह व्यवहारनय और निश्चयनय ही हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि को वास्तविक या निश्चय या आध्यात्मिक शुद्धोपयोगरूप ध्यान का अभाव होता है। इसलिये जैसा कि गत परिच्छेद में कहा है, उस निश्चय धर्म्यध्यान के साथ मित्रता निभानेवाला शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म्यध्यान भी उसे नहीं हो सकता। **मिथ्यादृष्टि के जो व्यवहार धर्म्यध्यान देखने में आता है, वह केवल वास्तव में व्यवहाराभास है। वह कतई व्यवहार-धर्म्यध्यान नहीं है। क्योंकि दोनों नय एकही उपस्थित वस्तु की दोनों कोणों से जानकारी देते हैं। नयों का स्वरूप भिन्न भिन्न अंशों से वस्तु की जानकारी कराना है या अधिगम कराना है। उस अधिगम हेतु वे साधन हैं।** कहा भी है - प्रमाणनयैरधिगमः। अर्थात् प्रमाण और नयों से अधिगम होता है।[१४६अ]

इस धर्म्यध्यान के स्वामी अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानवर्ती साधक होते हैं।[१४७] श्रेणी में आरोहण से पूर्व यह धर्म्यध्यान होता है।[१४८] मात्र धवलाकार ने इस धर्मध्यान के स्वामी चौथे से दसवें गुणस्थान तक के साधक हैं, ऐसा कहा है।[१४९] इस प्रकार आगम में दो अपेक्षाओं से दो धारायें प्रचलित हैं। पर चौथे या पांचवें गुणस्थानवर्ती साधकों को **भावनारूप या शुद्धोपयोगस्वरूप या निर्विकल्पसमाधिरूप या शुद्धात्मानुभूतिरूप या शुद्धात्माभिमुखरूप या शुद्धात्मसन्मुख-परिणामरूप जो धर्म्यध्यान है, उसी से वास्तविकता से कर्मों का संवर तथा निर्जरा होती है, क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती**

१४६ - ज्ञानार्णव अ.४ श्लोक ३०, १४६अ -तत्त्वार्थसूत्र अ.१ सू.६,
१४७-सर्वार्थसिद्धिअ.९ सू.३६टीका, १४८. सर्वार्थसिद्धि अ.९ सू.३७ टीका १४९. धवला५/४/२९/७४

तथा श्रावक अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती यह दोनों असंख्यातगुणी निर्जरा के क्रमशः स्थान है। (सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरता ..... असंख्येयगुणनिर्जराः।)[१४९अ] **वह निर्जरा भी शुद्धोपयोग से ही होती है, भलेही वह शुद्धोपयोग उन्हें स्थिरता की अपेक्षा से गौणरूप में कहा गया हो।** शुभोपयोग से तो शुभ कर्मों का आस्रव व बंध ही होगा। शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म्यध्यान से अविपाक-निर्जरा हो ही नहीं सकती, क्योंकि वहाँ उपयोग बाह्य विषय की तरफ मुड़ा हुआ होता है।

यहाँ यह **प्रश्न उपस्थित होता है कि** जिसे परम्परा से मोक्ष का साधक कहा है, ऐसा धर्म्यध्यान चौथे से सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोगस्वरूप ही है या शुद्धोपयोगस्वरूप भी या वह दोनों रूप है?

इसका **समाधान यह है कि** यह धर्म्यध्यान मोक्ष का हेतु है, यह तो तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय.९ के सूत्र २८ में **परे मोक्षहेतु** कह कर स्पष्ट कर दिया है तथा जो मोक्ष का हेतु है, वह तो संवर तथा निर्जरारूप ही है, क्योंकि वही मोक्षमार्ग है। वास्तव में जो निर्जरा है, वही एकदेश-मोक्षस्वरूप है, क्योंकि मोक्ष याने छूटना, कर्मों से रहित होना। निर्जरा में आंशिक कर्मों से मुक्ति होती ही है अर्थात् धर्म्यध्यान मोक्ष हेतु होने से संवर-निर्जरारूप ही है। इसी तरह शुक्लध्यान भी आठवें से बारहवें गुणस्थान तक मोक्षमार्गस्वरूप याने संवरनिर्जरा-स्वरूप ही है।

यदि धर्म्यध्यान को ही परम्परा-मोक्ष का हेतु कहा जाय, क्योंकि वह शुक्लध्यान में परिणत होकर ही मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण होता है या वह शुक्लध्यान में परिणत नहीं हुआ, तो वह खंडित होता हुआ प्रमत्त में आ जाता है, **तो यह शुक्लध्यान भी उपशमश्रेणी के आरोहक को खंडित हो कर नीचे पटक देता है।** यदि साधक चरमशरीरी न हो, तो वह ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे पहले गुणस्थानतक साधक को ले जा कर पटक सकता है। कहा भी है - **उपशान्तकषाय गुणस्थान में आयु के क्षय से**

१४९अ - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र ४७

मरण हो सकता है या फिर कषायों की उदीरणा होने से नीचे गिर जाता है।[१५०] औपशमिक चारित्र मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् निश्चयतः मोह का उदय होता है।[१५१] उपशान्तकषाय के अन्त्यसमय में उतरते हुए अप्रमत्तसंयतगुणस्थान को प्राप्त हुआ, वहाँ अप्रमत्त-प्रमत्त-अप्रमत्त-प्रमत्त इनमें हजारों बार गमनागमन कर पीछे संक्लेशवश प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय में देशसंयत हो कर अथवा अप्रत्याख्यान के उदय में असंयत होकर .....।[१५२] आदि। इसतरह यह शुक्लध्यान का स्वामी भी खंडित होकर नीचे गिरता है। इसलिये दसवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान को धवलाकार मान्यता देते हैं। **इसलिये यह सिद्ध होता ही है कि ग्यारहवें गुणस्थान का शुक्लध्यान सीधे तथा परम्परा से भी मोक्ष का कारण है।**

अतः केवल खंडित होने से ही वह परम्परा मोक्ष का कारण है, ऐसी बात सिद्ध नहीं हो सकती या वह शुभोपयोग रूप है, इसलिये वह परम्परा मोक्ष का कारण है, यह बात भी सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तुतः धर्म्यध्यान दो प्रकार का है, यह पहले ही सिद्ध किया है। उनमें से **निश्चय धर्म्यध्यान आत्माश्रित है और वह प्रत्यक्ष संवर-निर्जरा का कारण है, क्योंकि वह शुद्धोपयोगस्वरूप है।** उसके साथ रहनेवाला तथा व्यवहारनय से जानने में आनेवाला जो शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म्यध्यान है, वह शुभास्रव व शुभबंध का कारण है, जैसे गेहूं बोने पर पलाल-घास आदि उगता ही है, वैसे ही निश्चय धर्म्यध्यान, जो मोक्ष या संवर-निर्जरा का कारण है, उसके साथ व्यवहार धर्म्यध्यान आ ही जाता है। पर केवल शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म्यध्यान मिथ्यादृष्टि को ही होता है। वह भेदज्ञान से रहित होता है व वह केवल स्वर्ग सुख या लौकिक सुख को ही देकर नीचे तिर्यंचों में ले जा कर पटकने वाला है। छहढाला में कहा ही है -

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।[१५३]

१५० - राजवार्तिक अ. १० सू. १ वा, ३ १५१ - धवला ६/१-९-८/१४/३१७
१५२ - गोमटसार कर्मकांड जीवतत्त्वप्रज्ञापन गा. ५५०/७१३/९ १५३ - ठहढाला अ. ४ गा. ५

ऐसा केवल मिथ्यादृष्टि को होनेवाला निश्चय-विरहित धर्मध्यान **व्यवहाराभास** है, **व्यवहार धर्मध्यान का केवल स्वांग** है, अतः इन तीनों गुणस्थानों में तारतम्य से अशुभोपयोग ही कहा गया है।

परे मोक्षहेतू इस तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र से मोक्ष का कारण कहा जाने वाला धर्म्यध्यान यदि चौथे, पाचवें गुणस्थान में शुभोपयोगस्वरूप ही हो, तो वह वस्तुतः धर्म्यध्यान ही नहीं है। चूंकि शुभपरिणाम पुण्य है तथा अशुभ परिणाम पाप है, **क्योंकि** दोनों पर पदार्थ को विषय करने वाले अर्थात् पराश्रित ही होते है तथा पर में न जानेवाला **जो शुद्ध परिणाम है, वही दुःखक्षय का कारण होता है अर्थात् संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण होता है।**[१५४] यह शुभ परिणाम रागरूप होता है **क्योंकि** परिणामों से ही बंध या मोक्ष होता है। राग-द्वेष-मोहयुक्त परिणामों से बंध ही होता है, उनमें से मोह व द्वेषरूप अशुभ परिणाम या अशुभोपयोग है तथा राग यह शुभोपयोगरूप या अशुभोपयोगरूप होता है।[१५५] अव्रतों से अपुण्य अर्थात् पाप होता है और व्रतों से पुण्य होता है तथा पुण्य तथा पाप दोनों से रहित होना, उनका विनाश होना, यही मोक्ष है। अतः मुमुक्षुओं को अव्रतों की भांति व्रतों को भी छोडना चाहिए।[१५६] याने व्रतों को मोक्षमार्ग मानना छोड़ना चाहिये।

धर्म शब्द से जीव का शुद्ध परिणाम ही निश्चय से ग्रहण करना चाहिये। उस शुद्धोपयोग में वीतरागसर्वज्ञप्रणीत नयविभाग से सारे धर्म अन्तर्भूत होते हैं। १. अहिंसा लक्षण जो धर्म है, वह भी जीव के शुद्धभाव के बिना सम्भव नहीं होता।, २. सागार-अनगारलक्षण जो धर्म है, वह भी तथा उत्तम क्षमादिदशलक्षण धर्म है, वह भी जीव के शुद्धभाव की अपेक्षा करता हैं। ३. **सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।** इसमें कहा हुआ जो रत्नत्रय धर्म है, वह भी वैसा ही शुद्धभाव की अपेक्षा रखता है। ४. राग-द्वेष-मोहरहित लक्षणवाला जो धर्म है, वह भी जीवस्वभाव ही है। ५. वस्तुस्वभावरूप जो धर्म है वह भी वैसा ही है। ऐसे गुणों से विशिष्ट धर्म

१५४ - प्रवचनसार गाथा १८१ मूल, १५५ - प्रवचनसार गाथा ९८०, १५६ - समाधिशतक गा. ८३

चार गतियों में गिरने वाले जीव को धारण करता है, इसलिये वह धर्म है। **(संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।**

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है - पूर्वसूत्र में शुद्धोपयोग में संयमादिक सर्व गुण प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा, अब इस सूत्र में आप कहते हैं कि आत्मा का शुद्धपरिणाम ही धर्म है, उसमें सारे धर्म प्राप्त होते हैं। इन दोनों कथनों में क्या विशेष है? इसके **उत्तर** में आचार्य समाधान देते हैं कि - पहले सूत्र में **शुद्धोपयोगसंज्ञा** मुख्य थी, यहाँ **धर्म यह संज्ञा मुख्य** है, इतना ही विशेष है। इसलिये सर्वप्रकार से शुद्धपरिणाम ही करने योग्य है।देखें

(धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव ग्राह्यः।..... शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः।)[१५७] निश्चयधर्म की व्याप्ति व्यवहारधर्म से है पर व्यवहारधर्म की व्याप्ति निश्चयधर्म से नहीं है। इस विषय में और भी उद्धरण देखिये - अभ्यन्तर शुद्धि पर नियम से बाह्यशुद्धि अवलम्बित है क्योंकि अभ्यन्तर परिणाम निर्मल होने पर वचन-काय की भी प्रवृत्ति निर्दोष होती है और अभ्यन्तर परिणाम सदोष होने पर वचन-काय की प्रवृत्ति भी नियम से सदोष होती है।[१५८] और भी उद्धरण देखिये -

धर्म से लिंग होता है पर लिंगमात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। अतः हे भव्य! तू **भावरूप धर्म** को जान। केवल लिंग से तुझे क्या प्रयोजन? [१५९]

इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट ही होता है कि निश्चयधर्म तथा निश्चय धर्म्यध्यान के साथ व्यवहारधर्म तथा व्यवहार धर्म्यध्यान होता ही है और निश्चय धर्म तथा निश्चयधर्म्यध्यान न हो, तो व्यवहार धर्म तथा व्यवहार धर्म्यध्यान होता ही नहीं **क्योंकि** केवल व्यवहारधर्म के साथ निश्चयधर्म की व्याप्ति है ही नहीं। इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनि को भी जो शुभ रूप धर्म्यध्यान होता है, वह सम्यग्दर्शन के अभाव में निश्चय धर्म्यध्यान का भी अभाव होने से उसका साधक नहीं कहा जा सकता। **वह शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधक है ही नहीं। वास्तव में वह धर्म्यध्यान ही नहीं**

१५७ - परमात्मप्रकाश गा. २/६८ टीका १५८ - भगवती आराधना १३/४९
१५९ - लिंगपाहुड गाथा २

है किन्तु वह निश्चय से शुभ आर्त्तध्यान ही है। यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि **निश्चयधर्म्यध्यान ही शुद्धोपयोगस्वरूप होने से वास्तविक धर्म्यध्यान है व संवर-निर्जरा का कारण है।** तथा व्यवहारधर्म्यध्यान शुभोपयोगस्वरूप होने से वह शुभास्रव-शुभबंधकारक है तथा प्रमादस्वरूप है तो भी **मोक्षमार्ग में शुद्धोपयोग के साथ मित्रता निभा रहता है, इसलिये वह शुद्धोपयोग-साधक कहलाता है।** मोक्षमार्ग में वह गौणरूप से ग्राह्य है परन्तु दृष्टि में **वह तो हेय ही है,** इसलिये ऊपर कहे अनुसार कर्तव्य तो शुद्धोपयोग ही है, पर दृष्टि या अभिप्राय में शुभोपयोग हेय होने पर भी चारित्र की कमजोरीवश वहाँ शुभोपयोग आ ही जाता है और उसे साधक अपराधरूप से ही स्वीकार करता है क्योंकि उससे बंध ही होता है। इस पर **आपत्तिरूप में भावसंग्रह की यह गाथायें** उद्धृत की जाती है -

जं पुण वि णिरालंबं, तं झाणं गयपमायगुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ, धरियं जिणलिंगरूवस्स।।
जो भणइ कोइ एवं, अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं व णिरालंबं, ण मुणइ सो आयमो जइणो।।
कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि।
तम्हा स देसविरओ, मुक्खं धम्मं ण झाएइ।।[१६०]

इन गाथाओं का **अर्थ** इसप्रकार है - १. पुनश्च जो निरालम्ब अर्थात् पर के आलम्बनरहित ध्यान है, वह प्रमादरहित अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में गृहत्यागी जिनलिंगधारी मुनि को होता है। २. वह निश्चल, शुद्ध व निरालम्ब ध्यान गृहस्थों को होता है, ऐसा यदि कोई कहता है, वह यतियों का आगम नहीं जानता। ३. दृष्टिवाद अंग में गुणस्थानों के अनुसार ध्यान कहे गये हैं, इसलिये वह देशविरत पंचम गुणस्थानवर्ती मुख्य धर्म्यध्यान को नहीं जानता (ध्याता)।

---

१६०. भावसंग्रह गाथा ३८१ से ३८३

इन गाथाओं का जो भाव है, उसपर से यह स्पष्ट है कि चौथे, पांचवें, गुणस्थानवर्ती जीव को धर्म्यध्यान तो होता ही है, पर वह धर्म्यध्यान जो निश्चल व निरालम्ब है, वह गृहस्थ को नहीं होता किन्तु इसका मिलान अन्य आगमों से भी करना होगा। राजवार्तिक ग्रन्थ में प्रश्न किया है कि **धर्म्यध्यान तो अप्रमत्तसंयत को ही होता है, अन्यों को नहीं।** इस के उत्तर में यह समाधान दिया है कि - **नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से पहले के अर्थात् चौथे, पांचवे व छठ्वें गुणस्थान में धर्म्यध्यान का निषेध प्राप्त हो जायेगा परन्तु सम्यक्त्व के प्रभाव से असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयतों में भी धर्म्यध्यान होना इष्ट है।**[१६१]

इसपर से स्पष्ट होता है कि भावसंग्रह के दृष्टिकोण से अप्रमत्त गुणस्थानों में जैसा निरालम्ब धर्म्यध्यान होता है, वैसा निरालम्ब धर्म्यध्यान चौथे और पाचवें गुणस्थानों में नहीं होता। इसका ही अर्थ यह है कि वहाँ गौणरूप से धर्म्यध्यान होता है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां केवल व्यवहार धर्म्यध्यान ही होता हो। वहाँ का जो धर्म्यध्यान है, वह निश्चयनय से जघन्यरूप से शुद्धोपयोगात्मक है तथा वह अल्प काल होता है और वहाँ बहुत काल तक शुभोपयोगात्मक शुद्धोपयोग का साधक व्यवहारधर्म्यध्यान होता है, इसीलिये उसे गौण होने से दुर्लक्षित कर दिया गया है। इस हेतु भावसंग्रह का यह उद्धरण देखिये -

अहवा वत्थुसहावो धम्मो वत्थू पुणो वि सो अप्पा।
झायंताणं कहियं धम्मज्झाणं मुणिंदेहिं।।[१६२]

अर्थात् अथवा **जो वस्तुस्वभाव है, वह ही धर्म है और वह वस्तु ही धर्म है तथा वह वस्तु आत्मा ही है। उस आत्मा को ध्यानेवाले को मुनीन्द्रों ने धर्म्यध्यान कहा है।** अतः निश्चयधर्म्यध्यान में आत्मा से एकाग्रता होने से वही मुख्य धर्म्यध्यान है और जो व्यवहार धर्म्यध्यान है, वह आत्मा से अन्य पररूप में एकाग्र होकर ध्याता है, उस पररूप में

---

१६१ - राजवार्तिक अ.१ सू. ३६ वार्तिक १३, १६२ - भावसंग्रह गाथा ३७३

पंचपरमेष्ठि, भेदरूप सात तत्त्व, भेदरूप आत्मा के विकल्प आदि विषय आते है, वे मुख्य ध्यान के सहकारी है। उनका मुख्य आधार निश्चय सम्यक्त्व है, उसके अभाव में मिथ्यादृष्टियों को होनेवाली वही क्रियायें वास्तविक धर्म्यध्यान नहीं है। इसे राजवार्तिक में इसतरह स्पष्ट किया है -

यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण है, इसलिये जिस ध्यान से निर्जरा होती है, उसे ही यहाँ गिना है। सम्यग्दृष्टि के सिवा कर्म की निर्जरा नहीं होती। मिथ्यादृष्टि को जो शुभध्यान है, वह शुभबंध का कारण है। अनादि से कई बार ऐसे ध्यान से शुभकर्म बांधे हैं परन्तु निर्जरा के बिना वह मोक्षमार्ग नहीं हैं। इसलिये मिथ्यादृष्टि का ध्यान मोक्षमार्ग में ग्राह्य नहीं है।[१६३] धवलाजी में भी कहा है -

चारित्र भावना के बल से जो ध्यान में लीन है, उसके नूतन कर्मों का ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है व शुभकर्मों का आस्रव होता है।[१६४] अथवा जैसे मेघपटल पवन से ताडित होकर क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही (धर्म्य) ध्यानरूपी पवन से ताडित हो कर कर्मरूपी मेघपटल भी विलीन हो जाते है।[१६५]

इसपर से यह स्पष्ट है कि **धर्म्यध्यान मोक्षमार्ग ही है व मोक्षमार्ग क्षयोपशमरूप है, इसलिये वह शुद्धता-अशुद्धता को लिये हुए है।** उसमें शुद्धता के अंश से निर्जरा होती है व अशुद्धता के अंश से शुभास्रव होता है। यह दोनों एकही समय के क्षायोपशमिक परिणाम से ही होते हैं। उस शुद्धता और अशुद्धता का परिमाण निम्न प्रकार है -

(अगले पृष्ठ पर)

---

१६३ - राजवार्तिक अ. ९ सू. ३६/हिंदी टीका/.७४७

१६४ - धवला-१३/५-४-२६/८८

१६५ - धवला १३/५-४-५७/७७

गुणस्थान	शुद्धता का अंश (निर्जरा)	अशुद्धता का अंश (बंध)
१. पहला गुणस्थान	शून्य	सभी कषायों से सहित
२. चौथा गुणस्थान	चार कषायों से रहित	बारह कषायों से सहित
३. पांचवाँ गुणस्थान	आठ कषायों से रहित	आठ कषायों से सहित
४. छठा-सातवाँ गुणस्थान	बारह कषायों से रहित	चार कषायों से सहित

इसतरह शुद्धता के अंश से निर्जरा व अशुद्धता के अंश से बंध होना ही अकेले एक ही **क्षायोपशमिक भाव की नियति** है। पर उसके पीछे सम्यग्दर्शन का वरदहस्त होने से उसकी दृष्टि में सारे शुभ-अशुभ कषायों के अंश बंधनकारक व संसारवर्धक होने से वे हेय ही हैं, क्योंकि वे मोक्षमार्ग स्वरूप नहीं है। ऐसा होने पर भी चारित्र की कमजोरी से वे कषाय उसे आते ही रहते हैं, जिसके लिये वह प्रतिक्रमणादि करते रहता है। उसका कारण यही है कि वह उसे हेय जानता है अन्यथा प्रतिक्रमणादि का उसे प्रयोजन ही क्या है?

इसलिये ऐसा मानना कि चौथे, पांचवे, छठवें गुणस्थान में केवल शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म्यध्यान ही होता है और सातवें से ले कर शुद्धोपयोगरूप निश्चय धर्म्यध्यान ही होता है, ऐसी मान्यता सत्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, क्योंकि धर्म्यध्यान मोक्ष या संवरनिर्जरा का ही हेतु है।[१६६] तो फिर शुभोपयोग को मोक्ष का या संवर या निर्जरा का हेतु मानना यह कतई युक्तियुक्त नहीं है।

परन्तु जिनकी मान्यता इसप्रकार दृढ हो चुकी है, ऐसे महामान्य विद्वान तथा त्यागी भी यदि शुभोपयोग से निर्जरा होती है, इस मान्यता की पुष्टि करने से नहीं चूकते, तो इसे सुधारना ही उनके लिये अभीष्ट होगा। **शुभोपयोग शुभरागरूप हो कर भी वही बंध के साथ निर्जरा भी करता है, ऐसा उन्हें आगमविपरीत कथन करना पडता है, यह उनके लिये दैवदुर्विलास है।** वे चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग का अभाव सिद्ध

---

१६६ - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र २८

करने हेतु ही शुभोपयोग से बंध और निर्जरा दोनों सिद्ध करना चाहते हैं। धवलामहाशास्त्र में **शुद्धोपयोग (पूर्णता की या अखंडता की अपेक्षा से) ग्यारहवें गुणस्थान से ही होता है, ऐसा कहा है।**[१६७] इसका आधार ले कर वे शुभोपयोग से बंध के साथ मोक्ष भी सिद्ध करना चाहते हैं।

परन्तु दूसरी अपेक्षा से **अशुद्धनय में शुद्धोपयोग की दृष्टि से अध्यात्मभाषा से मोक्षमार्गरूप से शुद्धोपयोग का ग्रहण है।** पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में स्पष्ट कहा है कि **जितने अंशों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उतने अंशों में बंधन नहीं है और जितने अंशों में राग है, उतने अंशों से बंधन है।**[१६८]

अपूर्ण या एकदेशरूप से जो रत्नत्रय में भावना की जाती है, उसके बल से उस साधक को (शुभ) कर्म का बंध होता है, वह बंध विपक्ष अर्थात् रागकृत है। (उस अपूर्ण या एकदेशरूप से भाये हुए रत्नत्रय में) जो निश्चयरत्नत्रय है, वह मोक्ष का उपाय है, वह बंधन का उपाय नहीं है।[१६९].

यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदिक के जब तक कर्म का उदय रहता है, तबतक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? इस के उत्तर में समयसार कलश में आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं -

यावत् पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यक् न सा
कर्म-ज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः।।[१७०]

अर्थात् **जबतक ज्ञान की कर्म से विरति पूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तबतक वह सम्यक् नहीं है। तबतक कर्म और ज्ञान का समुच्चय (एकत्र सहवास) भी कहा गया है, इसमें कुछ भी क्षति या हानि नहीं है।** किन्तु यहाँ पर विशेषता यह है कि इस आत्मा में कर्म के

---

१६७ - धवला पुस्तक १३/८१ १६८ - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २१२ से २१४
१६९ - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २११ १७० - समयसार कलश ११०

उदय की जबर्दस्ती से आत्मा के वश के विना कर्म का उदय होता है, वह तो बंध का ही कारण है और मोक्ष के लिये तो बस एक परमज्ञान ही है। **वह ज्ञान कर्म से आप ही रहित है, कर्म के करने में अपने स्वामित्वरूप कर्तृत्व का भाव नहीं है।** और भी देखें -

परद्रव्यपरिणति के साथ शुद्धात्मपरिणति मिश्रित होने से शुभोपयोगी चारित्र है। अतः शुद्धात्मा के अनुराग से युक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।[१७१]

इससे सिद्ध होता है कि ऐसे मिश्रोपयोगरूप छद्मस्थ के **उपयोग में शुद्धता का अंश कर्मनिर्जरा का कारण है व कर्म के उदयरूप राग के परिणमन का अंश कर्मबंध का ही कारण है।** अतः चौथे गुणस्थान में भी निश्चय धर्म्यध्यानरूप शुद्धोपयोग के साथ ही शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म्यध्यान भी मिश्रित है। अतः वहाँ संवर-निर्जरा के साथ आस्रव-बंध भी होते हैं। वैसे केवलियों को भी ईर्यापथ आस्रव होने का विधान आगमसम्मत है।

स्याद्वादसिद्धान्तरहस्य पुस्तक में स्वाध्यायप्रेमी १०८ श्रुतसागरमुनिराजजी ने स्पष्ट किया है कि **(चौथे गुणस्थान में) दर्शनमोहनीय के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व के साथ औपशमिक भाव अथवा क्षयोपशम से प्राप्त क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ क्षायोपशमिकभाव तथा क्षय से क्षायिकसम्यक्त्व के साथ क्षायिकभाव होते है। वैसे ही अनन्तानुबंधी कषायों के उपशम या विसंयोजन से उनके उदय का अभाव होता है,** इस कारण से **स्वरूपाचरणचारित्र अर्थात् सम्यक्त्वाचरण चारित्र प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में शेष अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय से संयमाचरण चारित्र का लेश भी नहीं होता (व्रतपालन की भावना भी नहीं होती)।** अतः अविरतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से इसे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। ..... अर्थात् **शुभोपयोग के गर्भ**

---

१७१. प्रवचनसार गा. २४६ तत्त्वप्रदीपिका टीका

में शुद्धोपयोग का जन्म हुआ है। यही शुद्धोपयोग अर्थात् वीतरागांश है।[१७२] वे आगे और भी कहते हैं -

चौथे से सातवे (जघन्यस्वस्थानअप्रमत्त) गुणस्थानों में **सप्रत्यनीकशक्तितया** अर्थात् वहाँ कषायों के तीव्र उदय से वीतराग चारित्र को वे प्रगट नहीं होने देते, ऐसे विरोधी शक्ति से वह सहित है। अतः यहाँ का वीतरागांश स्वकार्यकरण हेतु अर्थात् शुद्धोपयोग का कार्य करने में असमर्थ है। इसका अर्थ यह है कि वह वीतरागांश छद्मस्थ को बुद्धिगोचर न हो कर अबुद्धिगोचररूप से कार्य करता है, अतः वह वीतरागांश असमर्थ है।.....**गुणस्थान ४ से ७ तक जघन्यस्वस्थानांश में वीतरागांश असमर्थ होने से व रागांश समर्थ होने से शुद्धात्मानुभूति के समय शुभोपयोग मुख्य होता है व शुद्धोपयोग गौण होता है। ..... सातवें गुणस्थान के उत्कृष्टस्वस्थानअप्रमत्त से दसवें गुणस्थान तक जो वीतराग अवस्था है, इस अवस्था में शुद्धोपयोग मुख्यरूप से और शुभोपयोग गौणरूप से ही होता है। इस नियम का भंग कोई नहीं कर सकता है, ऐसा निःशंक समझें।**[१७३]

इसका सन्दर्भ प्रवचनसार की गाथा ११ की टीका के उस अंश से है, जहाँ आ. अमृतचंद्र लिखते हैं - **यदा अयं आत्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोग-परिणतिमुद्वहति तदा निष्प्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरण-समर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणत-स्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्य-करणासमर्थः कथंचित् विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्त-घृतोपसिक्तपुरुषः दाहदुःखमिव स्वर्गसुखमवाप्नोति। अतः शुद्धोपयोगः उपादेयः शुभोपयोगः हेयः।** [१७४]

अर्थात् जब यह आत्मा धर्मपरिणतस्वभाववाला होता हुआ शुद्धोपयोगपरिणति

---

१७२ - वर्तमान मुनिराज श्रुतसागरजी रचित स्याद्वादसिद्धान्तरहस्य चार्ट १ - स्वात्मोपलब्धि का विकास पृष्ठ २ १७३ उसी स्याद्वादसिद्धान्तरहस्य चार्ट २. पृ. ४-५-६

१७४ - प्रवचनसार गा. ११ तत्त्वप्रदीपिका टीका

को धारण करता है - बनाये रखता है, तब वह विरोधी शक्ति से रहित होने से अपना कार्य करने में समर्थ होता है और तब वह साक्षात् मोक्ष पाता है तथा जब **धर्मपरिणतस्वभाववाला होने पर भी** शुभोपयोगपरिणति से युक्त होता है, तब वह विरोधी शक्ति से सहित होने से अपना कार्य करने में असमर्थ होता हुआ कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला होता है, ऐसे चारित्रगुण से युक्त होने से जैसे अग्नि से तप्त घी किसी के शरीर पर डालनेपर जैसा वह दुखकारी होता है, उसीतरह वह स्वर्गसुख के बंध को प्राप्त होता है। **अतः शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।**

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि **एक समय में छद्मस्थ के उपयोग में मिश्रधारा चलती है, उसमें से जो बलवान होता है, उसको मुख्य और दूसरे को गौण कहा जाता है।** यह श्री श्रुतसागर मुनिराज जी के उपर्युक्त उद्धरणों से तथा प्रवचनसार के उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है।

प्रवचनसार की गाथा ११ की उत्थानिका में आचार्यश्री अमृतचंद्र कहते हैं - **चारित्रपरिणामसंभववतोः शुद्धशुभपरिणामयोः उपादान-हानाय फलं आलोचयति।** अर्थात् चारित्रपरिणाम से सम्बंध है जिनका ऐसे जो शुद्ध व शुभ द्विविध परिणाम हैं, उनके क्रमशः ग्रहण व त्याग के लिये उनके फल का विचार करते हैं।[१७५]

आचार्य जयसेन भी इसी गाथा की उत्थानिका में कहते हैं - **वीतराग-सरागचारित्र-संज्ञयोः शुद्ध-शुभोपयोगपरिणामयोः संक्षेपेण फलं दर्शयति।** अर्थात् वीतराग और सरागचारित्र के नाम से कहे जानेवाले शुद्ध तथा शुभ उपयोग से परिणत आत्मा के परिणामों का फल संक्षेप में दिखाते हैं। आगे इसी गाथा ११ की टीका में वे कहते है -

इह धर्मशब्देन अहिंसालक्षणः सागार-अनगाररूपः उत्तमक्षमादिलक्षणः रत्नत्रयात्मकः वा तथा मोहक्षोभरहितः आत्मपरिणामः शुद्धवस्तु-स्वभावश्चेति गृह्यते। अर्थात् यहाँ पर धर्मशब्द से अहिंसा है लक्षण

---

१७५ प्रवचनसार गाथा ११ उत्थानिका

जिसका, सागार-अनगाररूप है जिसका, उत्तमक्षमादि लक्षण है जिसका तथा जो रत्नत्रयात्मक है व मोहक्षोभ से रहित है, ऐसा आत्मा का परिणाम ही **शुद्धवस्तुस्वभाव** है, वही यहाँ पर ग्रहण किया जाता है।

इसी की अगली टीका का शब्दशः भाव इस प्रकार है -

वही धर्म चारित्र है। वह **चारित्र अपहृतसंयम व उपेक्षासंयम के भेद से दो प्रकार का है।** उनमें से जो शुद्धसंप्रयोग शब्द से कहा जाने वाला शुद्धोपयोगस्वरूप वीतरागचारित्र है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग में रहने की शक्ति का अभाव होने पर जब शुभोपयोगरूप सराग चारित्र से वह परिणमित होता है, तब पहले कहे हुए अनाकुलता-लक्षण पारमार्थिक सुख से विपरीत आकुलता उत्पन्न करनेवाले स्वर्गसुख को वह पाता है। बाद में परमसमाधि की सामग्री के सद्भाव में मोक्ष को पाता है। यह सूत्रार्थ है।[१७६]

इस पूरे विवेचन से आगम की साक्षि में यह स्पष्ट होता है कि **सागार श्रावक हो या अनगार मुनि हो, वह अहिंसा लक्षण धर्म से, दशलक्षण धर्म से, रत्नत्रय धर्म से या मोहक्षोभरहित धर्मरूप आत्परिणाम से, जिसे चारित्र के नाम से कहा जाता है, उस चारित्र से वह रिक्त या रहित नहीं होता।** इतना ही है कि **जब शुद्धोपयोग का जोर होता है तब वह विरोधी (सप्रत्यनीक) शक्ति से रहित होता है तथा जब शुभोपयोग का जोर होता है तब सप्रत्यनीक अर्थात् विरोधी शक्ति सहित होने से वह शुद्धोपयोग का फल जो मोक्ष (पूर्ण मोक्ष या अपूर्ण मोक्ष संवर-निर्जरा) पाने/करने में असमर्थ होता है। किन्तु गृहस्थ में शुद्धोपयोग का अभाव ही है व मुनिराज सातवें गुणस्थान से शुद्धोपयोगी ही है तथा वहाँ अबुद्धिपूर्वक शुभोपयोग का अभाव ही है, यह मान्यता आगम के परिप्रेक्ष्य में टिकती नहीं है।**

---

१७६. प्रवचनसार गा. ११ तात्पर्यवृत्ति

अतः तरतमता से चौथे से छठवें गुणस्थान तक जो **शुद्धोपयोगसाधक शुभोपयोग** कहा है, वह केवल मुख्यता की अपेक्षा से है, न कि शुद्धोपयोग के अभावरूप से, क्योंकि वह वहाँ पर गौणरूप से है। सातवें से दसवें गुणस्थान तक छद्मस्थता होने से वहाँ भी क्षयोपशमरूप मिश्रोपयोग है, इसलिये वहाँ शुद्धोपयोग मुख्य है व शुभोपयोग गौण है। यह वस्तुस्थिति है। वहाँ क्षायिकचारित्र नही है।

इसलिये चौथे गुणस्थान में भी **जो वीतरागांश** है, उसकी वहाँ अल्पता होने से उसे वहाँ गौण कर दिया है, उसे नकारा नहीं गया है। यह सत्यस्थिति है। चौथे से छठवें गुणस्थान तक तरतमता से शुभोपयोग कहने में वहाँ अशुभोपयोग का या शुद्धोपयोग का अभाव ही है ऐसा नहीं है। वहाँ वह दोनों नगण्य है इतना ही, अन्यथा श्रेणिकराजा क्षायिकसम्यक्त्वी हो कर भी अशुभोपयोग का अभाव होता, तो वह नर्क नहीं जा सकता था।

प्रवचनसार में इसे आम्रवन व निम्बवन के उदाहरण से समझाया गया है।[१७७] वह अशुभोपयोग भी वहाँ सम्यग्दर्शन के पुनीत सान्निध्य से पावन हो गया है व शुभोपयोग की बहुलता में अपना अस्तित्व मानो खो बैठा है। इसीलिये उसे मानों तरतमता से शुभोपयोग में छिपा दिया हो ऐसा ध्वनित होता है। इसीतरह शुद्धोपयोग भी मानो शुभोपयोग के गर्भ में छिपा छिपा सा रहता है। वह न तो प्रगट दीखता है, न वह अधिक स्थिरता के अभाव में साधक को बुद्धिगम्य ही होता है। पर वह अपना इष्ट फल जो संवर निर्जरा है, उसे अपने उस सीमितकाल में ही प्राप्त करा देता है, यही उस शुद्धोपयोग का उपकार वहाँ है।

इसप्रकार चौथे गुणस्थानवर्ती साधक भी शुद्धोपयोग का स्वामी है, क्योंकि वह निश्चयधर्म्यध्यान का स्वामी है अर्थात् शुद्धभावना, शुद्धात्मानुभूति-भावना का भी स्वामी है। इसकी आगम की उपर्युक्त

१७७ - प्रवचनसार गा. २४८ तात्पर्यवृत्ति, १७८ - पंचास्तिकाय गा. १४१

प्रकार से साक्षि है।

१०. क्या पुण्य से पाप की निर्जरा होती है या केवल बंध ही?

इस परिप्रेक्ष्य में आगम के निम्न उद्धरण देखिये -

(१) इंदियकसायसण्णा, णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु भावेहिं।
जावत् तावत् तेहिं पिहितं पावासवच्छिद्दं।।[१७८]

अर्थात् इंद्रिय, कषाय व संज्ञाओं को भलीभांति भावों के द्वारा निग्रहित किया है, वह निग्रह जितना है, उतना पापास्रव का छिद्र उनका बंद हुआ है।

(२) **एवं व्रत-समितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरभूतानां यद् व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकस्य व्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि, तानि पापास्रवसंवरकारणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवर-कारणानि ज्ञातव्यम्।**[१७९] अर्थात् इस प्रकार जो व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, बारह अनुप्रेक्षायें, परीषहजय और चारित्रों के भावसंवर के कारणभूतरूप से व्याख्यान किया है, **उसमें निश्चयरत्नत्रय के साधक व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभोपयोग के प्रतिपादक जो वाक्य है, वे वाक्य पापास्रव के संवर के कारण जानने चाहिये और व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभोपयोग से साध्य जो शुद्धोपयोग-लक्षण रत्नत्रय है, उसके प्रतिपादक जो वाक्य हैं, वे पुण्य और पाप दोनों के संवर के कारणरूप है, ऐसा जानना चाहिये।**[१८०]

(३) पांच महाव्रतों से नियमपूर्वक पांच अविरति रूप परिणामों का संवर होता है। और कषायरहित परिणामों से क्रोधादिरूप कषायों के द्वार बंद हो जाते हैं।[१८०अ]

---

१७९ - बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ३५ टीका, १८० - बृहद् द्रव्यसंगह गा.३५ टीका पृ. १४९
१८०अ - बारस अणुवेक्खा गाथा ६२

इस प्रकार इन तीनों वाक्यों से (उद्धरणों से) यह जो व्यवहाररत्नत्रय को पापास्रव के संवर का कारण कहा हैं, उसकी अपेक्षा यदि ध्यान में न ली जायें, तो व्रतादि प्रवृत्तिरूप शुभोपयोग को ही संवर का कारण मानने की भूल उपजती है व पुष्ट होती जाती है। यही मिथ्यात्व की पुष्टि करनेवाली है। पहले वाक्य में इंद्रिय-कषायादि संज्ञाओं का निग्रह जितने अंशों में किया है, उतने अंशों में पापास्रव का छिद्र उन्होंने बंद किया है। **यहाँ जो निग्रह की बात है, वह प्रवृत्ति रूप है। इसमें रोकने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति शुभोपयोगरूप है। यह व्यवहाररत्नत्रयरूप प्रवृत्ति निश्चयरत्नत्रय की साधिका है।** छद्मस्थ का उपयोग एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं टिक सकता। कहा भी है - **उत्तमसंहननस्यैकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानम् आ अन्तर्मुहूर्तात्।**[१८१] अर्थात् उत्तमसंहननवाले का एक विषय पर चिन्तन रुकनेरूप जो ध्यान है, वह अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है।

और भी देखें - **अंतोमुहुत्तमेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं। झाणं मण्णदि समए असुहं च सुहं च तं दुविहं।।**[१८१अ] अर्थात् चेतना का उपयोग एक वस्तु में एक अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकता है, उसे आगम में ध्यान कहते हैं, वह शुभ व अशुभ दो प्रकार का है। ऐसा ही समयसार गाथा १७१ की टीका, महापुराण पर्व ३१ गा. ३८ से ४४ तक आदि में कहा है। और भी देखें -

नानार्थावलंबनेन चिन्ता परिस्पन्दवती। तस्याः अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन् अग्रे नियमः एकाग्रचिन्तानिरोधः इत्युच्यते। अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तम्। मुहूर्त इति कालपरिमाणम्। अन्तर्गतो मुहूर्तः अन्तर्मुहूर्तः। आ अन्तर्मुहूर्तात् इति अनेन कालावधिः कृतः। ततः परं दुर्धरत्वात् एकाग्रचिन्तायाः।[१८२] अर्थ - नाना पदार्थों के अवलंबन से चिन्ता अर्थात् चिन्तन परिस्पन्दरूप भटकता है (एक विषय पर स्थिर नहीं रह सकता।) उसे अन्य सभी मुखों (विषयों) से हटा कर एक ही अग्र में (विषय

१८१ - तत्त्वार्थसूत्र अ.९ सू. २७, १८१अ - कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७०,
१८२ - सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सू २७ टीका

में या आत्मा भी विषय होने से आत्मा में भी) रोकना, नियमित करना यह एकाग्रचिन्तानिरोध है। उससे ध्यान का स्वरूप कहा है। मुहूर्त यह काल का माप है। मुहूर्त (४८ मिनट) के अंदर (अडतालीस मिनटों से एक समय कम) यह उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। सब से जघन्य अंतर्मुहूर्त तो एक आवली से अधिक है, जो एक श्वासोच्छ्वास का असंख्यातवाँ भाग है। **आ अन्तर्मुहूर्तात्** इससे काल की मर्यादा बतायी है। इससे आगे एक विषय में चिन्तन रोकना (छद्मस्थ को) दुर्धर है, अशक्य है।

इससे यह स्पष्ट है कि जो उपयोग एक विषय में टिकता है अर्थात् एक ही विषय में एक आवली तक प्रतिसमय बदलनेवाली उपयोगरूपी ज्ञान की पर्यायें टिकती हैं, वही एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान है। **जहाँ प्रतिक्षण विषय बदलते हो, वह ध्यान नहीं, प्रत्युत वह व्यग्र होने से ज्ञान ही है, ध्यान नहीं है।** देखें राजवार्तिक का यह उद्धरण -

एकाग्र्यवचनं वैयग्र्यनिवृत्यर्थं। एकाग्र्यवचनं क्रियते वैयग्र्यनिवृत्यर्थं। व्यग्रं हि ज्ञानमेव न ध्यानम्।[१८३]

इसपर से यह सिद्ध होता है कि व्यग्रता ध्यान नहीं है, बल्कि वह ज्ञान ही है, जब कि एकाग्रता ही ध्यान है। वह ध्यान~आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान इस तरह चार भेदोंवाला है।[१८४] इस सूत्र से यह भी सिद्ध हुआ कि चारों ही ध्यान एकाग्रता में ही होते हैं व वह एकाग्रता उपयोग के न भटकनेरूप है। यह आर्त्त व रौद्रध्यानों के लिये भी लागू होती है। मिथ्यादृष्टि जीवों का उपयोग प्रमुखता से या तारतम्य से बाह्यविषयों में ही तन्मय हो कर एकाग्र होता है, उनमें अपनापन करता है, उन्हें आत्मरूप से अनुभवता है, इसलिये वह इन दो ध्यानोंरूप से मुख्यता से **अशुभोपयोग** ही कहलाता है। यह सब मिथ्यात्व का ही प्रभाव है, जो उसे अनन्त अर्थों या पदार्थों में या विषयों में आत्मरूप अनुभव कराता है, उन जैसा अपने को अनुभवने लगाता है।

---

१८३ - राजवार्तिक अ. ९ सू. २७ वार्तिक १२ १८४ - तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. २८

पर सम्यग्दृष्टि इससे विपरीत स्वयं के ज्ञायकस्वरूप को ही स्वसंवेदन में ले कर उसे ही स्वरूप से अपनाता है व इसलिये वह अन्तरात्मा बनता है। उससमय उस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से अनन्तानुबंधी की चारों कषायें भाग जाती हैं, वहाँ रुकती ही नहीं। ये कषायें मिथ्यात्व के सद्भाव में उसके प्रभाव से अनन्त पदार्थों में अपनापन या ममत्व कराती थी, वह प्रभाव अब क्षीण हो गया तथा निज शुद्ध ज्ञायक स्वरूप में अहं को स्थापित कर पर को पररूप से अनुभव में लिया गया। इसलिये उसका उपयोग इस तरह के स्वसंवेदन या आत्मानुभूति के काल में शुद्धोपयोगरूप परिणम कर औपशमिक या क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शनरूप भावों में परिणत हो गया। **उससमय वह साधक, चाहे वह असंयमी मिथ्यादृष्टि हो, तो भी उसने स्वसंवेदन में निर्विकल्प अनुभव कर स्वयं को चौथे गुणस्थान में स्थापित कर लिया। यदि वह मिथ्यात्व के साथ देशसंयम की साधना करता हो, तो उसने स्वयं को पांचवें गुणस्थान में स्थापित कर लिया। तथा यदि मिथ्यात्व के साथ वह महाव्रतधारी मुनि हो, तो उसने अपने को निर्विकल्प अनुभव द्वारा सातवें गुणस्थान में स्थापित कर लिया।**

उस तरह यह निर्विकल्प अनुभव कहो या शुद्धात्मानुभूति कहो या प्रत्यक्षानुभूति कहो या शुद्धोपयोग कहो, यह ही त्रिकाली ध्रुव शाश्वत कारणपरमात्मस्वरूप का अनुभव है, **यही प्रत्यक्ष मोक्षस्वरूप का संवेदनरूप अनुभव वह वर्तमान पर्याय में लेता है।** यह संवर-निर्जरा का कारण है। शुभोपयोग तो पर-सापेक्ष है व शुभराग सहित उपयोग है, पराधीन है, इसलिये वह पुण्य का ही बंध करने वाला है, संवर या निर्जरा का कारण नहीं है। **इस शुभोपयोग को व्यवहार से धर्म कहा जाता है, पर वह वास्तव में धर्म ही नहीं है।**

अब देखिये कि जो यह कहा जाता है कि **शुभोपयोगरूप पुण्यभाव पाप के संवर-निर्जरा का कारण होता है,** यह बात वास्तविक रीत्या या

निश्चय से देखा जाये तो आगम के परिप्रेक्ष्य में सही नहीं है क्योंकि जितने अंशों में शुभराग है, वह उतने अंशों में बंध का ही कारण है, वह निर्जरा करनेवाला नहीं है। फिर पुण्य से पाप की या शुभ से अशुभ की निर्जरा होती है, इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि **जब शुभरागसहित शुभोपयोग है, तब पुण्य का ही बंध होता है, पाप नहीं होता, इसलिये पापबंध नहीं होता,** अर्थात् वहाँ संवरपूर्वक निर्जरा नहीं है, **वास्तविक वह सविपाकनिर्जरा** है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस शुभ परिणाम से कर्म का आना रुका हो या कर्म का आस्रव रुका हो। उससमय पापकर्म के परमाणु नहीं आते, इसलिये महज यह कहा जाता है कि पापास्रव का संवर हो गया।[१८४अ] **पर पुण्य का आस्रव तो हुआ ही है। उससमय कर्म उतने ही रहे, पाप के घटे और पुण्य के बढे।** योग तो उतना ही है।

कहा भी है - **शुद्धोपयोगलक्षण जो निश्चयरत्नत्रय है, उसे बतलानेवाले वाक्य पुण्य व पाप दोनों का संवर करनेवाले होते हैं।**[१८५] यहाँपर पुण्य और पाप दोनों के बंधक शुभराग व अशुभराग का अभाव होने से वह **शुद्धोपयोग** ही वस्तुतः संवर-निर्जरा का कारण है। शुभोपयोग कतई कारण नहीं है। उसे व्यवहारनय से पाप के संवर का कारण कहा जाता है। व्यवहार से शुभराग पाप-संवरकारक है, ऐसा कथन अव्रती को व्रतों में उद्युक्त करने हेतु तात्कालिक उपयोगी है, इतना ही। पर वास्तविक धर्मज्ञ को वह वस्तुस्वरूप से विरुद्ध ही लगता है. क्योंकि -

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान विना सुख लेश न पायो।।[१८६] तथा
तहँते चय थावरतन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।[१८७]

इस प्रकार व्रत-ग्रहण से वह व्यवहारसंयमी तो बनता है, व्यवहार धर्म्यध्यान भी करता है, बाह्य तपों को तपकर कायक्लेश भी करता है,

१८४ अ. द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका
१८५ - द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका
१८६ छहढाला ढाल ४ श्लोक ४ व ५
१८७ - छहढाला ढाल १ श्लोक १७

प्रायश्चित्तादि अंतरंग तप भी करता है, परीषहों को सहता है, इतना करने पर भी उसका गुणस्थान पहला ही रहता है, क्योंकि खूंटे से बंधी नाव के समान यह व्यवहारी साधक मिथ्यात्व के खूंटे से बंधा ही रहता है, इसलिये उसका गुणस्थान पहला ही होता है, इसीलिये संसारसागर में से मोक्ष की तरफ उसका एक डग भी बढता नहीं। मोक्षमार्ग प्रारंभ ही न होने से गुणस्थान पहला ही रहता है, इसीलिये वह संसारमार्गी ही रहता है।

यदि यह कहो कि शुभोपयोग से ४-५-६ गुणस्थानवर्ती को निर्जरा अर्थात् **अविपाकनिर्जरा** होती है, तो सातवें गुणस्थानवर्ती को भी शुभोपयोग से ही निर्जरा होनी चाहिये। ऐसा तो नहीं हो सकता कि चौथे से छठे तक का शुभोपयोग यह निर्जरा का निकष हो और सातवें से दूसरे निकषवाला शुद्धोपयोग हो। पर वास्तव में **निश्चयनय से वह शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभूति ही अविपाकनिर्जरा का कारण हो सकती है**, शुभोपयोग कतई नहीं। शुभोपयोग तो बंधक ही है। उससमय पाप का आस्रव न हो कर पुण्य का आस्रव होता है, इसलिये वह पापास्रव का संवर करनेवाला है, ऐसा व्यवहारनय से कहा गया है। देखो यह उद्धरण -

१. उपयोग शुभ हो तो जीव को पुण्य का संचय होता है और यदि अशुभ हो तो पाप का संचय होता है व दोनों के अभाव में संचय नहीं होता।[१८८]

२. जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं तथा अशुभ परिमाम पाप है। उन दोनों के द्वारा पुद्गल ही कर्मपने को प्राप्त होते है।[१८९]

३. **रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहः। तत्रानुकूलरूपा वा मनोगुप्तिः सहानया।।**[१९०] अर्थात् रूढि से ही शरीर की व वचन की क्रियायें शुभावह धर्म कहलाती है। उनके अनुकूल मनोगुप्ति भी उनके साथ धर्म कहलाती है।

---

१८८ - प्रवचनसार १५६ व रयणसार ६४ व ६५ १८९ - पंचास्तिकाय मूल १३२
१९० - पंचाध्यायी ३/७१८

४. पूयादिसु वयसहियं, पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।[१९१]

अर्थात् जिनशासन में व्रतसहित पूजादिकों में निश्चय से पुण्य ही कहा है और मोह व क्षोभ से रहित अर्थात् मिथ्यात्व व राग-द्वेष से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है।

इस सम्बन्ध में करणानुयोग का महान ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति क्या कहता है यह भी देखें, जिसमें भी पुण्य को हेय ही कहा है। -

झाणे जदि णिय अप्पा णाणादो णावभासदे जस्स।
झाणं होदि ण तं पुण, जाण पमादो हु मोह मुच्छा वा।।४४।।
पुण्णेण हवइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं, तम्हा पुण्णो विवज्जेज्जो।।५६।।
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो।।५७।।

अर्थ - यदि ध्यान में ज्ञान के द्वारा आत्मा अवभासित या जाना नहीं जाता तो उसके ध्यान ही नहीं होता। उसका वह प्रमाद या मोह या मूर्च्छा ही निश्चय से है ४४. पुण्य से वैभव मिलता है, वैभव से मद होता है और मद से बुद्धि मोहित हो कर भ्रष्ट होती है तथा उससे पाप होता है। इसलिये पुण्य छोड़ना चाहिये ५६. परमार्थ से जो बाहिर है, वे अज्ञान से पुण्य चाहते हैं, इसलिये वे मोहग्रस्त होकर घोर ससार में घूमते हैं।५७.

निष्कर्ष - इसप्रकार व्यवहारनय से व्रतादि शुभ परिणामों को या शुभोपयोग को धर्म कहना यह रूढि है व वास्तव में वह पुण्य का ही बंधक है। वह मोक्ष या संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। उसे शुद्धोपयोग के संग के ही कारण परम्परा से धर्म कहा गया है। इसी शुद्धोपयोग के समागम से वह शुभोपयोग भी पावन व पवित्र बन गया है व परम्परा से मोक्ष का कारण बनने का सौभाग्य उसने प्राप्त किया है **क्योंकि निर्जरा तो शुद्धता**

१९१ - भावपाहुड ८३ १९१ अ - तिलोयपण्णत्ति भाग ३ णवम महाहियारो.

के अंशों से ही होती है और उस शुद्धोपयोग से मित्रता निभाने के ही कारण शुभोपयोग को पापास्रव की निर्जरा करनेवाला कहा है। इसलिये वास्तव में शुभोपयोग पापास्रव का संवर या निर्जरा करनेवाला नहीं है, यह सुस्पष्ट सिद्ध हो गया।

११. चौथा गुणस्थान और धर्म्यध्यान - अब इसी परिप्रेक्ष्य में चौथे गुणस्थान में व पांचवें में भी धर्म्यध्यान की क्या स्थिति है, इसकी समीक्षा करेंगे। धर्म्यध्यान के स्वामी चौथे से सातवें गुणस्थानवर्ती है। देखें यह उद्धरण -

१. अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः।
धर्म्यध्यानस्य चत्त्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः।।
मुख्योपचारभेदेन धर्म्यध्यानमिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम्।।[१९२]

अर्थ - अप्रमत्तसंयत, प्रमत्तसंयत, अविरतसम्यग्दृष्टि व देशसंयमी ये चार तत्त्वार्थसूत्र में धर्म्यध्यान के स्वामी कहे गये हैं। यह धर्म्यध्यान मुख्य तथा उपचार के भेद से दो प्रकार का है। वह अप्रमत्तों में मुख्य है व दूसरों में औपचारिक है अर्थात् गौण है।

२. धर्म्यध्यान चार प्रकार का है। वह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत व अप्रमत्तसंयत साधकों को होता है।[१९३]

३. कश्चिदाह - **धर्म्यं अप्रमत्तसंयस्यैव इति तन्न। किं कारणम्? पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसंगात्। असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्तसंयतानामपि धर्म्यध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभावात्।**[१९४] अर्थ - कोई कहता है कि धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयत के ही होता है किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि पहले के अर्थात् चौथे, पांचवें व छठवें गुणस्थानवालों की धर्म्यध्यान से निवृत्ति हो जायेगी। असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत व प्रमत्तसंयतों को भी धर्म्यध्यान

१९२ - तत्त्वानुशासन ४६ व ४७
१९३ - सर्वार्थसिद्धि अ ९ सू.३६ टीका
१९४ - राजवार्तिक अ ९ सू.३६ वा. १४

इष्ट है, क्योंकि वहाँ सम्यक्त्व का प्रभाव है।

४. **धवलाजी में भी कहा है** - असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत व अप्रमत्तसंयत आदि दसवें गुणस्थानतक धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति होती है।[१९५] तात्पर्य यह है कि सातवें गुणस्थान जैसा ही चौथे गुणस्थान में भी धर्म्यध्यान होता है।

यह तो पहले ही सिद्ध कर आये हैं कि **धर्म्यध्यान खंडित होता है, इसीलिये उसे परम्परा मोक्ष का कारण कहा है।** उपशमश्रेणीवालों का शुक्लध्यान भी खंडित होता है। केवल क्षपकश्रेणीवालों का शुक्लध्यान खंडित न हो कर केवलज्ञान को उत्पन्न करता ही है तथा वह अखंड रहता ही है। उस शुक्लध्यान के ही प्रताप से केवलज्ञान का सूर्य उदित होता है और वह अखंडित रहता है। तेरहवें गुणस्थान में भी दूसरा व तीसरा शुक्लध्यान रहता है व सिद्धावस्था भी चौदहवें गुणस्थान के चौथे शुक्लध्यान से ही जन्मती है, यहाँ पर केवल शुक्लध्यान ही रहता है।

पर यह नियम शुभोपयोग पर लागू नहीं होता। **शुभोपयोग में से शुद्धोपयोग का जन्म होता ही है ऐसा नियम नहीं है।** शुद्धोपयोग के रहते हुए ही केवलज्ञान व मोक्ष का जन्म होता है, पर शुभोपयोग रहते हुए शुद्धोपयोग जन्मेगा ही यह घटित नही हो सकता। छद्मस्थ को मिश्रोपयोग होता है, तब उसके बंध तथा मोक्ष के कारण संवर व निर्जरा साथ साथ चलते हैं। देखे यह उद्धरण -

१. **यावत् पाकमुपैति कर्मविरति.....परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः।।**[१९६]

अर्थात् जब तक (अविरतसम्यग्दृष्टि आदि) छद्मस्थ साधकों की कर्म से विरति पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक कर्म तथा ज्ञान का समुच्चय मिश्रधारा रूप में रहने में कोई हानि नहीं है। यहाँ पर यह विशेषता है कि इस आत्मा में कर्म के उदय की जोरावरी या जबर्दस्ती से आत्मा का वश न चलने से कर्म का उदय होता है, वह तो बंध के लिये ही है और मोक्ष

---

१९५ - धवला १३/५-४/२६/७४-१० १९६ - समयसार कलश ११० आत्मख्याति

के लिये तो केवल एक परम ज्ञान ही है। वह ज्ञान कर्म से आप (स्वयं) ही रहित है। (कर्म के करने में कर्म के स्वामित्व वा कर्तापने का भाव नहीं है।)

२. **परद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगिचारित्रं स्यात्। अतः शुभोपयोगि-श्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रलक्षणं।**[१९७] अर्थात् शुद्धात्मा में वृत्ति (सत्ता) परद्रव्यप्रवृत्ति के साथ मिश्रित होनेसे शुभोपयोगीचारित्र है। इसलिये शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का चारित्र है।

३. **रागादिभेदविज्ञाने जाते अपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यते एव। तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति, तस्य भेदविज्ञानफलं अस्ति इति ज्ञातव्यम्।**[१९८] अर्थात् रागादि से भेदविज्ञान होने पर भी जितने अंशों में रागादि का अनुभवन करता है, उतने अंशों में वह बंधता ही है। उसे भी रागादि से भेदविज्ञान का फल नहीं मिलता और जो रागादि का भेदविज्ञान होने पर रागादिक का त्याग करता है, उसको भेदविज्ञान का फल मिलता है, यह जानना चाहिये।

४. **अर्हदादिभक्तिसम्पन्नः कथंचित् शुद्धसंप्रयोगोऽपि सन् जीवो जीवत्-रागलवसद्भावात् शुभोपयोगतामजहत् बहुशः पुण्यं बध्नाति। न खलु सकलकर्मक्षयं कुरुते। ततः सर्वत्र रागकणिका अपि परिहरणीया परसमय-प्रवृत्तिनिबन्धनत्वात् इति।**[१९९] अर्थात् अर्हन्तादिक के भक्ति से सम्पन्न होते हुए भी वह जीव कथंचित् शुद्धसंप्रयोगवाला होने पर भी शुभोपयोगीपने को उसने छोड़ा नहीं होने से बहुत पुण्य बांधता है परन्तु वह वास्तव में सकल कर्म का क्षय करने की शुरुआत ही नहीं कर सकता। इसलिये सर्वत्र राग की कणिका भी छोड़नी चाहिये, क्योंकि वह परद्रव्य की प्रवृत्ति से बंधी या जुडी हुई है।

इन सभी उद्धरणों का तात्पर्य एक ही है कि जो राग का अंश मिश्र

---

१९७ - प्रवचनसार गा. २४६ तत्त्वप्रदीपिका टीका
१९८ -द्रव्यसंग्रह गा. ३६ टीका
१९९ - पंचास्तिकाय गा. १६६ तत्त्वप्रदीपिका टीका

उपयोग में छद्मस्थ को होता है, वह बंधन का ही कारण है। उसी समय वहाँ पर जो शुद्धोपयोग का अंश है, वह ज्ञानस्वरूप होने से मोक्ष का कारण है। शुभोपयोग तो केवल बंध का ही कारण है, न कि मोक्ष का।

चूंकि धर्म्यध्यान को मोक्ष का हेतु कहा है।[२००] इसलिये चौथे से छठवें गुणस्थान तक होनेवाले धर्म्यध्यान को केवल शुभोपयोगरूप ही कहना योग्य नहीं है, क्योंकि वह धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शनपूर्वक है और वह औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिकभावस्वरूप होता है, उससमय दर्शनमोहनीय की तीन व चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम व क्षय या विसंयोजना से वह धर्म्यध्यान उत्पन्न हुआ है, अतः वह शुद्धोपयोगमूलक होने से मोक्ष का कारण है, वही निश्चयधर्म्यध्यान है। उससे हटने पर जो जिनेन्द्रपूजनादिरूप शुभोपयोग की प्रवृत्ति रहती है, वह व्यवहाररूप या औपचारिक या गौण धर्म्यध्यान है, जो चौथे या पांचवें गुणस्थानों में मुख्यरूप से रहता है। **वहाँ पर जो शुद्धोपयोग का अस्तित्व है, वह निश्चय धर्म्यध्यानस्वरूप है और वह आम्रवन व निम्बवन के दृष्टान्त के समान है।**[२०१] जैसे आम्रवन में नीम के कुछ वृक्ष व नीम के वन में आम के कुछ वृक्ष होने में कुछ विरोध नहीं है।

तत्त्वानुशासन गाथा ४७ का जो सन्दर्भ दिया है, उसके अनुसार यह निश्चय धर्म्यध्यान अप्रमत्तों में मुख्य है और चौथे से छठवें तक वह गौण है। ऐसी गौण-मुख्य व्यवस्था सर्वत्र जानेनी चाहिये। अन्यथा व्यर्थ का विसंवाद बेरोकटोक चलता रहेगा व अनिर्णय नही टूटेगा।

इसीलिये चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग न माननेवालों को भी प्रवचनसार का यह कथन शिरोधार्य करना चाहिये कि शुद्धोपयोगियों को भी कभी कभी शुभोपयोगभावना दीखती है, **श्रावकों को भी सामायिकादि काल में शुद्धभावना दीखती है,** इसमें कौनसी विशेषता है, ऐसा पूछने पर समाधान करते हैं कि आपने ठीक ही कहा, परन्तु जो प्रचुरता से

---

२०० - तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. २८ २०१ - प्रवचनसार गा. २४८ तात्पर्यवृत्ति

शुभोपयोग में रहते हैं, वे यद्यपि किसी काल में शुद्धोपयोग में भावना करते हैं, तथापि उन्हें शुभोपयोगी ही कहा जाता है। पर जो शुद्धोपयोगी भी है, वे यद्यपि कभी कभी शुभोपयोग में रहते हैं, फिर भी वे शुद्धोपयोगी ही हैं। **क्योंकि आम्रवन व नीम के वन के समान बहुपद का दृष्टान्त वहाँ जानना चाहिये।**[२०२]

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि **चौथे गुणस्थानवर्ती को शुद्धोपयोग कभी कभी होता है अर्थात् वहाँ मोक्ष का हेतु जो निश्चय धर्म्यध्यान तथा दर्शनाचार, दर्शनाराधना या सम्यक्त्वाचरणरूप स्वरूपाचरण चारित्र भी उसे निश्चय से है, क्योंकि यह सम्यग्दर्शनपूर्वक होते हैं।** वह सम्यग्दर्शन भी करणलब्धिरूप सविकल्प-धर्म्यध्यान से जन्मा है, जो निश्चय से सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि की अवस्था है, उसके अनन्तर समय में जो अन्तरकरणरूप उपशम होता है, वह उससमय की निर्विकल्प अवस्था में वह सम्यग्दर्शन होता है अथवा वह निर्विकल्प अवस्था ही औपशमिक सम्यग्दर्शन है। इस सम्बंध में आगम की साक्षि क्या कहती है यह देखेंगे

(१). **इति गाथाकथित लब्धिपंचकसंज्ञेन अध्यात्मभाषया निज-शुद्धात्माभिमुख-परिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्ति इति।**[२०३] अर्थ - (आगमभाषा से) ऐसे गाथा में कही हुई पांच लब्धि नाम के तथा अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम नाम के निर्मलभावना के विशेष तलवार से पुरुषार्थ कर कर्मशत्रु को मारता है।

(२) **तथा मानस्तम्भावलोकनमात्रादेव आगमभाषया दर्शन-चारित्र-मोहनीयोपशम-क्षयसंज्ञेन अध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेन मिथ्यात्वं विलयं गतम्, तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम्। ..... एवं सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञान-तपश्चरणव्रतोपशम-ध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यक् भवति। तदभावे विषयुक्तदुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम्।**[२०४] अर्थात् उसी तरह इंद्रभूति को

२०२ - प्रवचनसार गा. २४८ तात्पर्यवृत्ति
२०३ - द्रव्यसंग्रह गा. ४१ टीका
२०४ - द्रव्यसंग्रह गा ४१ टीका

केवल मानस्तम्भ के दर्शनमात्र से ही जिसे **आगमभाषा से दर्शन और चारित्र मोहनीय का उपशम या क्षय कहा जाता है तथा अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम कहा जाता है, उस से कालादिलब्धि के विशेष से मिथ्यात्व विलीन हो गया।** ..... इस तरह सम्यक्त्व के माहात्म्य से ज्ञान-तपश्चरण-व्रत-उपशमभाव (प्रशम) व ध्यान आदि भी जो मिथ्यारूप थे, वे सम्यक् हो जाते हैं। उस सम्यक्त्व के अभाव में विषमिश्रित दूध के समान सभी ज्ञान-तपश्चरणादि व्यर्थ ही है, ऐसा जानना चाहिये।

इस तरह से **करणलब्धिरूप सविकल्प धर्म्यध्यान ही शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग है, जो मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है और उससे ही निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति निश्चय से साधी जाती है।** क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन सहित जो चौथे से छठवें गुणस्थानों में ऐसी **आगमभाषा से** सविकल्प धर्म्यध्यानरूप शुभोपयोग की स्थिति है, वह क्रमशः चौथे गुणस्थानवर्ती की छह महिनों के भीतर, पांचवें गुणस्थानवर्ती की पंद्रह दिनों के भीतर तथा छठवें गुणस्थानवर्ती की अन्तर्मुहूर्त के भीतर शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प धर्म्यध्यान को सिद्ध करती ही है। अन्यथा वह निम्न गुणस्थानों में पटक देगी, क्योंकि **इन कषायों का वासनाकाल उतना ही है।**[२०५] इस वासनाकाल का स्वरूप इसप्रकार है -

अंतोमुहुत्तपक्खं छम्मासं संखसंखभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण।।

टीका - उदयाभावे अपि तत्संस्कारकालः वासनाकालः, स च संज्वलनकषायानां अन्तर्मुहूर्तः, प्रत्याख्यानावरणानामेकपक्षः अप्रत्याख्यानावरणानां षण्मासाः अनंतानुबंधिनां संख्यातभवाः असंख्यातभवाः अनंतभवाः वा भवन्ति नियमेन।[२०६] अर्थात् अंतर्मुहूर्त, पक्ष, छह माह, तथा संख्यात, असंख्यात व अनन्तभव यह क्रमशः संज्वलन,

---

२०५ - गोमटसारकर्मकांड जीवतत्त्व-प्रज्ञापनगाथा ४६

२०६ - चारित्रसार ९०/१ तथा गोमटसार कर्मकांड जीवप्रज्ञापन गा. ४६ व ४७ टीका

प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण व अनन्तानुबंधी कषायों का वासना काल नियम से है। **टीका** - उदय का अभाव होते हुए भी **उस-उस कषाय का जो संस्कार रहता है, वही वासनाकाल कहलाता है।** वह वासनाकाल संज्ज्वलनकषाय का अन्तर्मुहूर्त, प्रत्याख्यानावरण कषाय का पंद्रह दिन, अप्रत्याख्यानावरण कषाय का छह माह व अनंतानुबंधी का वासनाकाल संख्यातभव, असंख्यातभव अथवा अनंतभव नियम से होता है।

इसी की ढूंढारी टीका में इस का विशेष स्पष्टीकरण उदाहरण देकर किया है - जैसे काहू पुरुष ने क्रोध किया, पीछे क्रोध मिटि और कार्यविषैं लग्या, तहां क्रोध का उदय तो नाहीं, परन्तु वासना काल रहे, तेतै जोहस्यो क्रोध किया था, तोहस्यौ क्षमारूप भी न प्रवर्तै, **सो ऐसे वासनाकाल पूर्वोक्तप्रमाण सब कषायनि का नियम से जानना।**

इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि संज्ज्वलन कषाय का वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त हे। इस वासनाकाल में यदि शुद्धोपयोग हो कर कषायरहित आत्मा का अनुभव न किया जाय, तो वह अन्तर्मुहूर्त के उल्लंघन से प्रत्याख्यानावरण कषायसहित हो जायेगा व पांचवें गुणस्थान में आयेगा ही। वहाँ भी यदि उसके पंद्रह दिनों के वासनाकाल में शुद्धोपयोग करने से रहा, तो वह अप्रत्याख्यानावरण कषायसहित हो कर चौथे गुणस्थान में आ जायेगा। वहाँ भी यदि छह महिनों में शुद्धोपयोग करने से चूका, तो अनन्तानुबंधी कषाय का उदय हो कर वह मिथ्यात्व में उसे संख्यात, असंख्यात या अनन्तभवों के लिये फेंक देगा। तो भी पहले तो शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन किया था, उसके प्रसाद से वह वहाँ से निकलकर फिर से सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गी बन सिद्धालय में पहुंच जायेगा। यह गुणस्थानों का परिवर्तन बाह्यलिंग पर आधारित नहीं है। कहा भी है -

१. **संक्षेप व ओघ ऐसी गुणस्थान की संज्ञा अनादिनिधन ऋषिप्रणीत मार्गविषै रूढ है। बहुरि सो संज्ञा दर्शनमोह, चारित्रमोह तथा मनोयोग, वचनयोग व काययोग तिनिकरि उपजी है।**[२०७]

२०७ - गोमटसार जीवकांड मूल ३/३२

२. तथा तस्य (भाव)संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते।[२०८] अर्थात् भावसंवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिये चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया जाता है।

इस तरह बाह्य वेष कोई भी क्यों न हो, वह गुणस्थानों का नियामक नहीं है। पर ऊपर के गुणस्थानों के साथ जो वेष या लिंग व्यवहारनय से कहा गया है, उसके बिना ऊपर का गुणस्थान नहीं आता। **यह दर्शाता है कि एकदेश-शुद्धनिश्चयनयरूप मोक्षमार्ग में जितना भावसंवर है, उसके अनुसार ही गुणस्थानों की व्यवस्था है।** उससमय व्यवहारनय से उस उस गुणस्थान के अनुसार व्रत, शील, संयमादि तथा बाह्यवेष आदि वहाँ पर आवश्यक होते हैं। हां, एक बात अवश्य है कि बाह्य शील-तपादि तथा बाह्य वेष या लिंग होते हुए भी निम्न गुणस्थान हो सकते है। जैसे भावलिंगधारी मुनि के भी कषायों के उद्रेकवश निम्न गुणस्थान में होने के कई उदाहरण आगम में हैं जैसे अभव्यसेनादि भी अंतर में निश्चयसम्यग्दर्शन न होनेपर भी मुनिलिंग धारण कर महाव्रतादि का पालन करते थे, पर गुणस्थान तो पहला ही था।

अब इन ध्यानों की व्यवस्था तीसरी दृष्टि से देखेंगे।

१. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं आ अन्तर्मुहूर्तात्।[२०९] अर्थात् उत्तमसंहननवाले का जो एकाग्रचिन्तन का निरोध है, वह ध्यान है और वह अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

२. यह ध्यान चार प्रकार का है - आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान।[२१०]

इन सभी चारों ध्यानों में उपर्युक्त ध्यान की व्याख्या **जो एकाग्रचिन्तन का निरोध है** वह व्याप्त है, क्योंकि वह सामान्य व्याख्या है किन्तु यह तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र मोक्ष का शास्त्र होने से, मोक्ष का हेतु जो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है, उसका वर्णन करने वाला यह शास्त्र है। इसीलिये इन चारों

२०८ - राजवार्तिक अ. ९ सू. १ वार्तिक १०
२०९ - तत्त्वार्थसूत्र अ.९ सूत्र २७
२१० - तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. २८

ध्यानों में **परे मोक्षहेतू** [२११] अर्थात अन्तिम धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों को ही मोक्षहेतु कह कर पहले के आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानों को मानो उपेक्षित ही कर दिया है, क्योंकि वे संसार के हेतु है, यह अनुमान से जानना जिज्ञासु पाठकों पर छोड़ दिया है। यह व्यवस्था जिज्ञासु स्वाध्यायार्थी को सहज ख्याल में आ जाती है।

श्लोकवार्तिक में आचार्यश्री विद्यानंदि ध्यान की व्याख्या करते हुए लिखते है - **ध्यानं ज्ञानमेव। सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः।** [२१२] अर्थात् जो-जो ध्यान है, वह ज्ञान ही है क्योंकि सभी ध्यानों का ज्ञानस्वरूप होना प्रसिद्ध ही है।

राजवार्तिक में भी आ. अकलंकदेव कहते हैं - अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षाव्यपदेशः भवति, यदा तत्र एकाग्रचिन्तानिरोधः तदा धर्म्यध्यानम्। [२१३] अर्थात् अनित्यादि विषयों का मनोजनित चिन्तन जब ज्ञान होता है, (अर्थात् सब पर है ऐसा चिन्तन जब अनेक विषयों में केन्द्रित होता है), तब वह ज्ञानरूप है अर्थात् व्यग्र है इसलिये वह अनुप्रेक्षा यह नाम पाता है और जब एकाग्रचिन्तानिरोध होता है (अर्थात् अग्र याने जो आत्मा है, उस एक ही आत्मा में) चिन्तन रुकता है, तब वही ध्यान धर्म्यध्यान होता है।

और भी देखें - **एकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्यर्थम्। व्यग्रं हि ज्ञानमेव न ध्यानम्।** [२१४] अर्थात् एकाग्र यह वचन व्यग्रता के निवारणहेतु है। जो व्यग्र है, वह ज्ञान ही है, ध्यान नहीं है, क्योंकि ध्यान एकाग्र होता है।

अब अग्र शब्द की परिभाषा करते हुए आ. अकलंकदेव कहते है - **अंगति इति अग्रं आत्मा इति वा।२१। अथवा अंगति इति अग्रं आत्मा इत्यर्थः। द्रव्यार्थतया आत्मनि एकस्मिन् अग्रे चिन्तानिरोधः ध्यानम्, तत्र स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येय-प्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।** [२१५] अर्थात् अंगति याने जो जानता है वह आत्मा ही **अग्र** है, ऐसा भी अर्थ है।

---

२१२ - श्लोकवार्तिक अ ९ सू.२७ श्लोक ४ टीका
२१३ - राजवार्तिक अ.९ सू. ३६ वा.१२
२१४ - राजवार्तिक अ.९ सू. २७ वा.१२
२१५ - राजवार्तिक ९/२७/२१

द्रव्यार्थिकनय से एक आत्मा में (त्रिकाली ध्रुव शुद्ध परमपारिणामिकभावस्वरूप आत्मस्वभाव में या धर्म में) चिन्तन का रुक जाना, (उसी आत्मा के स्वभाव को जानते रहना) यही चिन्तानिरोधरूप ध्यान है। उस ध्यान में निज आत्मा में वृत्ति अर्थात् टिकना होता है, इसलिये बाह्यध्येय की प्राधान्यता या मुख्यता की अपेक्षा निवृत्त होती है अर्थात् शुद्धात्मस्वभावरूप आत्मधर्म की ही अपेक्षा मुख्य होती है। (इसीलिये वह धर्म्यध्यान है।)

आगे और भी देखें - **तथा दिध्यासोः अपि आत्मनः ज्ञानावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमविशेषतन्त्रत्वात् ध्यानपरिणामस्य युज्यते कर्तृत्वम्।**[२१६] अर्थात् जो दिध्यासु याने ध्यान का इच्छुक आत्मा है, उसे जब ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम विशेषतया होता है, उसके तन्त्र में अर्थात् उसी क्षयोपशम के वश से आत्मा ध्यानपरिणाम का कर्ता बनता है अर्थात् उसे ध्यान का कर्तृत्व आ जाता है।

इस पूरे विवेचन से आगम का आधार यही कहता है कि ध्यान ज्ञानगुण की ही पर्याय है या दूसरे शब्दों में वह ज्ञान ही है। यही ज्ञान आत्मा का त्रैकालिक परमपारिणामिकरूप स्वभाव है, धर्म है। **उस का ज्ञान जब तन्मयता से उस ज्ञान की पर्याय करती है, तब वह ध्यान कहलाती है और जब वह ज्ञानस्वभाव से तन्मय होकर ज्ञान नहीं करती, तब वह व्यग्र होने से ज्ञान कहलाती है।** जब वह व्यग्र होती है, तब स्व का चिन्तन **अनुप्रेक्षादि**रूप नाम पाता है। पर का चिन्तन तो ज्ञानरूप **व्यग्र** ही होता है, तब उसे व्यवहारनय से ही धर्म्यध्यान कहा जाता है। वह एकाग्र याने निजात्मस्वभाव से तन्मय नहीं होने से वह पर में एकाग्र है, इसलिये वह धर्म्यध्यान न होकर निश्चय से **शुभ आर्त्तध्यान** ही है। **शुभातिशुभ अर्थात् पद्म या शुक्ललेश्यावाला भी आर्त्तध्यान सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में हेय होता है, क्योंकि वह अतिमन्द शुभरागरूप होने से वह शुभरागरूप आर्त्तध्यान भी हेय है। यह सम्यग्दृष्टि जानता है**

---

२१६. राजवार्तिक अ. ९ सूत्र २७ वार्तिक ८

और यद्यपि उसमें अशुभ से हटने हेतु प्रयत्नपूर्वक आता है फिर भी उसे हेय ही मानता है।

ऐसा आर्त्तध्यान पहले से छठवें गुणस्थान तक होता है। कहा भी है - **तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम्।**[२१७] अर्थात् वह आर्त्तध्यान पहले से चौथे अविरत गुणस्थानों में तथा देशविरत श्रावक व प्रमत्तसंयत (मुनि) गुणस्थानों में होता है जबकि द्रव्यसंग्रह की ३४ वी गाथा की टीका में या प्रवचनसार की गाथा २४८ की तात्पर्यवृत्ति में चौथे से छठवें गुणस्थान तक तरतमता से शुभोपयोग ही कहा है, तब वहाँ छठवें गुणस्थान में **प्रमाद के अस्तित्व में वह अतिशुभातिशुभ आर्त्तध्यान ही है।** वह आर्त्तध्यान होने से संसार का ही हेतु है व बंधक है। देखें यह उद्धरण - **प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यं अन्यत् आर्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित् स्यात्।**[२१८] पर प्रमत्तसंयतों में बारह कषायों का अभाव होनेसे प्रमाद के उदय के उद्रेक से वहाँ निदान आर्त्तध्यान छोडकर अन्य तीन आर्त्तध्यान कदाचित् होते हैं। धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान ही मोक्ष के हेतु है।[२१९]

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जो **ध्यान है वह ज्ञान से भिन्न नहीं है। वास्तव में दोनों एक ही है। ध्यान को स्थिर तथा ज्ञान को अस्थिर भी कहा जाता है।** संसारी छद्मस्थों को ज्ञप्तिपरिवर्तन होता है अर्थात् उन का ज्ञान अथवा ध्यान सामान्यतया सतत् भटकता रहता है, इसलिये वे एकविषय पर सतत् केन्द्रित नहीं रह पाते। **आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान अनादिमिथ्यादृष्टियों को भी सिखाने नहीं पडते। वे स्वयं ही उन ध्यानों के अनादिकाल से अभ्यस्त हैं। उनका अभ्यास इस जीव को अनादि से शरीर व कर्म के बंधन से जुड़े होने से होता ही आया है। उनके संस्कार उसपर इतने गहरे है कि उसे यदि अनेक तीर्थंकरों की वाणी भी सुनने को मिल जाये, तो भी वह आत्मानुभव कर न सकने से आत्मा व पर का भेद जान नहीं सकता और आत्मा की ओर**

२१७. तत्त्वार्थसूत्र अ.९ सू. ३४
२१८. सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सू.३४ टीका
२१९. तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. २८

अभिमुख या सन्मुख नहीं हो सकता। उसे यदि कहा जाय कि शास्त्रों को पढो, सुनो, सुनाओ या यह कहा जाय कि व्रतों को पालो, शीलों का निरतिचार आचरण करो, उग्र से उग्रतर तपों को तपो, परीषहों को सहो, कायक्लेशादि तपों को करो तो वह करेगा, फिर भी आर्त्तध्यान व रौद्रध्यानों के संस्कार मिथ्यात्वरूपी मोहराजा के वश होने से वह स्व-परभेदविज्ञान न कर स्वयं को शरीर से भिन्न केवल ज्ञायक त्रिकाली परमपारिणामिकभावरूप सिद्धस्वभावी अनुभवन करने हेतु तैयार ही नहीं होता। यही विडम्बना सामान्यरीत्या छद्मस्थों की है।[२२०]

इसी से शुभोपयोगरूप शुभ आर्त्तध्यान को व्यवहार से धर्म्यध्यान कहने की परम्परा आगम में है। इसी शुभोपयोगरूप धर्म्यध्यान से पापों की निर्जरा होने का विधान भी व्यवहारनय से द्रव्यसंग्रह के गाथा ३५ की टीका में (एवं व्रतसमितिगुप्ति ..... तत्र निश्चयतत्त्रयसाधक-व्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरकारणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षण-निश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वय-संवरकारणानीति ज्ञातव्यम्।[२२१] अर्थात् व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा व चारित्र जो भावसंवर के कारण हैं, ऐसा व्याख्यान किया, उनमें निश्चयरत्नत्रय के साधकरूप से जो शुभोपयोगसाधक व्यवहाररत्नत्रय है, उसका प्रतिपादन करनेवाले जो वाक्य हैं, वे पापास्रव के संवर के कारण हैं ऐसा जाने। पर व्यवहाररत्नत्रय से साध्य होनेवाला जो निश्चयरत्नत्रय है, वह शुद्धोपयोगरूप होने से उसका प्रतिपादन करनेवाले जो वाक्य है, वे पुण्य व पाप दोनों के आस्रव का संवर करने वाले वाक्य हैं ऐसा जानना चाहिये, ऐसा कहा है।

इसीतरह भावसंग्रह आदि ग्रंथों में भी शुभोपयोग को पापास्रव का संवर करनेवाला कहा है, वह भी इसी अपेक्षा से हैं कि शुभोपयोगरूप

---

२२० - पंचास्तिकायसंग्रह गा १७२ तत्त्वप्रदीपिका टीका

२२१ - द्रव्यसंग्रह गा. ३५ टीका

शुभभाव से पापास्रव न होकर पुण्यास्रव होता है, पर निर्जरा तो होती ही नहीं है। **वहाँ जो संवर कहा है, वह भी पाप के एवज में पुण्य का आस्रवरूप होने से व्यवहारनय से पाप का संवर करनेवाला कहा है इतना ही। वास्तव में तो वह पुण्य के आस्रवरूप ही है, इसलिये वह सविपाकनिर्जरारूप है, जो मोक्षमार्ग में कर्मबंधक होने से ग्राह्य नहीं है।** मोक्षमार्ग में तो अविपाकनिर्जरा ही ग्राह्य है, जिसका कारण शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म्यध्यान ही है, न कि शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म्यध्यान, जो रागरूप होने से **आत्मा की हिंसा** ही है।

ऐसा कोई शुभ या अशुभरागरूप परिणाम नहीं है, जिससे एक समय में सातों या आठों कर्मों का बंध न होता हो। देखें यह उद्धरण - **उदयात् पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा स्वकीयस्वकीय-गुणस्थानानुसारेण उदयकालं प्राप्य यथा यथा भोग्यानि भवन्ति, तथा तथा रागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबंधकाले अष्टविधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतरानि बध्नन्ति, न च अस्तित्वमात्रेण बंधकारणं भवन्ति। एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः।**[२२१अ]

अर्थात् उदय के पहले जो उपभोग्य नहीं है, ऐसे रह कर अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार उदयकाल को जैसे जैसे वे प्राप्त हो कर भोग्य बनते हैं, वैसे वैसे वे रागभावों से आयुकर्म के बंध के काल में आठ प्रकार के हो कर और शेष काल में सात प्रकार के हो कर ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म-भावरूप पर्याय से वे केवल नवीनरूप से बंधते हैं। **अस्तित्व या सत्ता मात्र से केवल वे नहीं बंधते हैं। इसी से सम्यग्दृष्टि अबंधक होता है।**

इस पर से यह स्पष्ट है कि किसी भी शुभ राग से केवल पुण्य का ही आस्रव होता हो तथा पाप का संवर तथा निर्जरा होती हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त उद्धरण से यह निश्चित है कि **राग शुभ हो या अशुभ हो, सातों या आठों कर्मों का आस्रव होता ही है, जिनमें सभी**

२२१अ - समयसार गा. १७३ से १७६ तात्पर्यवृत्ति टीका

घातिकर्म की प्रकृतियाँ पापरूप ही है, उनका भी आस्रव होता है, इसलिये शुभोपयोग से केवल पुण्य ही बंधता हो ऐसी कोई बात नहीं है, पाप भी बंधता है। अतः आगम का अभिप्राय शुभराग को पापास्रव का संवर कहने से इतना ही है कि **पाप से छूटो और पुण्य में जुटो, जिससे शुद्धोपयोग की राह सुलभ हो।**

पर कोई पुण्य की ही चाह रख कर पुण्य में या शुभोपयोग में ही डटा रहेगा, तो अन्तर्मुहूर्त के बाद अशुभोपयोग या मन्द पापभाव उसे दबोच लेगा, क्योंकि कोई भी ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ही एक विषय में छद्मस्थ को हो सकता है। **आ अन्तर्मुहूर्तात्।** [२२२] स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते है -

अंतोमुहुत्तमेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं झाणं।
झाणं भण्णदि समये असुहं च सुहं च तं दुविहं।।[२२३]

मानस ध्यान एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त मात्र ही लीन होता है, वह शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार का है। अतः मुनिराज भी अन्तर्मुहूर्त तक ही शुद्धोपयोग में रहकर शुभोपयोग में प्रमादवश आ जाते हैं तथा अन्तर्मुहूर्त वहाँ रुक कर फिर से अप्रमत्त-ध्यान में चले जाते हैं। श्रेणी आरोहण से पूर्व तथा उपशम श्रेणी में श्रेणी-आरोहण करते हुए भी अन्तर्मुहूर्त के बाद वह शुद्धोपयोग से च्युत होकर शुभोपयोग में आये विना नहीं रहते।

इसतरह **शुभोपयोग द्विमुखी या दोमुंही है। वह या तो शुद्धोपयोग में जाने में सहकार्य करेगा, पर यदि वह शुद्धोपयोग में न ले जा सका, तो वह पांचवें या चौथे में फेंक देगा। यह स्थिति मुनिपद की है। श्रावक तो असंख्यों बार अशुभ से शुभ, शुभ से अशुभ व फिर से शुभ में चक्कर काटता हुआ कभी कभी शुद्धोपयोग में आ जाता है। इसलिये साधक शुभोपयोग से या तो १. अशुभोपयोग में या २. शुद्धोपयोग में जा सकता है** क्योंकि श्रावकों को तो छहों लेश्यायें होती है और मुनिराजों को भी कुशीलादि में छहों लेश्यायें संभवती हैं।

---

२२२ - तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू.२७ २२३ - कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४७०

चूंकि उपयोग जिस अशुभ या शुभ या शुद्ध विषय को ज्ञेय, ध्येय या प्रमेय या लक्ष्य बनाता है, वैसा उसका नामाभिधान अशुभोपयोग या अशुभध्यान, शुभोपयोग या शुभध्यान तथा शुद्धोपयोग या शुद्धस्वरूप धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान हो जाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की उपर्युक्त गाथा की टीका के अनुसार **तत् ध्यानं द्विप्रकारं प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्वैधं। पापास्रवहेतुत्वात् अशुभं अप्रशस्तं आर्त्त-रौद्रध्यानम्, शुभं कर्ममलकलंकदहनं धर्म-शुक्लद्वयं प्रशस्तम्।**[२२३अ]

अर्थात् वह ध्यान प्रशस्त तथा अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का है। पापास्रव का कारण होने से आर्त्त तथा रौद्रध्यान यह दो ध्यान अशुभ है, इसलिये अप्रशस्त हैं। जो शुभ ध्यान हैं, वे कर्ममल का कलंक जलाने में समर्थ होने से धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान ये ध्यानद्वय प्रशस्त और शुभ हैं। निष्कर्ष यह है कि यह ध्यान ज्ञान की ही पर्याय है, यह विवरण राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक के उपर्युक्त कथनों को पुष्ट करता है।

इसी विषय में यह सिद्ध होने पर कि ध्यान मूलतः ज्ञान ही है, इसी की पुष्टि में और भी आगमाधार क्या है इसे भी देखेंगे -

१. **सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।**
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि।। [२२४]

अर्थ - जो शुद्ध आत्मा को जानता है (अर्थात् शुद्ध त्रिकाली परमपारिणामिकभाव स्वरूप निजज्ञायकस्वभाव का ध्यान करता है), वह शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है व अशुद्ध आत्मा को जानने वाला (अर्थात् ध्याने वाला) अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

२. **जह णाम कोवि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।**
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।। [२२५]

२२३अ - कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४७० टीका २२४ - समयसार गाथा १८६
२२५ - समयसार गा. १७ व १८

अर्थात् जैसे कोई पुरुष राजा को पहले जानता है, फिर वह उसका श्रद्धान करता है और बाद में धन की प्राप्ति हेतु उसका अनुचरण या सेवादि करता है; **उसीतरह मोक्ष के इच्छुक पुरुष ने भी जीवराजा को जानना चाहिये, उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिये और उसका अनुचरण या सेवा करना या उसके अनुसार चलना चाहिये।**

इसके द्वारा भगवत्कुन्दकुन्ददेव पहले **ज्ञान का ही महत्त्व** विशद करते हुए कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान करना ही प्रथम कर्तव्य है, तभी श्रद्धान व चारित्र सफल होते हैं। इसलिये **ज्ञान ही श्रद्धा तथा चारित्र का मार्गदर्शक (गाईड) या सारथी है और वह ध्यानस्वरूप है।**

३. करणानुयोग के आद्य ग्रंथ षट्खंडागम की धवला टीका में निम्न प्रमाण इस सम्बंध में है - **किं तत् ज्ञानकार्यं इति चेत्, तत्त्वार्थे रुचिः, प्रत्ययः, श्रद्धा, चारित्रस्पर्शनं च।**[२२६] अर्थात् ऐसा प्रश्न करने पर कि ज्ञान का कार्य कौनसा है? आचार्य समाधान देते हैं कि **ज्ञान का कार्य** तत्त्वार्थों में रुचि निर्माण करना, प्रत्यय अर्थात अनुभूति कराना, श्रद्धा उत्पन्न करना तथा चारित्र का स्पर्श करना भी है।

अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय में ज्ञान ही प्रधान है, आद्य है, मार्गदर्शक है और उसके विना मोक्षमार्ग बन ही नहीं सकता। जैसा कि पहले सिद्ध कर आये हैं, वह मोक्षमार्ग **भावनारूप या ध्यानरूप या शुद्धोपयोगरूप है।** वह परमपारिणामिकभावरूप निजज्ञान-दर्शनानन्दमय कारणपरमात्मा को ही ध्येय, ज्ञेय, प्रेय, विषय बनाता है, अन्य को नहीं। पंचाध्यायीकार भी इसी बात को पुष्ट करते हुए निम्न उद्धरण देते हैं -

(१) **अपि स्वात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।**[२२७] अर्थात् स्वात्मानुभूति भी ज्ञान ही है क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है।

(२) **न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्। शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं, न चेत् शुद्धा न सा सुदृक्।।**[२२८] अर्थात् आत्मा की केवल

२२६ - धवला टीका पु.१ पृ. ११५
२२७ - पंचाध्यायी अ. २ श्लो. ३८७
२२८ - पंचाध्यायी अ. २ श्लो. २१५

उपलब्धि यह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं हो सकता। वह आत्मा की उपलब्धि यदि शुद्ध है, (उसमें यदि शुद्धपरमपारिणामिकभाव यह विषय है) तो वह सम्यक्त्व है अर्थात् वह मोक्षमार्ग है। यदि वह शुद्ध नहीं है (अर्थात् अशुद्धात्मा या पर्यायरूप आत्मा यह ज्ञान का विषय है और साधन अशुद्ध अर्थात् एकान्तरूप नय है) तो वह सम्यक्त्व नहीं है। (अर्थात् वहाँ सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र भी नहीं है (क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान व चारित्र सम्यक् कहे जाते हैं) तथा शुद्ध आत्मानुभवरूप ज्ञानपर्याय के बिना सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है।

३. तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयात् व्यतिरेकतः।।[२२९]

अर्थ - उसमें भी वह जो आत्मानुभूति है, वह आत्मा का विशिष्ट ज्ञान है। वह सम्यक्त्व से अविनाभूत है अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक से उन आत्मानुभूति और सम्यक्त्व में अविनाभावसम्बंध पाया जाता है। इसी तरह इस विषय में पंचाध्यायी के श्लोक ४०१ से ४०९ तक सूक्ष्मरूप से अध्ययन करने योग्य हैं, जो विस्तारभय से यहाँ उद्धृत करना शक्य नहीं। उनमें सम्यक्त्व और ज्ञानरूप अनुभूति में विषमव्याप्ति सिद्ध की है।

इस पर से इतना स्पष्ट होता है कि जो ध्यान है, वह ज्ञान की ही पर्याय है। उस हेतु पूरे चारित्रमोह का नाश उतना आवश्यक नहीं है, जितना स्वानुभूत्यावरण नामक इस ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति का क्षयोपशम आवश्यक है। उसी से दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियाँ उपशमरूप, क्षयोपशमरूप या क्षयरूप हो जाती है तथा अनन्तानुबंधीकषाय की चारित्रमोहनीय की चारों प्रकृतियाँ विसंयोजित हो जाती है। उसी समय **सम्यग्दर्शन का, सम्यग्ज्ञान का और स्वरूपाचरण चारित्र का उद्घाटन शुद्धोपयोग द्वारा हो कर चौथा गुणस्थान या पांचवाँ गुणस्थान या सातवाँ गुणस्थान आ जाता है।** हाँ, इतना अवश्य है कि चौथे गुणस्थान मे वह शुद्धोपयोग बारह कषायों

२२९. पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक ४०२

के सद्भाव में अत्यन्त क्षीण होता है, मानो वह कर्मरूपी शेर के सामने हरिणी जैसा हो, जो हरिणी अपने शावक को शेर से छुडाने हेतु कुछ मुकाबला तो अवश्य ही करती है, पश्चात् कुछ समय निश्चेष्ट सी हो जाती है, बाद में जागृति आनेपर शावक के प्रेमवश फिर से मुकाबला करना शुरु कर देती है।

यही स्थिति चौथे गुणस्थानवाले की है। यह अव्रती श्रावक छह महिनों में एकाध बार बुद्धिपूर्वक आत्मानुभूति कर ही लेता है। वह कर्मों से इरता नहीं है। पहले वह स्वयं को भावकर्मों, द्रव्यकर्मों तथा नोकर्मों से भिन्न जानता है व श्रद्धा करता है, तभी वृत्ति या आचरण भी उन परद्रव्यों के साथ बदल जाता है। **वही उसका चारित्र है।** वह उन भावकर्मों, द्रव्यकर्मों तथा नोकर्मों के चंगुल से छूटने हेतु प्रयत्नशील तो रहता है, पर वहीं पर वह कमजोर पड़ता है। इसीलिये वह असंयत कहा जाता है। असंयमी मिथ्यादृष्टि जैसा उनही में अपना स्वरूप न देख कर उनसे छूट कर शुद्धोपयोग हेतु प्रयत्नशील रहता है व कुछ क्षण उस प्रयत्न में सफल होकर फिर पटख़नी खाता है, यह उसकी विवशता है। **पर उसकी दृष्टि अपने शुद्ध स्वभाव को ही ळक्ष्य करती रहती है, इसी से वह आगे बढने में सफल होता है। यह स्थिति पांचवें गुणस्थान में पंद्रह दिनों के भीतर व छठ्वें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त के भीतर आ जाती है।** इसकी पुष्टि में कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि के प्रमाण पहले ही दे दिये हैं, वहाँ से कृपया देखिये।

इस तरह चौथे गुणस्थान में भी शुद्धोपयोगरूप धर्म्यध्यान होता है व उसके फलस्वरूप सातों प्रकृतियों के उपशमादि होते हैं, जो शुभोपयोग से होना संभव नहीं है। इसीलिये श्रावकों को शुद्धोपयोग नहीं होता, मुनि बने बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग उद्घाटित नहीं होता व मुनि को ही सामायिकादि पांच प्रकार से चारित्र होता है तथा श्रावक को संयमासंयमरूप क्षायोपशमिक भाव व चौथे गुणस्थानवर्ती को असंयमरूप औदयिक भाव होने से वहाँ चारित्र नहीं होता, केवल असंयम या देशसंयम

होता है, ऐसी मान्यता टिकती नहीं है। उनकी मान्यता की पुष्टि हेतु वे तत्वार्थसूत्र के सूत्र **सामायिक-च्छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्।**[२३०] प्रस्तुत करके **यह चारित्र के** सामायिकादि पांच प्रकार केवल मुनि को ही होते है, श्रावकों को यदि होवे, तो उसने संयमी होना चाहिये, केवल समयसार पढ़ने से कोई फायदा नहीं है आदि तर्क इस हेतु मुमुक्षुओं के सामने वे रखते हैं।

इन तर्कों के उत्तर में यदि यह कहा जाये कि **समयसार दृष्टि का या अभिप्राय का विषय बताता है**, वह दृष्टि आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति के बिना कैसी सम्यक् हो सकती है? उसके बिना सामायिक व छेदोपस्थापना चारित्र मुनियों को कैसे हो सकता है? मिथ्यात्वी की ऐसी **मिथ्या दृष्टि** सुलझे विना केवल **बाबावाक्यं प्रमाणम्** इस रूप यदि देव-गुरु-शास्त्रों को सुनकर या पढ़ कर बिना उन्हें उनके लक्षणों से कसौटी पर कसे अर्थात् बिना आत्मानुभूतिद्वारा परीक्षा किये स्व-पर की भिन्नता का अनुभव नहीं किया, दोनों का भेद नहीं जाना, **तो वह अनुभव थोपा हुआ ही होगा**, अतः वह सच्चा नहीं होगा व जो भी उस समय मुनिपद आदि की क्रियायें होगी, वे सभी क्रियायें नाटक जैसी होगी या फिर **मैं जैन होने से जिनभगवान ने जो भी कहा, वह सच्चा ही है**, ऐसा मान कर केवल भक्तिवश वह क्रियायें करता हो, तो भी वे क्रियायें बिना परीक्षा किये अन्धश्रद्धा-स्वरूप होगी, जिनका फल शून्य होगा।

जिनभगवान ने जो स्वरूप स्वयं के अनुभव से कहा, वैसा ही स्वरूप अनुभव में आने से वह सच्चा ही है, ऐसी परीक्षामूलक मान्यता कसौटी पर कस कर ही यदि मान्य की जाये, तो ही वह फायदेमन्द होगी।

सम्यग्ज्ञान प्रमाण ही होता है। १.सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।[२३१]

२. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनयसंस्कृतम्।।[२३२]

---

२३० - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र १४.

२३१ - न्यायदीपिका प्रमाणसामान्यप्रकाश परि. ८ २३२ - आप्तमीमांसा १०१

अर्थात् आपका सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, वह एक ही समय में युगपत् त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती सभी को जानता है तथा छद्मस्थ का जो क्रमभावी ज्ञान है वह स्याद्वाद तथा नयों से संस्कारित है।

३. **सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।**[२३३] अर्थात् पदार्थ का सम्यक् निर्णय ही प्रमाण है। तथा

४. **प्रमाणं स्वपराभासि, ज्ञानं बाधविवर्जितम्।**[२३४] अर्थात् स्व-पर का अवभासन अर्थात् भेदज्ञान करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है और वह बाधाविरहित है।

इसतरह से स्व तथा पर का भेदज्ञान करने में समर्थ जो प्रमाण है वह निराबाध है, उसे काटा नहीं जा सकता। यह आत्मानुभव करने से ही प्राप्त हो सकता है तथा वह केवल अनगारों को ही संभव है ऐसा नहीं है, क्योंकि इसके बिना स्व-पर का भेदज्ञान शक्य नहीं है और उसके बिना वह ज्ञान प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञान ही नहीं है, जो चौथे गुणस्थान में भी आगमसम्मत है। इसलिये **समयसार का पठन-पाठन केवल मुनियों हेतु ही है, यह कथन सत्य के धरातल पर खरा नहीं उतरता।** समयसार पढ़ने से श्रावक स्वच्छन्दी हो जायेंगे, ऐसा कहना भी उसीतरह सत्य नहीं है। इसलिये दृष्टि सम्यक् बनाने हेतु या सही ध्येय बनाने हेतु मिथ्यादृष्टि ने भी वास्तविक रीति से समयसार पढना चाहिये, अन्यथा दृष्टि सुलझेगी कैसे? जो सम्यग्दृष्टि असंयमी से लेकर से संयमी मुनि तक साधक हैं, उन्हें भी उनकी दृष्टि सुलझी रहने हेतु समयसार आदि का पठन-पाठन आवश्यक है। **अतः समयसार आदि द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों का परहेज बन्द होना चाहिये।** अन्य भी विशेष यह है कि आत्मानुभूति हेतु कषायों की मन्दता, जो शुभरागरूप है, यह कार्यकारी नहीं है, **अपितु प्रज्ञा या भेदज्ञान कारण है**, जिससे आत्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग हो सकता है। देखें -

जिसतरह प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को पर से भिन्न किया, उसीतरह

---

२३३ - प्रमाणमीमांसा १-१-२ २३४ - न्यायावतार १

प्रज्ञा के द्वारा ही उस आत्मा को ग्रहण करना चाहिये। [२३५] तथा **ज्ञानरूप तलवार से ही मोहराजा का विनाश होता है।** [२३६]

इस तरह कर्मो की निर्जरा में समर्थ ऐसा शुद्धोपयोग या स्वात्मानुभूतिरूप ज्ञानपर्याय ही भावना है, ध्यान है तथा मोक्षमार्ग है। उसका विषय, साधन तथा फल की दृष्टि से विचार करें, तो कषाय का इन्धन सहज में ध्वस्त होता नजर आयेगा। ऐसी प्रक्रिया चौथे, पांचवें गुणस्थान में भी होती ही है, इसमें कोई शंका को गुंजाईश नहीं है। उसके साथ में वहाँपर शुभोपयोगरूप धर्म्यध्यान सविकल्प अवस्था में होता ही है।

ऐसा सविकल्प धर्म्यध्यान भी मिथ्यादृष्टि जीव ने कभी किया ही नहीं है। इसका कारण यह है कि वह साधक प्रायोग्यलब्धि तक जाकर अनन्त बार बैरंग लौट आया है। उसने सविकल्पधर्म्यध्यानरूप करणलब्धि में प्रवेश अभी तक किया ही नहीं है।

इसे एक उदाहरण से देखें - एक व्यक्ति जो तरणताल में तैरने की शिक्षा प्राप्त कर के लंगोट लगा कर तालाब में कूदने की तैयारी बार-बार करता है, पर पाटी तक जा कर बार-बार वापिस आता है। वह सोचता है कि कूदने पर मैं डूब गया तो? इस भय से वह कूदता ही नहीं है। वह यदि कूदेगा तो अवश्य ही पानी के पास पहुँचते-पहुँचते उसे ऊपर जो तपन का अनुभव आ रहा था, वह घटता जाता है, ऐसा अनुभव आता जायेगा। यही स्थिति स्थितिबंधापसरण, काण्डकघात आदिरूप से करणलब्धि में गुणश्रेणिनिर्जरा के समय साधक की होती है। जिसतरह वह तालाब में कूदा व्यक्ति पानी को स्पर्श किये बिना वापिस ऊपर आ नहीं सकता, वह पानी को छूयेगा ही, उसीतरह इस करणलब्धि में प्रविष्ट साधक (साधु) भी मोहनीय की सातों प्रकृतियोंरूपी तपन को उपशान्त कर शुद्धात्मानुभवरूप जल की ठण्डक का अनुभव उस में डूब कर अन्तर्मुहूर्त तक करेगा ही। **वही निर्विकल्प अनुभव की स्थिति है।** उसे उसके सिवा अन्य रास्ता है ही नहीं।

---

२३५ - समयसार गाथा २९६ २३६ - तत्त्वसार गाथा ६५ टीका.

वह नीचे कूद कर केवल जल को छूयेगा ही नहीं, बल्कि जल को छू कर आपादमस्तक डूबेगा व **अन्तरकरणरूप** उपशमभावस्वरूप **शान्तिरस का अनुभव अवश्य करेगा ही।** हाँ, इतना अवश्य है कि जब वह अन्दर नहीं रह पायेगा और ऊपर आयेगा, तब सतह पर आ कर उसके पास दो विकल्प होंगे। एक तो वह तैरता रहे। तब वह डूबकर जो ठण्डक पाता था, वैसी ठण्डक तो वह नहीं पायेगा, पर सम्यक्प्रकृति के उदय से **क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी** रह कर चौथे गुणस्थान में रहेगा और डूबता, तैरता, डूबता, तैरता अधिकाधिक काल तक डूबने में जैसे-जैसे निष्णात होगा, वैसे-वैसे उसके गुणस्थानों में बढौतरी होती जायेगी अर्थात् शुद्धोपयोग का अभ्यास बढ़ाते बढ़ाते सातवें गुणस्थान में डूबे रहने में प्रावीण्य प्राप्त करेगा व बारम्बार वह शुद्धोप्योग में हर अन्तर्मुहूर्त में डूब कर शान्ति का अनुभव करता रहेगा। इसी अभ्यास के बल से वह क्षपकश्रेणी में पहुँच जायेगा और वहाँ वह ऐसा डूबेगा कि केवली बन कर फिर अनन्तकाल के लिये सिद्धावस्था प्राप्त करेगा व अनन्तसहजानन्द में अखंड निमग्न हो जायेगा। यही है चौथे गुणस्थान का सम्यक् चारित्र जो पहले गुणस्थान के असंयमरूप मिथ्याचारित्र से भिन्न है क्योंकि वह चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्वरूपाचरण चारित्ररूप होकर दर्शनाचार व सम्यक्त्वाचरणरूप हो जाता है। देखिये श्लोकवार्तिक ग्रंथ का यह उद्धरण -

न हि चारित्रमोहोदयमात्रात् भवत् चारित्रं दर्शन-चारित्रमोहोदय-जनितात् अचारित्रात् अभिन्नं एव इति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः।[२३६अ] अर्थात् केवल चारित्रमोह के उदय से उपजनेवाले असंयतसम्यक्त्वी के चारित्र को दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय दोनों के उदय से उपजनेवाले अचारित्र से अभिन्न ही है, ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं है क्योंकि सर्वत्र भिन्न भिन्न कारणों से होनेवाले कार्यों को अभेद कहने का प्रसंग आयेगा।

---

२३६. अ - श्लोकवार्तिक अध्याय १ सूत्र १ कारिका १०५

इसपर से स्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि **चौथे गुणस्थान में पहले गुणस्थान जैसा अचारित्र या मिथ्याचारित्र नहीं होता अर्थात् वहाँ सम्यक्चारित्र होता ही है, फिर उसे असंयमचारित्र या जघन्यस्वरूपाचरण चारित्र या सम्यक्त्वाचरण चारित्र या दर्शनाचार या दर्शनाराधना कोई भी नाम क्यों न विद्वद्वर्ग दें, फिर भी है तो वह सम्यक्चारित्र ही।** वह मिथ्याचारित्र या अचारित्र नहीं है, इस लिये **चौथे गुणस्थानवर्ती भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप से मोक्षमार्गी ही है, यह सिद्ध हुआ।**

१२. शुद्धोपयोग और स्वाध्याय - स्वाध्याय का मूल अर्थ इसप्रकार है - १. **ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः।** आलस्य छोड़कर ज्ञान की भावना याने आराधना करना यह स्वाध्याय है। (सर्वार्थसिद्धि अ. ९ सू. २०) २. **स्वस्मै हिताध्यायः स्वाध्यायः।** अपने हित का अध्ययन करानेवाला स्वाध्याय है। यह दोनों व्याख्यायें निश्चयनय से हैं। ३. **स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च।** (शास्त्रों से) तत्त्वज्ञान का अध्ययन व अध्यापन तथा स्मरण यह स्वाध्याय है। (चारित्रसार४४/३) यह व्याख्या व्यवहारनय से है।

इसमें सम्यग्दर्शन की प्रधानता है। देखें यह प्रमाण - १. भावरहित श्रमणों का सकल ध्यान और **अध्ययन निरर्थक** है। (भावपाहुड मूल ८९) सम्यक्त्व से रहित ज्ञान और ध्यान असंख्यात-गुणश्रेणीरूप कर्मनिर्जरा हेतु निमित्त नहीं होता इसलिये उसे ज्ञान और ध्यान यह **पारमार्थिक संज्ञा** वास्तविकरूप से नहीं है। क्योंकि अर्थ (पदार्थ) के श्रद्धान रहित यह संज्ञा स्वीकार करने में अतिप्रसंगदोष लगता है। (धवला पुस्तक ९/४.१.१/६/३)

ऐसा आत्महित हेतु किया गया स्वाध्याय ही परमतप है, क्योंकि उसमें इच्छाओं का निरोध है। देखें यह उद्धरण - १. अभ्यन्तर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न तो है और न कोई होगा। सम्यग्ज्ञान से रहित जीव लक्षावधि कोटि वर्षों में

जितने कर्मों का क्षय करने में समर्थ होगा, उतने कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञानी जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र में कर देता है। (भगवती आराधना मूल १०७-१०८) ऐसा ही प्रवचनसार गाथा २३८ आदि में कहा है।

स्वाध्याय का फल असंख्यात गुणी संवर व निर्जरा है, ऐसा धवला पुस्तक ९/१ में कहा है। देखें ये उद्धरण - १. सूत्र का अध्ययन करनेवालों को कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा प्रतिसमय होती है यह अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानियों को प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध होती है। (पु.९/१.१.१/३६/३ २. वृषभसेनादि गणधर देवों द्वारा जिनकी शब्दरचना की जाती है, ऐसे द्रव्य सूत्रों से उनके पढ़ने और मनन करने में प्रवृत्त हुए जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणित क्रम से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है। (वही ९/४.१.१.३/१।) ३. क्योंकि वह स्वाध्याय व्याख्याता के और श्रोता के असंख्यगुणित कर्मनिर्जरा का हेतु है। (वही पुस्तक ९/५.५.५०/२८१/३)

इस स्वाध्याय का क्रम मोक्षशास्त्र में निम्नप्रकार दिया है - वाचना पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। (तत्त्वार्थसूत्र अ.९ सूत्र २५) याने पढते समय प्रथमतः वाचन या श्रवण करके फिर प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान करना चाहिये, उसका अनुप्रेक्षण याने मनन चिन्तन करके उसे स्वयं में घोष करके कण्ठस्थ कर लेना चाहिये और बाद में उसका उपदेश देकर उसको पक्का कर लेना चाहिये।

स्वाध्याय में अपना चित्त अपने हित में रमाने से प्रज्ञातिशय अर्थात् बुद्धि की प्रगल्भता, प्रशस्त अध्यवसाय अर्थात् सच्चा निर्णय, परम संवेग याने संसार से उत्कृष्ट भीति, तप में विशुद्धि तथा अतिचारों में शुद्धि होती है। (सर्वार्थसिद्धि अ.९/२५ टीका) तथा इसमें ही ध्यान भी उत्कृष्टरूप से सधता है। देखें-

स्वाध्यायात् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।। (तत्त्वानुशासन)

अर्थ - स्वाध्याय से ध्यान में प्रवृत्ति करनी चाहिये और स्वाध्याय में जो

पढा है, उसका ध्यान में आम्नाय करना चाहिये। इसतरह की स्वाध्याय और ध्यान की संपत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है।

इसप्रकार स्वाध्याय ही ध्यान का याने शुद्धोपयोग का कारण है। इसमें भी सम्यग्दर्शन की ही प्रधानता है। विषय की स्पष्टता बिना वह अशक्य है।

१३. शुद्धोपयोग की प्रक्रिया - यह शुद्धोपयोग या निश्चय धर्म्यध्यान शुभोपयोग की दोमुंही भूमिका से गुजर कर प्राप्त होता है। वह साधक वहाँपर शुद्धोपयोग में प्रविष्ट होने के लिये ही शुभोपयोग की भूमिका को तात्कालिकरूप से स्वीकारता है। उदाहरणार्थ - जैसे कोई सम्मेदशिखरजी को जाना चाहता है, उसे उस ओर जाने वाली रेलगाडी में तो बैठना ही पडता है, किन्तु गन्तव्य स्थान आने पर उसे छोड़ने का उद्दिष्ट या अभिप्राय रखना पड़ता ही है। इसी तरह साधक को अशुभोपयोग की रेलगाडी में बैठना छोड़ कर शुभोपयोगरूप व्यवहार-धर्म्यध्यान की रेलगाडी में बैठना ही होगा क्योंकि अशुभोपयोग की रेलगाडी उल्टी दिशा में गमन करती होने से उसे पुण्योत्पादक शुभ की रेलगाडी ही पकड़नी होगी। **पर उस शुभोपयोगी रेलगाडी को उपादेय मान कर नहीं, तो हेय मान कर ही अर्थात् उसे छोड़ने हेतु ही स्वीकारना होगा।** तभी वह शुद्धोपयोग की भूमिका पा कर मोक्षमार्गी बन पायेगा, अन्यथा नहीं।

छद्मस्थ की भूमिका में शुभोपयोग की भूमिका का महत्त्व तो है ही, पर वह उस साधक का लक्ष्य या उपादेय, उद्दिष्ट या अभिप्राय तो नहीं हो सकता। उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है, जो मोक्ष की भूमिका तक पहुँचाने में सक्रिय भूमिका निभाता है। श्रद्धा तो उसी को लक्ष्यरूप से स्वीकारती है, शुभोपयोग को तो कतई उपादेयरूप से वह नहीं स्वीकारती। शुभोपयोग के स्थानक भले ही बहुत से लगे, पर उन को जान कर भी उनसे उसे कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि उसे वह हेय ही है। वह साधक उन्हें जानेगा अवश्य कि यह स्थानक आये, पर वह आराम से सोता रहेगा व गन्तव्य स्थानक पर ही उठेगा। वह शुद्धोपयोगरूप

स्थानक पा कर निर्विकल्प निज ध्रुवज्ञान-दर्शनानंदात्मा का आनन्ददायी अनुभव लेना ही पसन्द करेगा, शुभोपयोगजन्य कर्म का आस्रवरूपी बोझ ढ़ोना पसन्द नहीं करेगा।

अब इसकी प्रक्रिया को समझें - इसके लिये **विषय, साधन और फल** का स्वरूप जैसा परमपूज्य श्री वीरसागरजी मुनिराज ने **अध्यात्म-न्यायदीपिका** टीका में विस्तार से स्पष्ट किया है, उसे समझना होगा। **न केवल समझना ही, परन्तु बूझना भी होगा और समझबूझकर उसमें उनके अनुसार ढलना भी होगा। इस विषय, साधन और फल को समझने का प्रयास संक्षेप में निम्न रूप में करेंगे।**

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ।।[२३७]

अर्थात् **शुद्ध आत्मा को जानने से जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानने से अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।** समयसार की इस गाथा के द्वारा यह स्पष्ट संदेश मिलता है कि जब शुद्ध आत्मा शुद्ध प्रमाणज्ञान का विषय होता है, तब शुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है। यहाँ पर यह विषय निम्न सारणी से समझेंगे -

विषय	साधन	फल
ध्येय, प्रमेय, ज्ञेय	ध्यान, प्रमाण, ज्ञान	
१. शुद्धपरमपारिणामिक-भावस्वरूप निजज्ञान-दर्शनानंदस्वभावी-कारणपरमात्मा	प्रामाण्यसहित स्वानुभवप्रत्यक्ष ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष प्रमाणरूपर मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञान अनुभव ज्ञान	सम्यक्त्व, समता, शान्ति ज्ञानानंद, मोक्षसुखानुभव अतींद्रिय आनंद,
२. उस के व्यतिरिक्त अन्य शुद्धाशुद्धसंयोग आदि इन्द्रियविषय	प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, परोक्ष स्मृति अनुमान आगमादि परोक्षज्ञान	दुःख, अशान्ति, आकुलता, विषमता,

२३७. समयसार गाथा १८६

इसे समझने हेतु बैटरी या टार्च के उदाहरण से विषय स्पष्ट होगा-

१. बैटरी की कांच मानो रंगीन है, काली या पीली है। **यह साधन है।** जहाँ बैटरी का प्रकाश पहुँचता है, वह वस्तु स्वच्छ सफेद है। **यह विषय है।** हमें इस का फल विषय के जैसा यथार्थतया स्वच्छ तथा सफेद चाहिये, पर फल रंगीन मिलेगा, क्योंकि कांच काली या पीली है।

२. इसी तरह यदि हम अपने मतिज्ञानरूप स्मृति, प्रत्यभिज्ञानादि परोक्ष प्रमाणसाधन से या नयस्वरूप परोक्ष श्रुतज्ञानोपयोग से अर्थात् नयसाधन से त्रिकाली परमपारिणामिकभावरूप कारणपरमात्मास्वरूप निजशुद्धात्मा को विषय करेंगे, **तो मिथ्यात्व या अशान्ति या आकुलता ही हाथ लगेगी, अशुद्धोपयोग से शुभ या अशुभोपयोग ही होगा व आस्रव बंध के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं आयेगा।** यही अशुद्ध साधन के उपयोग का फल मिलेगा।

३. इसके अतिरिक्त पूरे गुण व पर्यायोंसहित द्रव्य को विषय करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाणज्ञानरूप शुद्ध साधन से उस शुद्ध कारणपरमात्मा को छोड़ कर किसी अन्य पर्यायरूप क्षणिक आत्मा को या संयोगी अवस्था को विषय करेंगे, उसे ज्ञेय, ध्येय या विषय बनायेंगे, **तो साधन शुद्ध होकर भी विषय अशुद्ध होने से मिथ्यात्वादि का ही उपर्युक्त फल आयेगा। वह भी अशुद्धोपयोग होगा।**

४. परन्तु यदि इन्द्रिय या मन की सहायता के बिना स्वानुभवप्रत्यक्ष-मतिज्ञान या श्रुतज्ञानरूप शुद्ध प्रमाणज्ञानसाधन द्वारा त्रिकालीशुद्ध निज कारणपरमात्मा को विषय किया गया, तो स्वयं का या निज कारणपरमात्मा का शुद्ध-अनुभव आयेगा, तब यथार्थ तत्त्वार्थश्रद्धान होगा व सम्यग्दर्शन का सूर्य उदित हो कर मोक्षमार्ग स्पष्ट होगा तथा स्वयं के सिद्धस्वरूप मोक्ष को सामने निरख कर समता, शान्ति, अनाकुलता तथा अतीन्द्रिय निराकुल आनन्द होगा। **यही शुद्ध आत्मानुभव या शुद्धोपयोग या निज शुद्धात्मानुभूति या स्वसंवेदन है।**

इस लिये शुद्ध आत्मा को **विषय** या ध्येय बना कर पूर्णता की दृष्टि से **प्रमाणज्ञानसाधन से या धर्म्यध्यान या शुक्लध्यानसाधन से** ध्याया गया, तो स्व और पर का या जीवाजीवादिस्वरूप निजतत्त्व या निजस्वभाव का यथार्थ भेदज्ञान हो कर इष्ट सम्यग्दर्शन हुए विना नहीं रहेगा। वही तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है। **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।** (त.सू. अ १ सू. २) इसका अर्थ यह कि **जैसा मेरा तत्त्व या मेरा स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान-दर्शनानन्दस्वभावी निज-कारणपरमात्मा को जान कर उसका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। इसमें निज कारणपरमात्मा विषय है, जिसका साधन उस परमशुद्धनिश्चय नय के विषय को प्रमुखता दे कर तथा इतर नयों के पर्याय-संयोगस्वरूप अनित्य विषयों को गौण कर पूर्ण आत्मद्रव्य को जानना ही है, जिससे फल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है।** इससे सिद्धों जैसा ही स्वयं का अनुभव होगा और तभी **मैं हि सिद्ध परमातमा मैं ही आतमराम। मैं ही ज्ञाता ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम।।** यह कहना तथा **मैं ज्ञानानंदस्वभावी हूँ** या **हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम।।** यह कहना सार्थक होगा।

स्वयं का आत्मा भी एक द्रव्य है तथा वह सत् है और वह सत् इसलिये है क्योंकि वह गुण-पर्यायवान है और वह गुण-पर्यायवान है, अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। उनमें से गुण ध्रुव-नित्य हैं व पर्यायें उत्पाद तथा व्यय रूप अध्रुव-अनित्य है। **इसतरह से मैं स्वयं गुण-पर्यायरूप से नित्य-अनित्य व ध्रुव-अध्रुवरूप से अनेकान्तात्मक हूँ।** उनमें से नित्य या अनित्य में से, एक या अनेक में से कोई भी एक पक्ष नयों का विषय होता है। **प्रमाण दोनों को मुख्य-गौण रूप से ग्रहण करता है।** जब एक या नित्य विषय ध्रुवरूप से मुख्य होता है, तब अनेक या अनित्य रूप विषय गौण होता है। जब अनेक या अनित्य विषय मुख्य होता है, तब एक या नित्य विषय गौण होता है। शुद्धोपयोग में ध्रुव मुख्य होता है तथा अशुद्धोपयोग अर्थात् शुभोपयोग-अशुभोपयोग में उत्पाद-व्यय मुख्य होता है।

इसतरह शान्ति की या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु शुद्धोपयोग ही कारण है, अशुद्धोपयोग नहीं। इसलिये १. निजज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुवकारणपरमात्मा यदि ध्यान का ध्येय, ज्ञान का ज्ञेय या उसका अवलम्बन हो। २. एकान्तरूप नयज्ञान के बजाय अनेकान्तात्मक स्वानुभवप्रत्यक्ष-प्रमाणज्ञान साधन हो, ३. तभी उसका फल शुद्धोपयोग होगा।[२३८]

इसी शुद्धोपयोग से ही मोहादि का विनाश होता है, उसके बिना शुद्धात्मलाभ नहीं होता, इस हेतु ही प्रवचनसार गाथा ८० में उपाय बताते हैं - देखें यह उद्धरण - **शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति मोहादिविनाशाभावे शुद्धात्मलाभो न भवति तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति।** (प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति टीका की उत्थानिका)

यह प्रवचनसार गाथा १८१ व बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीकाओं से स्पष्ट होता है। उनका अध्ययन सूक्ष्मता से आवश्यक है।

यहाँ एक **प्रश्न** उभरता है कि हमें तो शुद्ध त्रिकाली ध्रुव कारणपरमात्मा दिखाई नहीं देता, तो उसको विषय कैसे करें? इस के **समाधान** में उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उत्पाद, व्यय व ध्रुवयुक्त जो सत्रूप द्रव्य की सत्ता है, यही द्रव्य का लक्षण है और यही गुण तथा पर्यायों से सहित होनेरूप सत् है। देखें - **सत्-द्रव्यलक्षणम्।**[२३९] **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।**[२४०] **गुणपर्ययवत् द्रव्यम्।**[२४१]

इसी में प्रश्नकर्ता के प्रश्न का उत्तर या समाधान निहित है। उसका कुछ स्पष्टीकरण नीचे दे रहा हूँ। **प्रश्नकर्ता स्वयं जीवद्रव्य है। वह इसी शरीर में रहते हुए भी शरीर से भिन्न ही है। वह पूर्वभव के शरीर में से निकल कर इस मनुष्य-शरीर के बन्दीगृह में अभी रह रहा है। आगे इस शरीर से भी निकल कर अगले भव में जिस गति में जायेगा, वहाँ के शरीर-रूप बन्दीगृह में इस भव में किये हुए शुभाशुभ कर्मों की सजा वह भुगतेगा। ऐसा होने पर भी वह तो वही**

२३८ - प्रवचनसार १८१ व द्रव्यसंग्रह ३४ संवरानुप्रेक्षा की टीकायें.
२३९ - तत्त्वार्थसूत्र अ. ५/२९ २४० - वही अ. ५/३० २४१ - वही अ. ५/ ३८

जीवद्रव्य है, जो अपने अनन्तगुणरूपी विशेषताओं से परिपूर्ण है। अपने किसी गुण को उसने छोड़ा नहीं है। जैसे उसके अस्तित्वादि सामान्य व ज्ञान-दर्शन-सुख वीर्यादि विशेष गुण उसने अनादिकाल से छोड़े नहीं है **किन्तु उनका विश्वास भी नहीं किया है, अतः उसे आत्मा का अनुभव नहीं हो रहा है।** (देखिये समयसार गाथायें १७ व १८ की आत्मख्याति टीका।) क्योंकि अपने ही आत्मा का अनुभव अनादि से सतत होते हुए भी वह स्वयं को अपने से बाहर पर में से अनुभव आ रहा है ऐसा मिथ्यात्व के वशीभूत होने से मान रहा है। वह अपने ही द्वारा पुष्ट किये हुए मिथ्यात्वरूप भ्रम से स्वयं को पररूप देख रहा होनेसे अनादिकाल से स्वयं से भिन्न ऐसे **पर शरीर में अपनत्व** तथा **शरीर के सम्बंधियों में ममत्व** करता आ रहा है।

चूंकि वह पर को ही अपने रूप देख रहा है, इसलिये स्वयं की चेतन रूप सत्ता होते हुए भी स्वयं की उस ज्ञानरूप सत्ता को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। शरीर में जो भी घटनायें घटती हैं, उनको वह अपने में घटती सी जान रहा है, क्योंकि वह अपने ज्ञान के उपयोग का टार्च स्वयं को देखने हेतु न मोड़ कर पर की ओर मोड़ रहा है, जैसे चिकित्सक रोगी का उपयोग उसे नींद का इंजेक्शन दे कर नींद की तरफ मोड़ कर रोग से हटाता है और रोगी सुख-शांति का अनुभव कुछ क्षण भ्रमवश करता है।

अब यह सिद्ध होने पर कि ज्ञान का और सुख का संवेदन यह आत्मा का ही विशेष गुण होने से आत्मा ही ज्ञानगुण के कारण सतत जानते रहता है और सुखगुण के कारण सुख की चाह सतत करते रहता है। शरीर न तो सुख चाहता है या न किसी भी शारीरिक रोगादि या वाह्य पदार्थों को इंद्रियों द्वारा जान सकता है, क्योंकि वह जड़ है। इसका अनुभव प्रत्यक्षतया हम नींद के समय, बेहोशी के समय या शरीर से आत्मा निकल जाने पर मृतक शरीर को जलाये जाने आदिपर जीव के बिना कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है, वह अचेतन तथा जड़ है।

सतत् जानना तथा सुख-दुख का वेदन करना, यह जीव के ज्ञान तथा सुख गुणों की प्रतिक्षण द्रव्यत्व गुण की शक्ति से बदलनेवाली **क्रमबद्ध या क्रमनियमित या क्रमभावी पर्यायें** हैं। वह उत्पादव्ययरूप निश्चित क्रम में सतत् होती ही रहती हैं। उन्हें बदलना किसी इन्द्र, धरणेन्द्र या किसी देवी-देवता या प्रत्यक्ष जिनेन्द्र को भी शक्य नहीं है। कहा भी है -

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा।।
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा।।[२४१अ]

इसलिये घटनायें क्रम से घटती जाती हैं, **उनका केवल साक्षि रहना, यही चेतनास्वरूप आत्मा का कार्य है।** ऐसा करने से किसी घटना को बदलने की चिन्ता नहीं सतायेगी व उसे क्रमशः होता जान कर साधक केवलज्ञानी जैसा केवल जानते रहने का प्रयत्न करेगा व सतत् शान्ति तथा सुख का अनुभव करता रहेगा। यही शान्ति-सुख का अमोघ उपाय है। वह उपाय अपने स्वयं के वश में है, जिसे वह अज्ञानवश बाहर ढूंढता फिरता है, कस्तूरीमृग जैसा वह अपनी नाभि में भरी कस्तूरी की गंध को बाहर से आती हुई समझ कर बाहर में ही दौड़ता फिरता है और थक कर चूर हो कर सतत् दुख का अनुभव करता है। यह उसकी उसके स्वयं के ही अज्ञानवश होने वाली स्वयंनिर्मित विवशता है। इसका मुख्य कारण उसका पाला हुआ मिथ्यात्व ही है।

जब उस मृग की तरह यह आत्मा भी सत्य-स्थिति जानेगा कि शरीर तथा अन्य परद्रव्यों में ज्ञान व सुख का लेश भी नहीं है, तो वह उसें स्वयं में खोजेगा व बाहर में ढूँढने की आकुलता से स्वयं ही बचेगा। इसी तरह सर्व आकुलता से बच कर अनाकुल सुख का भोक्ता बनेगा। यह उसी के ज्ञानगुण का स्वोन्मुखी प्रताप है। तब उसे अपनी स्वयं की महत्ता ख्याल में

२४१अ. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३२१ व ३२२

आकर वह स्वयं में ही अतीन्द्रिय आनन्द का महासागर लहराता हुआ पायेगा।

यही शुद्धात्मानुभूति है, जो सम्यक्त्व का कारण है। दोनों एकसाथ उपजते हैं। इसका कारण उससमय शुद्धात्मा यह विषय है, जाननेवाली स्वानुभवप्रत्यक्ष मतिज्ञान या श्रुतज्ञान की पर्याय यह साधन है, जो उस शुद्धात्मा को ही विषय करती है, अतः उसका फल मोक्षसुख का क्षणिक आनन्द है, जिसके बाद वह चारित्र की कमजोरीवश फिर से शुभ-अशुभरूप क्रियाकाण्ड में फंस जाता है। यद्यपि उसका बाहर न भटकने से आनेवाला आनन्द छूट गया है, फिर भी वह सम्यक्त्वी ही रह गया है। स्वानुभूतिरूप ज्ञान से वह सम्यग्ज्ञानी भी बना है व उसे दर्शनाचाररूप चारित्र का भी स्पर्श भी हो गया है।[२४१ ब] यह ही रत्नत्रय है, जो असंयतसम्यग्दृष्टि को भी प्रारंभ हुआ होता है।

उस शुद्धोपयोग के समय बुद्धिपूर्वक कषायें नहीं है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक वह निजशुद्धात्मा को विषय करता है, उसी कारण से उसे प्रमाद नहीं है। वह शुद्धोपयोग की दशा अप्रमत्त ही है। प्रमाद तो तभी होता है, जब आत्मा का उपयोग निजात्मा को छोड़ कर पर को विषय करता हो। शुभ या अशुभरूप परिणामों में अपने उपयोग को भटकाना ही प्रमाद है। वही संसार है, फिर चाहे वह शुभोपयोगरूप हो या अशुभोपयोगरूप हो। शुद्धोपयोग के काल में चौथे या पांचवें गुणस्थान में भी प्रमाद नहीं रहता, क्योंकि वहाँ गौणरूप से शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्त दशा है, जो अत्यल्प काल रहती है।

तो इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारे सभी के पास **अपना जीवद्रव्य** है, वह अनन्तगुणों का पिण्ड है, क्योंकि द्रव्य उसे ही कहते है, जो अनन्तगुणों का भण्डार हो तथा उसके अनन्तगुणों की पर्यायें प्रतिसमय नवनवीन बदलती जा रही हैं अर्थात् **मैं स्वयं ही अनन्तगुणपर्यायवान**

---

२४१ ब. - धवला टीका पु. १/११५

द्रव्य हूँ, मैं अपने गुणों को न देख कर पर्यायार्थिकनय से अपनी पर्यायों का ही अनुभव किये जा रहा हूँ। अपने गुणों की या स्वयं की शाश्वतता का अनुभव इसी कारण कर नहीं पा रहा हूँ! एक दृष्टि से मैं ही अपने गुणवत्ता की उपेक्षा कर रहा हूँ। इसलिये चाहता तो यही हूँ कि इष्टवियोग न हो, अनिष्टसंयोग न हो. शरीर में रोगादि की वेदना न हो व भविष्य में कभी दुख न मिले, बस सुख ही सुख मिलता रहे। यही इष्टवियोगादि चतुर्विध आर्त्तध्यान है।

ऐसे वह केवल अज्ञानवश आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान भी करता रहता है, पर जब से वह अविरतसम्यग्दृष्टि हुआ है, तब से वह जानता है कि अब अविरत होते हुए भी मैं अनंतगुणों का स्वामी हूँ और जब केवली या सिद्ध बनूंगा, तब भी अनन्तगुणों का स्वामी ही रहूंगा। अतः वह चिन्तामुक्त रहता है, घटनेवाली घटनाओं का साक्षि रहकर अपनी मनःस्थिति विचलित होने नहीं देता, क्योंकि वह स्वयं को अभी भी पूर्णता की दृष्टि से पूर्ण ही देखता है।

नियमसार गाथा ४७ में सभी संसारी जीवों को सिद्धसमान शुद्ध देखा है, उन में सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का भेद ही निश्चयनय से त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की अपेक्षा से मिटा ही दिया है। आचार्य पद्मनंदि तो आगे नियमसारकलश ७१ में कहते ही है कि किस नय से मैं उनमें भेद देखूं? जीव के स्वभाव में न तो सम्यक्त्व है, न मिथ्यात्व है। जीव जैसा है वैसा देखना सम्यक्त्व है और विपरीत देखना मिथ्यात्व है। तो फिर मैं मुझे यथार्थ क्यों न देखूं? यही तो शुद्धोपयोग की कूंजी है, जो ज्ञानसाधन से ही प्राप्त होती है। हमारे पास जो ज्ञानसाधन है, उससे जो हमारे पास उत्पाद-व्ययरूप पर्याय है तथा ध्रुवस्वरूप त्रिकाली कारणपरमात्मा है, उन दोनों रूपों में से मैं अपने ध्रुवस्वरूप को ही यदि देखूँ, तो समता, शान्ति, निराकुलता अभी हाजिर है।

इसके लिये केवल जानते रहने की कला सीखनी होगी। सिद्धों जैसी

केवल जानते हुए साक्षि रहकर पर की उपेक्षा करने की कला स्वयं में जगानी होगी, तभी आनन्दी जीवन जीना संभव होगा। परद्रव्य से भिन्न ऐसे स्वयं में रुचि जगानी होगी, उसे ही यथार्थतया जानते रहने व उसी में रमते रहने की क्षमता प्राप्त करनी होगी। यही तो पं. दौलतरामजी ने छहढाला में सब को निम्नप्रकार न केवल सूचित किया है, बल्कि आगाह किया है कि यही एक अकेला मार्ग सच्चे सुख का हेतु है। देखे -

परद्रव्यन तैं भिन्न आपमें रुचि **सम्यक्त्व भला** है।
आपरूप कौ जानपनो सो **सम्यग्ज्ञान कला** है।।
आपरूप में लीन रहे **थिर सम्यक्चारित** सोई।
अब **व्यवहार मोक्षमग** सुनिये हेतु नियत को होई।। (छहढाला ३/१)

यही वह कला है, जो सीखनी है। इस कला द्वारा केवल स्वयं में पर से भिन्नतास्वरूप ज्ञायक देखने की रुचि जगा कर स्वयं को वैसा ही देखते रहने की कला द्वारा स्वयं में ही जमने की शक्ति अर्जित करनी है। **यही कला अपनी ही विवेक या भेदविज्ञान या प्रज्ञा की कला है, जो स्वयं, स्वयं को, स्वयं के द्वारा, स्वयं के लिये, स्वयं में से, स्वयं में स्वयंपूर्ण होना, इसतरह स्वयं के षट्कारकीरूप से सिखाती है, क्योंकि मोक्ष याने स्वयंपूर्णता अर्थात् पराधीनता या परतन्त्रता का महाविनाश।** इसी हेतु समयसार की यह गाथायें देखें -

कह सो घिप्पदि अप्पा, पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो, तह पण्णाएव घेत्तव्वो।।२९६।।
पण्णाए घेत्तव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा।।२९७।।

यहाँ आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं प्रश्न निर्माण कर स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं कि **उस आत्मा को कैसे ग्रहण करे?** उसका उत्तर ऐसा वे प्रस्तुत करते है कि **उसे प्रज्ञा अर्थात् विवेकज्ञान या भेदज्ञान से ही ग्रहण करना चाहिये। जैसे प्रज्ञा से उसे विभक्त किया, वैसे ही प्रज्ञा**

से ही उसे ग्रहण करना चाहिये। ऐसा प्रज्ञा से जिसे ग्रहण किया जाता **है, वही मैं ही निश्चय से आत्मा हूँ अर्थात् मैं उतना ही हूँ, शेष जो कुछ भाव अर्थात् द्रव्य, गुण या पर्याय बचे हैं, वे सभी मुझसे भिन्न ही है, ऐसा जानो।**

इसमें स्पष्टरूप से भेदविज्ञान की वह कला सिखाई है, जो पं. दौलतराम जी ने उपरिम गाथा द्वारा सूचित की है। **वास्तव में परद्रव्यों से भिन्न ऐसे निज आत्मा को परद्रव्यों अर्थात् राग-द्वेष-मोहरूप जो भावकर्म है उनसे, जो ज्ञानावरणादि आठ जड़ द्रव्यकर्म हैं उन से तथा शरीरादि कर्मजन्य संयोगरूप जो नोकर्म है, उन से स्वयं को भिन्न जानना, जान कर स्वयं में रुचि करना व स्वयं में ही लीन रहना, यही वह कला है,** शेष सभी व्यवहार है। वह व्यवहार इस कला के साथ आता ही है, उसे लाना या उस हेतु प्रयत्न नहीं करना पडता। बस, प्रयत्न तो केवल उपयोग को पर से भिन्न निजात्मा में रुचि दृढ करते रहने का ही करना चाहिये।

जीव का स्थायी पता जो हरक्षण न भूलनेयोग्य है और जो परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाली निज ध्रुव-ज्ञान-दर्शनानंदस्वभावी चैतन्य-स्वभाव है, वह अनादि से निगोद से लेकर सिद्धावस्था तक अनन्त-काल तक जीव के साथ था, अभी है व आगे भी रहेगा।

इसके सिवा शेष पते अनन्तबार बदले, बदलते आये व यदि अभी भी स्थायी पता न जाना, तो अनन्त काल तक बदलते रहेंगे, फिर चाहें वह मनुष्य हो, नारकी हो, देव हो, तिर्यंच हो, कोई भी मार्गणा, गुणस्थान या जीवस्थान हो, बालक, तरुण या वृद्धरूप अवस्थायें हो, रागी, द्वेषी, मोही अवस्थायें हो, वीतरागी शुद्ध क्षायिकभाव, एकदेशशुद्ध अवस्थारूप क्षायोपशमिकभाव, औपशमिकभाव या विकाररूप औदयिकभाव हो, यह सभी पर्यायरूप भाव या अवस्थायें इस जीव के सदैव **अस्थायीरूप से बदलनेवाले पते हैं।** अभी तक उन से ही जीव अपनी पहचान स्वयं करता

आया है और दूसरों को कराता आया है, जिससे राग-द्वेष मोहरूप विकारों से मोहित हो कर उसका संसार में भटकते रहना छूट नहीं पाया है।

जैसे इस जगत में भी किसी भी सेवा हेतु अर्जी करते समय उसमें अस्थायी पता व स्थायी पता इसतरह दोनों पते देने होते हैं, इसी तरह यह जीव अपना स्थायी पता तो स्वयं जानता नहीं, इसलिये केवल इन अस्थायी पतों से ही स्वयं की पहचान करता आया है व अन्यों को कराता आया है। इससे उसे आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान से छूटना शक्य नहीं हो पाया है क्योंकि यह दोनों ध्यान संसारवर्धक हैं।

अतः आचार्यदेव जीव को प्रज्ञा द्वारा अन्य पतों से स्वयं को अलग कर अपने स्थायी पते को ढूंढने की कला सिखा रहे हैं। उन्होंने इस प्रज्ञारूपी कला से अपने को इन अस्थायी पतों से पहले भिन्न करने की तथा अपने स्थायी पतेरूप आत्मभूत लक्षण से स्वयं को केवल ज्ञान-दर्शनरूप या चैतन्यस्वभावीरूप से पहचानने की तथा ग्रहण करने की कला सिखायी। उसीतरह उसी प्रज्ञा से उन अस्थायी पतों से हट कर धर्म्यध्यान द्वारा या शुक्लध्यान द्वारा स्वयं के अपने स्थायी पतेरूप ज्ञायकभाव में अहंभाव करने की और अन्यों में **वे मुझ से पर हैं, वे मेरे कोई नहीं लगते, वे मेरे कोई काम के नहीं है,** वे सिर्फ हेयरूप से स्वयं से अत्यन्ताभावरूप होनेसे भिन्न हैं तथा केवल जाननेयोग्य है, यह बताया तथा अपने शुद्धस्वभाव को ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय बता कर अन्यों को अरुचिकर तथा उपेक्षा करने योग्य सिखाया व स्वयं में ही रमने जमने को प्रेरित किया।

यह वही धर्म्यध्यान है, जो श्रावकों को भी होता है और वह शुद्धोपयोगरूप ही है, शुभोपयोगरूप तो कतई नहीं। उसीकी खुमारी या ललक उस शुद्धोपयोग से च्युत होने के बाद भी चौथे गुणस्थानवर्ती को अधिकतम छह माह तक, पांचवें गुणस्थानवर्ती को पंद्रह दिन तक या मुनिराज को अन्तर्मुहूर्त तक बाहर रह कर फिर से शुद्धोपयोग में आने के लिये प्रेरित करती है। उससमय परोक्षज्ञानरूप से वह स्मृति, प्रत्यभिज्ञान,

तर्क, अनुमान व आगमज्ञान द्वारा उस खुमारी की पुनरावृत्ति करता रहता है। वह खुमारी प्रत्यक्षज्ञानवत् उसे संसार के संयोग-वियोगरूप थपेड़ों से या पर में अपनापन तथा पर के कर्तृत्व या भोक्तृत्व से बचाती रहती है व उन्हें क्षीण करती रह कर शुद्धोपयोग में अधिकाधिक लीन होने योग्य शक्ति प्रदान करती रहती है।

यह **विषय, साधन व फल का चुनाव** हुआ। उसमें विषय रहा परमशुद्धनिश्चयनय से निज ध्रुव-शुद्ध-ज्ञान-दर्शनानन्दस्वभाव जो हर जीव के पास स्थायी पतेरूप से तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभाव में से ध्रुवरूप से सदैव विद्यमान रहता आया है और रहेगा ही। **शेष सभी अस्थायी पते उस उपादेयरूप स्थायी पते के सामने अनित्य, अशरण, संसाररूप दिखेंगे। उनका सतत् परिणमन उस स्थायी पते में अनन्तकाल तक भी कोई परिवर्तन नहीं कर पायेगा।**

ध्यान में इस **उपादेयरूप स्थायी पते को मुख्य व अस्थायी पतों को गौण कर** इस शुद्धोपयोगरूप धर्म्यध्यान में रमने हेतु **प्रमाणरूप मतिज्ञान या श्रुतज्ञान साधन होगा**, अन्यथा उसे केवल नयरूप श्रुतज्ञानसाधन में अनेकान्तस्वरूप आत्मा के एकान्तरूप से या आंशिक रूप से अस्थायी पतों में ही समाधान मानना पड़ेगा व एकान्त दुखी रहकर संसार में रुलना पड़ेगा। अतः आत्मा को पूरा का पूरा उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वसहित, गुण-पर्यायों से युक्त सत्तास्वरूप जान कर सम्यक्त्वरूप फल पाने हेतु केवल परमशुद्धनिश्चयनय के विषय की प्रधानता से प्रमाण ज्ञान ही साधन है, यह निश्चित हुआ। इससे ही अपनी ज्ञानपर्यायरूप पत्नी त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप पति से तन्मय होकर निरा ज्ञान-दर्शनानन्द का भोग कर पायेगी। वह कभी भी अन्य अस्थायी पतों से तन्मय हो ही नहीं पाती, अतः वह उसकी चाह मे सदैव दुख का ही अनुभव करती आयी है व करती रहेगी।

इसी से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध आनन्द देनेवाली पर्याय प्रगट होती है. यही उस तन्मयता का फल है। इसमें मोक्ष का आंशिक

अनुभव असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा के रूप में वह पाता है व इस अपूर्व लब्धि से अन्तरंग में वह नाच उटता है, रोमांचों से नहा उठता है। **यही सही विषय और साधन के सही चुनाव का प्रत्यक्ष फल है** अन्यथा केवल आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान की भट्टी की राग-द्वेष-मोहरूप आग में ही उसे तपते रहना होगा। यही संसार की विषमता है, जो समतारूप शीतल जल की वृष्टि से ही बुझ पाती है।

इसतरह से **शुद्ध विषय व शुद्ध स्वानुभवप्रत्यक्ष प्रमाणज्ञान के चुनाव से शुद्ध फल प्राप्त करनेरूप यह मोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान से ही शुरू होता है** व वही बारहवें गुणस्थान के अन्त में उच्च छद्मस्थ दशा को पार कर केवलज्ञाता-द्रष्टास्वरूप वीतरागता के साथ अनंतचतुष्टयसहित परमात्मा बनाता है। इसलिये **यह शुद्धोपयोग ही सर्वथा कार्यकारी है।**

इसी शुद्धोपयोग का बीज प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान साधन के द्वारा शुद्ध आत्मभूतलक्षण से युक्त भूमि में डालने से मोक्ष का महावृक्ष अनन्तकाल तक लहलहाता रहेगा व फलता फूलता रहेगा। वही निगोद के अंधेरे तल से निकाल कर सिद्धपद के अनन्तप्रकाशमय लोकाग्र में पहुंचा देगा। इस बीज को बोना यही निश्चय रत्नत्रय है, **जो अविरतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में या पांचवें गुणस्थान में भी बोता ही है।**

इस हेतु देखिये प्रवचनसार का यह निम्न उदाहरण - **यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादि-रक्त-कृष्ण-श्वेतोपाधिवशेन रक्त-कृष्ण-श्वेतवर्णो भवति, तथायं जीवः स्वभावेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सरागसम्यक्त्वपूर्वक-दान-पूजाद्यनुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादि शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्यः। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपंचप्रत्ययरूपाशुभेनाशुभो ज्ञातव्यः। निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन शुद्धो ज्ञातव्यः इति।**[२४१ क]

---

२४१ क - प्रवचनसार गाथा ९ तात्पर्यवृत्ति टीका

अर्थात् जैसा यह स्फटिकमणि विशेषतया निर्मल हो कर भी जपापुष्प आदि के लाल, काले, सफेद रंग के संयोग से लाल, काला, सफेद होता है, इसी तरह यह जीव भी जपापुष्प आदि के लाल, काले या श्वेतरंग के संयोग से लाल, काला या सफेद होता है, उसीप्रकार यह जीव भी स्वभाव से शुद्ध-बुद्धरूप एक स्वभाववाला होनेपर भी, व्यवहार नय से गृहस्थ की अपेक्षा से यथासम्भव सरागसम्यक्त्व पूर्वक (चौथे या पांचवें गुणस्थान के अनुसार) दान-पूजा आदि के अनुष्ठान से तथा तपोधन मुनिराज की अपेक्षा से मूलगुण व उत्तरगुण आदि के शुभ अनुष्ठानरूप शुभोपयोग से परिणत होता है, इसलिये वह शुभ जानना चाहिये। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग इन पांच प्रत्ययोंरूप अशुभोपयोग से उसे अशुभ जानना चाहिये और निश्चयरत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग से शुद्ध जानना चाहिये।

इसप्रकार चौथे गुणस्थानवर्ती साधक भी व्यवहारनय से यथासम्भव दर्शनाचाररूप सम्यक्त्वाचरण से श्रावक के योग्य सात व्यसनों का, आठ मदों का, तीन शल्यों का, सम्यग्दर्शन के विरोधी आठ दोषों का तथा छह अनायतनों का त्यागी होता है परन्तु वह पांच व्रतों को नियम से धारण कर पांच पापों का एकदेश त्याग नहीं कर सकता, पंचमगुणस्थानवर्ती वह एकदेशरूप त्याग कर सकता है। इसप्रकार दोनों शुभानुष्ठान करते है, **जो शुद्धोपयोग के बिना शक्य नहीं है। शुद्धोपयोग की पृष्ठभूमि उसके होना यह आवश्यक शर्त है।** उस शुद्धोपयोग का बीज मिथ्यात्व गुणस्थान के सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टिरूप करणलब्धि के गुणश्रेणिनिर्जरा द्वारा ही रोपा गया है, तभी निश्चयसम्यग्दर्शन का फल प्राप्त हुआ है। प्रत्यक्षप्रामाण्यसहित प्रमाणज्ञानरूप प्रत्यक्ष स्वानुभूति या स्वात्मानुभव उसका साधन है तथा अशुभ तथा शुभ विषयों में रमनेवाले शुभ या अशुभ अनुष्ठान से रहित ऐसे निजशुद्धस्वभाव में ही अनुष्ठान उसका विषय है, तथा शुद्धात्मानुभव की प्राप्ति तथा अतीन्द्रिय आनन्द के साथ सम्यक् रत्नत्रय की प्राप्ति उसका फल है। यही निश्चयरत्नत्रय है।

अर्थात् **चौथे गुणस्थान को निश्चयनय से जानना हो, तो वहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन है तथा वहाँ अनन्तानुबंधीकषायों के अभावरूप सम्यक्चारित्र है, जो उस गुणस्थान के लायक स्वरूपाचरणरूप भी है। उसके साथ वहाँ पर दर्शनाचार या सम्यक्त्वाचरणरूप व्यवहारचारित्र भी है** अर्थात् वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान, देव-गुरु-शास्त्रों का श्रद्धान, स्व-परभेदविज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान व दर्शनाचाररूप व्यवहारचारित्र भी है। इसतरह वहाँ निश्चयरत्नत्रय के साथ व्यवहाररत्नत्रय भी है। पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषायों का अभाव दूध में शक्कर जैसा अधिक है।

ऐसी ही स्थिति छठवें या सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनीश्वरों की है। उनमें से छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग की प्रमुखता है अर्थात् वहाँ शुद्धोपयोग की गौणता भी गृहीत है। क्योंकि छठवां गुणस्थान शुरू में तो होता ही नहीं, वह तो प्रथम सातवाँ गुणस्थान होने पर ही होता है क्योंकि वहाँ पर अट्ठाईस मूलगुणों के सद्भावरूप व्यवहारचारित्र होने पर भी बारह कषायों के अभावरूप शुद्धोपयोगदशा का निश्चयचारित्र न हो, तो उस व्यवहारचारित्र की वहाँ पर कोई कीमत नहीं है, क्योंकि वास्तविक मुनित्व वहाँ पर है ही नहीं, वहाँ तो व्यवहाराभासरूप पहला गुणस्थान ही है।

इसी तरह से जैसी मिथ्यात्वी की व्यवहारचारित्ररूप दशा हो, उस उस दशा में यदि करणलब्धिरूप गुणश्रेणिनिर्जरा शुद्धज्ञानदर्शनानन्द स्वभाव को विषय बनाकर अप्रमत्तरूप से की जाय, तो उस उस दशा के अनुसार यथासम्भव चौथा, पांचवां या सातवां गुणस्थान ही आता है। मिथ्यात्वी अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हुए भी वह करणलब्धि के बाद छठवें गुणस्थान को पहले स्पर्श नहीं कर सकता। उसे सातवें गुणस्थान के बाद प्रमाद में आने पर ही छठवां गुणस्थान आयेगा। **यह सिद्ध करता है कि शुद्धोपयोग प्रमत्तदशा को प्राप्त नहीं कराता बल्कि वह सातवें अप्रमत्त गुणस्थान को ही प्राप्त कराता है।** इसतरह प्रमाद में

होनेवाला शुभोपयोग या अशुभोपयोग भी शुभ या अशुभ कर्मों का आस्रव-बंध प्रमत्त अवस्था में करानेवाला ही होता है।

इसलिये शुभोपयोग के समय पाप की निर्जरा होने का जो भी विधान शास्त्रों में आता है, वह वास्तविक न हो कर वह शुभोपयोग पुण्य का ही आस्रव-बंध करानेवाला होने से व्यवहारनय से आचार्यों ने पाप के संवर-निर्जरारूप कहा है। वास्तव में तो वहाँ पुण्य का आस्रव ही है, इसलिये गुणस्थान चौथा हो या पांचवां, उस पर आरोहण करने हेतु तथा सातवें गुणस्थान में चढने हेतु स्वात्मानुभूतिरूप, शुद्धोपयोगरूप, शुद्धभावनारूप या निश्चय-धर्मध्यानरूप निश्चयरत्नत्रय की उपस्थिति ही आवश्यक है। उसके बिना वहाँ जो भी व्यवहार है, **वह तो व्यवहाराभास ही है। वहाँ निश्चयरत्नत्रय के अभाव में गुणस्थान पहला ही रहता है।**

इसलिये हे मुमुक्षु आत्मार्थी बंधुओं! न इरते हुए निश्चयमोक्षमार्ग की साधना हेतु अपने उपयोग को शुद्ध-त्रिकाली परमपारिणामिकभावरूप निज ज्ञानदर्शनानन्दात्मा को विषय करने में मोड़िये, उसके रंग में रंगाइये तथा उसे ही मुख्यता दे कर वर्तमान में उपस्थित अशुद्ध पर्याय या संयोगी भाव को गौण कर उसकी उपेक्षा कीजिये। समयसार की १४४ वी गाथा में तथा उसकी आत्मख्याति टीका में मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन करते हुए समयसार का जो व्याख्यान किया है, उस मोक्षमार्ग को धैर्यपूर्वक धारण कीजिये। वह गाथा तथा टीका इसप्रकार है।

उत्थानिका - जो पक्षातिक्रान्त है, वही समयसार है यह कहते हैं - गाथा- सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं।

सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।१४४।।

मूल टीका - अयं एक एव केवलं सम्यग्दर्शन-ज्ञानव्यपदेशं किल लभते। यो खलु अखिलनयपक्षाक्षुण्णतया विश्रान्तसमस्तविकल्पव्यापारः सः समयसारः। (१) यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभावं आत्मानं निश्चित्य ततः खलु आत्मख्यातये परख्यातिहेतून् अखिला एव इंद्रियानींद्रियबुद्धीः अवधीर्य

आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, (२) तथा नानाविधनयपक्षावलंबनेन अनेकविकल्पैः आकुलयन्तीः श्रुतज्ञानबुद्धीः अपि अवधीर्य श्रुतज्ञानतत्त्वमपि आत्माभिमुखीकुर्वन् अत्यन्तं अविकल्पो भूत्वा, (३) झगिति एव स्वरसतः एव व्यक्तीभवन्तं आदि-मध्यान्तविमुक्तं अनाकुलं एकं केवलं अखिलस्य अपि विश्वस्योपरि तरन्तं इव अखंडप्रतिभासमयं अनन्तं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विन्दन् एव आत्मा सम्यक् दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शन-ज्ञानं च समयसारः एव।

गाथार्थ - सर्व नयों के पक्षों से रहित ऐसा जो सम्यग्दर्शन और ज्ञान है, ऐसा जो कहा है, वही समयसार ऐसा नाम पाता है।

टीकार्थ - यह एक ही (आत्मा) सम्यग्दर्शन-ज्ञान ऐसा नाम पाता है, जो निश्चय से समस्त नयपक्षों से रहित अक्षुण्ण होने से उसके समस्त विकल्पों का व्यापार पूर्णतया रहित हुआ होता है। (अर्थात् प्रमाण का साधन ही वहाँ कार्यकारी है।) क्योंकि -

(१) प्रथमतः वह **श्रुतज्ञान (आगमज्ञान या देशनालब्धि) के आलम्बन से जब वह** आत्मा ज्ञानस्वभावी ही है ऐसा निश्चित करता है।

(२) बाद में आत्मा की प्रसिद्धि हेतु निश्चय से पर की ख्याति करने में जो कारण है, ऐसे **सर्व इन्द्रियों की और मन की तरफ लगे हुए अपने उपयोग को रोक कर मतिज्ञानस्वभाव को आत्मा के अभिमुख करता है।**

(३) वैसे ही अनेक प्रकार के नयों के पक्षों के अवलम्बन से जो अनेक विकल्प उठते हैं, उनसे **आकुलित होनेवाली श्रुतज्ञानबुद्धियों को अर्थात् उपयोगों को रोककर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्माभिमुख करता हुआ अत्यन्त निर्विकल्प होता है।**

तब बाद में झट से ही अपने ही रस से (स्वावलम्बन या स्वशक्ति से) जो व्यक्त होता है, ऐसे आदि-मध्य-अन्त से मुक्त, निराकुल, एक, केवल तथा सारे विश्व के ऊपर मानो तैरता हुआ होता है, ऐसे अखंड प्रतिभासमय (अर्थात् जिसका प्रतिभास अखंडरूप से सभी आवाल-गोपाल सभी सतत

करते हैं. ऐसा) **अनन्त-विज्ञान-घन परमात्मास्वरूप समयसार अनुभव में आता हुआ सम्यक्‌रूप से देखा और जाना जाता है, अतः सम्यग्दर्शन व ज्ञान ही समयसार है।**

इस गाथा और टीका में भगवानस्वरूप आत्मा का शुद्धोपयोगस्वरूप अनुभव पाने हेतु निम्न मार्ग दर्शाया है।

१) श्रुतज्ञान अर्थात् आगम का ज्ञान देशनालब्धिरूप से अनिवार्य है, उसके निमित्त **यह जो ज्ञान है, वही मैं आत्मा हूँ** यह निश्चित करना चाहिये।

२) फिर आत्मा की प्रसिद्धि हेतु संयोगों या पर्यायोंरूप जो पर है, उनकी तरफ झुकनेवाले और उनकी प्रसिद्धि के कारण ऐसे **इन्द्रियों व मन के तरफ झुकनेवाले मतिज्ञानतत्त्व को उधर झुकने से रोकना चाहिये।**

३) फिर सहजता से उसी मतिज्ञान को आत्मा की अर्थात् केवल ज्ञायक ज्ञानदर्शनानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख करना चाहिये।

४) इसी तरह अनेकविध नयों का अवलम्बन लेने से अर्थात् उनका एकान्त करने से श्रुतज्ञान में अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं। उन से आकुलता उत्पन्न होती है। इसलिये पर की तरफ मुड़ने से आकुलित होनेवाले श्रुतज्ञान के उपयोग को नयों के उन एकान्त विकल्पों से हटाना चाहिये।

५) फिर उस श्रुतज्ञान के उपयोग को निर्विकल्प ऐसे अपने अनेकान्तस्वभावी आत्मस्वभाव में झुकाना चाहिये अर्थात् श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना चाहिये याने केवल जाननेवाला रहना चाहिये।

६) उससमय अनादिकाल से जो आत्मस्वभाव भावप्रमेयरूप से उपयोग में व्यक्त होता आया है, फिर भी वह गौण रह कर **अपने उपयोग में अर्थप्रमेयरूप से ओझल रहता था, उसे ही बाह्यप्रमेयरूप से या अर्थप्रमेयरूप से त्वरित प्रगटरूप से अनुभव में लेना चाहिये।**

७) तब ऐसा अनुभव होता है कि मानो सारे परद्रव्यों के या सारे विश्व के ऊपर तैरता हुआ वह निजात्मस्वभाव सब से भिन्न है। वह आदि, मध्य

व अन्त से मुक्त है, उसका प्रतिभास अखंडरूप से होता आया है, अनन्त है, विज्ञानघन है, परमात्मा है व समय का सार समयसार है, ऐसा अनुभव में आता हुआ दीखता है, जाना जाता है। **यही शुद्धोपयोग है, यही शुद्धात्मानुभव है, यही मोक्षमार्ग है, यही धर्म्यध्यान है और वही सर्व शास्त्रों का सार समयसार है। यही केवल द्रव्यानुयोग का ही नही, चारों अनुयोगों का तात्पर्य है।**

यह शुद्धोपयोग ही धर्म का प्रारम्भ है, वह ही धर्म का मध्य है और वह ही धर्म का अन्त है तथा वही मोक्ष है, मोक्ष का हेतु है, संवर है और निर्जरा भी है। वह ही निश्चयरत्नत्रय है। इस सर्वेसर्वा शुद्धोपयोग का दर्शन होने पर ही व्यवहार में समीचीनता आती है, व्यवहार-क्रियाओं में से भी इसका ही प्रतिपादन, दर्शन, संसूचन तथा विवरण मिलता है। इस तरह **चरणानुयोग का द्रव्यानुयोग के साथ अतिनिकटता से सुमेल है।**

प्रवचनसार के दो निम्न कलश इस सम्बंध में क्या कहते हैं, यह देखेंगे -

द्रव्यानुसारि चरणं, चरणानुसारि,
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं,
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।।१२।।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः,
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि,
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु।।१३।।

१. अर्थ - द्रव्य के अनुसार (द्रव्यानुयोग से अविरुद्ध) चरण याने चारित्र या चरणानुयोग होता है, द्रव्यानुयोग चरणानुयोग के अनुसार होता है, इसलिये वे दोनों परस्पर सापेक्ष है, इसीलिये जो मुमुक्षु है, उसने द्रव्य का या चरण का अर्थात् चारित्र का आश्रय लेकर मोक्षमार्गपर आरूढ होना

चाहिये। १२. यदि द्रव्य की सिद्धि होती है, तो चरण याने चारित्र की सिद्धि होती है और चरण की सिद्धि होती है तो द्रव्य की सिद्धि होती है। ऐसा जानकर जो कर्म से छूटे नहीं है या जो कर्म से छूटे है वे भी द्रव्य से अविरुद्ध चरण को पालें। १३.

इसतरह इसी प्रक्रिया से स्वयं के स्थायी पते को जानकर और मानकर ही भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय में चारण मुनिराज के उपदेश से और उसीतरह हाथी के जीव ने भगवान पार्श्वनाथ की पूर्वपर्याय में सम्यग्दर्शन किया था। जीवन्धर स्वामी ने णमोकार मन्त्र सुनाते हुए जिस कुत्ते ने प्राण छोड़ कर देवगति पाई थी, वह देव जब जीवन्धर स्वामी के सन्मुख आया, तो उस अजनबी को देखकर जीवन्धरस्वामी ने यही प्रश्न पूछा था कि तू कौन है? तब उसने अपना परिचय देते हुए कहा कि वह तो यही कुत्ता है जो यहाँ से मरकर देव बना है और आपके उपदेश से देवगति पाकर आपके दर्शन को आया है। तब उनने पूछा कि तू देव या कुत्ता है? तब वह चिन्तन करने लगा कि कुत्ता और देव यह तो बदलनेवाले पते है। उन दोनोंरूप वास्तव में मैं नहीं हूँ। तब अपने ज्ञान से उसने पाया कि दोनों अवस्थाओं में रहनेवाला मैं एक तीसरा ज्ञान-दर्शनमय अनादिअनन्त जीवपदार्थ हूँ। त्वरित उसे सम्यग्दर्शन हुआ। इसी प्रक्रिया में से वे शेर तथा हाथी भी गुजरे और सम्यग्दर्शन पाया। इस तरह से अपने उपयोग को स्वयं की तरफ मोड़ने से ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति उन्हें हुई, जो हमें भी हो सकती है।

इस पर से यही फलित होता है कि निश्चयरत्नत्रय व व्यवहाररत्नत्रय दोनों सापेक्ष होते हैं, न कि निरपेक्ष क्योंकि द्रव्यानुयोग का विषय निश्चयरत्नत्रय है तो चरणानुयोग का विषय व्यवहाररत्नत्रय है। इसलिये दोनों परस्पर सापेक्ष ही है। **इसीलिये दोनों में से एक की भी उपेक्षा मोक्षमार्ग में सह्य नहीं है, प्रत्युत उनका सघन सख्य है, मित्रता है।** अतः यदि द्रव्यानुयोग से निश्चयनय के त्रिकाल ध्रुवचैतन्यस्वभावी शुद्धात्मा का आश्रय लेते हैं, तो बाह्याचरणरूप चरणानुयोग का आश्रय भी आता ही है, वहाँ वह

व्यवहार्य ही है, उसकी उपेक्षा कतईं नहीं की जा सकती। **इसीतरह जो चरणानुयोगानुसार बाह्याचरण को पालते हैं, वे भी द्रव्यानुयोग की उपेक्षा नहीं कर सकते, इसलिये द्रव्यानुयोग का द्रव्य सिद्ध करना हो, तो उसके साथी चरणानुयोग द्वारा प्रदर्शित बाह्याचरण की भी सिद्धि हो जाती है अर्थात् वैसा उस-उस पदवी के अनुसार बाह्याचरण सहज में आ ही जाता है।** वह बाह्याचरण न हो, तो उसकी निश्चय की धारणा **केवल निश्चयाभास है, नाटक है।** इसी तरह केवल चरणानुयोग-समर्थित बाह्याचरण **व्यवहाराभास है, नाटक है।** अतः निश्चयनय व व्यवहार नय दोनों का सुमेल अति आवश्यक है। वह सुमेल किसतरह शक्य है यह अब देखेंगे, क्योंकि सभी पूछते हैं कि हम अध्यात्म को व्यवहार में किस तरह अपनायें?

इसी विषय पर **थोडा सा अनुसन्धान** यहाँ किया जा रहा है -

(१). शुद्धोपयोग और जिनदर्शन - जिसे जिनदर्शन करना हो, उसे पहले जिनेन्द्रभगवान को जानना होगा। दर्शन याने देखना अर्थात् जिनेन्द्र भगवान को **उनके द्रव्यरूप से, गुणरूप से और उनके पर्यायरूप से जानना होगा।** तब यह ज्ञान में आयेगा कि उनका **द्रव्य** अनादिअनन्त अखंडरूप से रहनेवाला अनन्तगुणों का पिण्डरूप जीव द्रव्य है, **गुणरूप** से अनन्त काल से वे अनन्त गुणों के धारी हैं तथा उनकी **पर्याय** वर्तमान में शुद्ध है, अर्हन्त या सिद्ध अवस्था है। ऐसा जानने पर ही उनका सच्चा दर्शन संभव होगा।

चूंकि जिनेन्द्रभगवान भाव-जिनबिम्ब है, वे स्वच्छ दर्पण के समान है, इसलिये उनके बिम्ब में अपना प्रतिबिम्ब ऐसे **यथार्थ दर्शन** से ही सहज करना सम्भव होता है। अतः जब कोई उनका उपर्युक्तरूप से यथार्थ दर्शन करता है, तब उसे अपना दर्शन जिनबिम्ब में अपने प्रतिबिम्ब में से होता है। उस प्रतिबिम्ब द्वारा वह देखता है कि वह भी स्वयं द्रव्यरूप से उनके जैसा ही जीवद्रव्य ही है, जो अनादिअनन्त अखण्ड अनन्तगुणों का घनपिण्ड सिद्धों

जैसा आत्मा है। **गुणरूप से** भी सिद्धों जैसे अनन्त गुण अब भी उसमें विराजमान हैं। उन भगवान से एक भी गुण उसमें कम नहीं है, जिसके लिये उसे किसी भी ईश्वर से या प्रत्यक्ष जिनेन्द्र से या अन्य किसी देवी-देवता से मांगना पडे या उस हेतु कोई प्रयत्न भी करना पड़े क्योंकि वह स्वयं ही सिद्ध सा अनन्तगुणों का धारी अभी भी है।

अब **पर्यायरूप** से जो अन्तर अर्हन्त-सिद्ध तथा उस में है, वह यह है कि उनकी पर्याय अत्यन्त शुद्ध है और इसकी पर्याय मलीन, अपूर्ण, दुखी, विकारी व संसारी आदि है। जब वह इस अन्तर का कारण सूक्ष्मता से अपने ही भीतर खोजता है, तब उसे पता चलता है कि वह कारण उसके ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग है। वे ही यह अपराध हैं, जिनके कारण वह इस संसार में रुलता आया है, दुख भोगता आया है। तब उसे भगवान की शुद्धता के कारण का भी पता इस तरह चलता है कि उन्होंने स्वयं अपने अपराध का कारण जान कर अपने ही प्रयत्न से स्वयं के अपराध किसी के भी सहायता के बिना स्वयं ही दूर किये थे व अपने निरपराधी निज सिद्धसमान स्वभाव का आश्रय ले कर अशुद्धता को अपने में से हटाया था। ऐसा निश्चित करने से उसमें उन स्वयंनिर्मित अपराधों से छूटने की ललक जागृत होती है। उसी से उसका मोह अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म विनष्ट हो जाता है और वह संसारमार्गी से मोक्षमार्गी बन जाता है। देखें यह प्रमाण - **जो जाणदि अरिहंतं, दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।**
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु तस्स जादि लयं।।[२४२]

अर्थ - जो अर्हन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से व पर्यायरूप से जानता है, वह अपने को जानता है और उसका मोह तत्क्षण नष्ट हो जाता है। अर्थात् उसका मोह याने दर्शनमोह नष्ट हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि उसका दर्शनमोह ही नष्ट होता है, न कि चारित्रमोह। ऐसा जिनदर्शन ही चारित्रमोह की सेना पर भी विजय प्राप्त करने का उपाय है।[२४३]

---

२४२ - प्रवचनसार गाथा ८०

२४३ - प्रवचनसार गाथा ८० तत्त्वप्रदीपिका टीका

इस तरह अर्हन्त नाम के परमेश्वर को जान कर बाद में निश्चयनय से आगम के सारपदभूत **अध्यात्मभाषा से** निजशुद्धात्मा के अभिमुखरूप से जो सविकल्प स्वसंवेदनज्ञान करणलब्धि में होता है, उसी को **आगमभाषा से** अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण भी कहते हैं, उसी से दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है। ऐसे दर्शनमोहनीय के उपशमादि करने में समर्थ ऐसे परिणामों के विशेष बल से वह आत्मा में उस जिनदर्शन को जोड़ता है या योजता है तब निर्विकल्पस्वरूप को प्राप्त होता है, उस समय पर्यायों में जैसे हार में मोतियों जैसी विभिन्नता होने पर भी गुणरूपी शुभ्रता को देखने पर अभेदनय से वह हार ही है, ऐसा ज्ञान में आता है, वैसे ही पूर्वोक्त जो द्रव्य, गुण व पर्याय हैं, वे अभेदनय से (अभेदवृत्तिरूप परमशुद्धनिश्चयनय से) आत्मा ही है ऐसी भावना प्रस्फुटित होती है, तभी दर्शनमोहनीय का अंधकार (मिथ्यात्व) नष्ट हो जाता है। [२४४]

ऐसे दर्शन से हमें जिनभगवान का दर्शन करते हुए हर बार आत्मदर्शन या निजदर्शन करने की कला सीखनी चाहिये। इसमें भी विषय, साधन और फल का दिग्दर्शन होता है। विषय है निज ध्रुव शुद्धात्मा, साधन हैं स्वसंवेदन-साधनरूप मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, इसलिये उसका फल भी सम्यक्त्वपूर्वक संवर व निर्जरा है।

(२) **शुद्धोपयोग और जिनपूजन** - भगवान जिनेन्द्र की भक्ति या पूजनादि यह व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय से यह भक्ति सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की है और वह भक्ति श्रावक तथा श्रमण दोनों करते हैं। उसी को **निर्वाणभक्ति** कहते हैं। [२४५]

..... निजपरमात्मतत्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चरणात्मक जो शुद्धरत्नत्रय है, उसका भजन, भक्ति, आराधना ही रत्नत्रय की आराधना है या भक्ति है। श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में जघन्य छह प्रतिमायें, मध्यम तीन प्रतिमायें व उत्तम अन्त्य दो प्रतिमायें आती है, उनमें से ऐसे सभी श्रावक शुद्धरत्नत्रय

---

२४४ - प्रवचनसार गाथा ८० तात्पर्यवृत्ति टीका २४५ - नियमसार गा. १३४ टीका

की भक्ति (भजन या आराधना या सेवन) करते हैं।[२४६]

इसपर से यह सिद्ध होता है कि केवल अष्टद्रव्य चढाना या जप-जाप्यादि करना आदि यह सच्ची भक्ति नहीं है। **यह व्यवहारभक्ति तभी सफल है, जब निश्चयरत्नत्रय से युक्त परमात्मा को जान कर अपने रत्नत्रय की भक्ति तन्मयता से निश्चयनय से की जाती है, सेवा या आराधना की जाती है, तब श्रावकों की सच्ची भक्ति या पूजन कहा जाता है।**

पूजन का अर्थ है गुणानुराग, अपने आदर्शों के गुणों में अनुराग, प्रेम तथा उन जैसे गुणों को प्राप्त करने की दुर्दम्य आकांक्षा या तितिक्षा। इसलिये तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण में **वन्दे तद्गुणलब्धये।** ऐसा कहा है, इसका अर्थ यही है कि जो मोक्षमार्ग के नेता है, कर्मपर्वत के नाश करनेवाले हैं और विश्वतत्त्व को जाननेवाले है, **उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हेतु या कर्मों का विनाश करने हेतु या वीतरागी होने हेतु तथा सम्पूर्ण विश्व को एकसमय में जानने हेतु अर्थात् सर्वज्ञ बनने हेतु मैं उनको वन्दन करता हूँ, ऐसा आचार्य यहाँ कहते हैं।** पूजक की भी यही कामना होती है कि वह मोक्ष प्राप्त करें, वीतरागी बने, सर्वज्ञ बनें, क्योंकि वह ही सच्चे सुख का अर्थात् मोक्ष का स्थान है। इसी लिये ही वह पंचपरमेष्ठियों की आराधना भक्ति, पूजन, वन्दन, जपजाप्यादि करता है तभी वह भक्ति सार्थक होती है। वही भक्ति या पूजन, कायविनय आदि द्रव्यभक्तिरूप होता है और स्वयं में इन गुणों को प्रगट करने के प्रयत्न भावभक्तिरूप या भावपूजनस्वरूप होते हैं, तभी वह सार्थक है। यह शुद्धोपयोगरूप भक्ति अव्रती श्रावक भी उसकी तन्मयता के अनुसार करता ही है। यही उसका सम्यक्त्वाचरण है, दर्शनाचार है, दर्शनाराधना है।

वह जलादि अष्टद्रव्यों को चढ़ाते हुए लौकिक फलों की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि उसे निष्कांक्षित अंग होता ही है। प्रत्युत वह इन अष्ट द्रव्यों

---

२४६. नियमसार गाथा १३४ टीका।

को चढाते हुए निम्न भावनायें भाता है -

१. **जलार्चन** - यह जन्म-जरा-मुत्यु के विनाश हेतु किया जाता है। उससमय निश्चय से **मैं जन्म-जरा-मरणरहितस्वभाववाला त्रिकाली ध्रुव आत्मा हूँ,** ऐसा स्वयं को भाता है अर्थात् वैसा भावभासन करता है। वह भाता है **कि जलसमान मैं स्वच्छत्वस्वभावी हूँ।**

२. **गंधार्चन** - यह भवताप को नाशने हेतु किया जाता है। उससमय चन्दन का अर्पण वह व्यवहार से करता है, पर अन्तरंग में जानता है कि **मैं भव के सन्ताप से सर्वदा रहित ज्ञायक हूँ और इसतरह स्वयं का शुद्धात्मानुभव कर लेता है।** वह भाता है कि **चन्दन सा मैं क्रोधरहित परमशान्त-शीतल शान्तस्वभावी हूँ।**

३. **अक्षतार्चन** - वह भगवान की पूजन बाह्यरूप में अखंड चावलों से अक्षयपद की प्राप्ति हेतु करता है व अंतरंग में **स्वयं को अखंड, अक्षत, अभेद ज्ञायकस्वभावी शुद्धात्मस्वभाव रूप अनुभव करता है।** यहाँ वह भाता है कि **मैं निर्मानस्वभावी शाश्वत अखंड शुद्धात्मा हूँ।**

४. **पुष्पार्चन** - यहाँ कामबाण के विध्वंस हेतु पूजन किया जाता है। यह व्यवहार से बाह्य द्रव्यपूजन है, तभी अन्तरंग में वह कामबाणरहित त्रिकाली ज्ञायक निजशुद्धात्मा का भावभासन करता है। यहाँ यह **मैं निर्मायास्वरूप निष्काम शुद्धात्मा हूँ,** ऐसा वह भाता है।

५. **नैवेद्यार्चन** - यह पूजन क्षुधारोग के विनाशहेतु पूजक करता है और व्यवहार से चरु चढाता है। उसीसमय वह **मैं अनादिअनन्त क्षुधारोगरहित स्वयंतृप्त सरस शुद्धात्मा हूँ,** ऐसा भाता है तथा लोभकषाय को शुद्धात्मस्वरूप से भिन्न अनुभव करता है।

६. **दीपार्चन** - यह पूजन मोहान्धकार के विनाश हेतु तथा केवलज्ञान के प्रकाशन हेतु की जाती है। तब दीपक चढाते हुए वह जानता है कि **मैं अनादिअनन्त त्रिकाल स्व-पर प्रकाशक तथा स्वयंप्रकाशी ज्ञायक हूँ, जिसे किसी बाह्य दीपक की आवश्यकता नहीं है ऐसा भाता है।**

७. धूपार्चन - यहाँ पर वह अष्टकर्मविध्वंसहेतु धूप का अर्चन करता है, पर उसी समय वह **स्वयं ऊर्ध्वगमनस्वभावी अष्टकर्मरहित तथा रागद्वेषमोहरहित आत्मा हूँ ऐसा भावभासन करता है।**

८. फलार्चन - यहाँ पर व्यवहारनय से वह लौकिक टिकनेवाले सूखे फलों को मोक्षफल की प्राप्ति हेतु चढाता है, पर अन्तरंग में निश्चय से भावभासन करता है कि **मैं स्वयं ही मोक्षस्वरूप सिद्धसमान स्वयंपूर्ण ज्ञायक शुद्धात्मा हूँ।**

इस तरह वह **पुण्य के उदय में प्राप्त संपूर्ण वैभव को इस केवलज्ञानरूपी अग्नि में आहुति देकर स्वाहा करना चाहता है।** देखें यह पूजनपीठिका का अंतिम श्लोक -

अर्हन्! पुराण-पुरुषोत्तम-पावनानि, वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद्विमल-केवलज्ञानवह्नौ, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि।।

अर्थ - हे अर्हन्त भगवन्! इस जलते धधकते हुए पूजनरूपी यज्ञ के (यजन या पूजन) अकेले निर्मल केवलज्ञानरूपी अग्नि में मेरे पुण्योदय से प्राप्त सभी पुराण याने श्रेष्ठ तथा पुरुषों में उत्तम गणी जानेवाली तथा पावन-पवित्र वस्तुएँ जलाता हूँ याने उन्हें इस होमकुण्ड में समिधारूप से स्वाहा करता हूँ अर्थात् मेरा सारा पुण्य जला कर भी मैं केवल (सिर्फ) ज्ञानी ही रहना चाहता हूँ और उसकी प्राप्ति हेतु मुझे प्राप्त सभी पुण्योदयजन्य भोगसामग्री त्याज्य है, हेय है।

यही वह सच्ची पूजन या यजन या **यज्ञ** है, जिसमें **स्व में बसने हेतु पर से खसा जाता है।** बस यही पूजन का हेतु स्वयं में पूजन के मिष से रमने-जमने का होता है। वह शुभोपयोग को शुद्धोपयोग के साधनरूप से **केवल हस्तावलम्बनरूप से** उपयोग में लेता है। वह केवल ज्ञानी रहने हेतु ही शुभोपयोग को अपनाता है। **यही उसकी निश्चय-व्यवहारात्मक सच्ची पूजन है, जो व्यवहार द्वारा शुद्धोपयोगरूप निश्चयपूजन में केवल सहायक होती है, साधक उस में रमना नहीं चाहता।** इसतरह

चरणानुयोग की क्रियाओं में भी ज्ञान ही मुख्य है, जो द्रव्यानुयोग से मित्रता द्वारा ही सिद्ध होता है।

(३) शुद्धोपयोग और सामायिक - यह सामायिक श्रावक की दैनन्दिन क्रिया है। पहली प्रतिमा में वह सामायिक शिक्षाव्रत का अभ्यासरूप में पक्ष लेता है, दूसरी प्रतिमा में वह उसे नियमपूर्वक पालता है, रोज वह पांचों व्रतों की पुष्टि हेतु सामायिकादि चारों शिक्षाव्रतों में तत्पर होता है। तीसरी प्रतिमा से वह तीन बार सामायिक करता ही है। इस हेतु देखिये रत्नकरण्डश्रावकाचार के श्लोक क्र. १३७ से १३९। इस सामायिक का स्वरूप कहते हुए आचार्यश्री समंतभद्र उसी के श्लोक क्र. १०० व १०१ में कहते हैं कि **व्यापार तथा वैमनस्य से रहित हो कर तथा अन्तरंग में मन के विकल्पों से निवृत्त हो कर सामायिक में उपवास अथवा एकाशन करते हुए बैठना चाहिये। वह सामायिक प्रत्येक दिन यथावत् आलस्य त्याग कर *चेतव्यं* अर्थात् अन्तरंग में चेताना चाहिये।** पांच व्रतों की परिपूर्णता के हेतु अवधान युक्त अर्थात् सावधान हो कर सामायिक करना चाहिये। वास्तविक रीति से **सामायिक ही एक अकेला व्रत है, जिसका लक्षण सर्व-सावद्य से निवृत्ति है।** शेष इतर पांच व्रतों के भेद तो छेदोपस्थापना है। देखें यह उद्धरण-

सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षण**सामायिका**पेक्षया **एकं व्रतं** तदेव **छेदोपस्थापना**पेक्षया पंचविधमिहोच्यते। (सर्वार्थसिद्धि अ. ७/१ टीका) इसका ही अर्थ यह है कि **सामायिक ही एक व्रत है** जिसमें प्रमाद नहीं होता, केवल अप्रमाद होता है याने अप्रमत्तदशा होती है। **यही शुद्धोपयोग** है। समय का अर्थ आत्मा है, इसलिये **समय व इक** शब्द मिल कर समय विषयक अर्थात् प्रमादरहित हो कर एकाग्रता से किया हुआ आत्मविषयक चिन्तन ही सामायिक है, जिसमे सभी व्रत समाते हैं और सफल होते हैं। सामायिक में निजध्रुवशुद्धात्मा ही विषय होता है, इसलिये वह संवर निर्जरा का कारण होता है, क्योंकि इसमें विकल्प नहीं होते। इस समय निर्विकल्प

अनुभव में सहजानन्द का झरना बहने लगता है। जब तक यह साध्य नहीं होता, तबतक वह पंचपरमेष्ठि का तथा उसके समान निजशुद्धात्मा का चिन्तन विकल्परूप से करता रहता है। वह **व्यवहार सामायिक** है।

निश्चय सामायिक ही उसका प्रत्याख्यान है, प्रतिक्रमण है, कायोत्सर्ग है, वन्दना है, स्तवन है। इसतरह इसमें इन सभी छहों क्रियाओं की पूर्ति हो जाती है। यह सब स्वपरभेदविज्ञान पूर्वक ही होता है। **लघु सामायिक पाठ** में इस विषय में क्या कहा है यह देखें -

१.समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना। आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं मतम्।।[२४७]

२.साम्यं में सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्। आशाः सर्वाः परित्यज्य समाधिमहमाश्रये।।[२४८]

३.मनसा वपुषा वाचा कृतकारितसम्मतैः। रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निन्दामि वर्जये।।[२४९]

४.तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना। कायाहारकषायादीन् प्रत्याख्यामि त्रिशुद्धितः।।[२५०]

५.रागं-द्वेषं-भयं-शोकं प्रहर्षौत्सुक्यदीनताः। व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वामरतिं रतिमेव च।।[२५१]

६.जीविते-मरणे लाभेऽलाभे योगे-विपर्यये। बन्धावरौ सुखे-दुःखे सर्वदा समता मम।।[२५२]

७.आत्मैव मे सदा ज्ञाने-दर्शने-चरणे तथा। प्रत्याख्याने ममात्मैव यथा संवर-योगयोः।।[२५३]

८.एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः। शेषा बहिर्भवाः भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः।।[२५४]

९.संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरंपराः। तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम्।।[२५५]

अर्थ - १. सभी जीवों में समताभाव होना, संयम में शुभ भावना होना, आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यानों का त्याग करना, इसी को **सामायिक** कहते है। २. मेरा सभी जीवों में **समताभाव** है, किसीसे वैर नहीं है, इसलिये सभी आशायें छोड़ कर मैं **समाधि (समताभाव)** धारण करता हूँ। ३. मन से, वचन से तथा काया से व कृत-कारित-अनुमोदना से मैंने रत्नत्रय में जो भी दोष लगाये हो, उनकी मैं गर्हणा (प्रतिक्रमण) करता हूँ, निन्दा (आलोचना) करता हूँ व उन्हें अभी छोडता हूँ (प्रत्याख्यान)। ४. तिर्यंचों, मनुष्यों व देवों द्वारा सामायिक के काल में किये गये उपसर्गों को मैं सहन करता हूँ तथा शरीर, आहार व कषायादिकों को मन-वचन-काय

---

२४७ से २५५ - लघुसामायिकपाठ के श्लोक

से छोडता हूँ। (याने उन क तरफ जानेवाले शुभ-अशुभ उपयोग को अपने निजशुद्धात्मा की ओर मोइता हूँ।) ५. मैं राग, द्वेष, भय, शोक, अति हर्ष, उत्सुकता, दीनता, अरति व रति को मन, वचन व काया की शुद्धता पूर्वक छोइता हूं, अर्थात् पर-संयोगों से नाता तोइ कर अपने ज्ञानोपयोग को अपने शुद्धस्वभाव की ओर मोइता हूँ। ६. जीवन में या मरण में, लाभ में या अलाभ (हानि) में, संयोग या वियोग में, बंधु या शत्रु में, सुख या दुःख में, ऐसी विपरीत स्थितियों में भी मेरा अभी सर्वदा समताभाव है। ७. मेरा आत्मा ही मेरे ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में तथा प्रत्याख्यान, संवर व योग में बसा है। यह सभी इस समय मेरे आत्मा की तरफ ही झुके हैं अर्थात् निजात्मा से बाह्य कोई भी विषय इनमें से किसीका नहीं है। एकमेव निजात्मा ही उनमें बसा है। ८. मेरी आत्मा अकेली है, ज्ञानदर्शन ही उसका लक्षण है, वह शाश्वत भी है। उसके बिना शेष सभी संयोग यह बाहर से उपजे भाव हैं, वे संयोगलक्षणवाले है, मेरे स्वयं के स्वभावरूप नहीं है। ९. इसलिये मैं अभी उन सभी संयोगों से मन-वचन-काया से सम्बंध छोइता हूँ, क्योंकि उनकी वजह से ही मैंने दुःखों की परम्परा प्राप्त की है अर्थात् मैं न तो उनका स्वामी हूँ, न मैं उनरूप हूँ, न मैं उनका कर्ता हूँ और न मैं उनका भोक्ता हूँ। मैं तो केवल जाननहारा, देखनहारा, ज्ञाता तथा द्रष्टा अभी हूँ, केवल मैं साक्षि हूँ, ऐसा साक्षि रहना ही सामायिक है।

इस तरह **सामायिक काल में जागृतता, अप्रमत्तता, सावधानता आवश्यक है, यही तो शुद्धोपयोग है। इसमें विषय शुद्धात्मा है, साधन प्रमाणज्ञान है व उसका फल सम्यक्त्व व निजानन्दानुभव है। यही चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग का सुमेल है।** अन्यथा केवल सामायिकपाठ आदि पढ़ना केवल कसरत हो जायेगी। उसे व्यवहारनय से सामायिक कहा जाता है। बिना ज्ञान के चक्षु खोले इन क्रियाओं का करना केवल नाटक जैसा हो जायेगा। इसलिये यहाँ पर ज्ञान की ही प्रधानता है, वह ज्ञान ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना है।

(४) शुद्धोपयोग और वर्तमान अवस्था में शुभाशुभ भाव

वर्तमान अवस्था में कर्म के उदय में जब भी शुभाशुभभाव चलते हो, उसी समय उस अशुद्ध पर्याय के साथ त्रिकाली ध्रुवस्वभाव भी शुद्ध रूप से रहता ही है। उपयोग को उन पर्यायों से मोड़ कर याने उत्पाद-व्ययरूप पर्यायों को गौण कर, ध्रौव्यस्वरूप त्रिकाली शुद्धात्मस्वभाव को मुख्य करने से उपयोग शुद्धात्मा की ओर अभिमुख हो जायेगा व अपने स्वभाव को सहज ही देखने लग जायेगा।

यदि उपयोग शुभाशुभभाव को विषय करता भी हो, तो भी उपयोग कभी शुभाशुभभावरूप होता नहीं है, क्योंकि वह तो ज्ञान की पर्याय है। वह चारित्र के विभावपरिणामस्वरूप शुभाशुभ विकारों से कभी तन्मय नहीं होता, उनमें वह उपयोग कभी नहीं जाता, **क्योंकि वह उपयोग तो उपयोग (ज्ञान) स्वरूप ही रहता है, वह क्रोधादिस्वरूप नहीं होता।**[२५५अ]

इसका कारण यह है कि आत्मा का लक्षण उपयोग अर्थात् ज्ञानदर्शनस्वभाव है तथा क्रोधादि शुभाशुभभाव उस ज्ञानदर्शनस्वभाव से रहित अचेतन हैं। ज्ञानदर्शनोपयोग पर्याय का आधार ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा है, उल्टे क्रोधादि शुभाशुभ भावों का आधार जड़ परपदार्थ हैं। अतः उपयोगस्वभावी आत्मा में व उपयोग पर्याय में तन्मयता है, पर ज्ञान में झलकनेवाले क्रोधादि विभावपर्यायों में और ज्ञानदर्शनोपयोग में तन्मयता नहीं है। इससे क्रोधादि भावों का आत्मा में या आत्मा के ज्ञानदर्शनस्वभाव में पूर्णतः अभाव है। आत्मा की चारित्रगुण की पर्याय में उनका अस्तित्व विकारीरूप में अवश्य है, पर वह अस्तित्व ध्रुवज्ञानस्वभाव को छूता भी नहीं है। **वैसे उसी द्रव्य के दो गुणों में या द्रव्य व गुणों में परस्पर अतद्भाव या स्वरूपाभाव होता है, जैसे ज्ञानगुण का चारित्रगुण में अभाव। वह अभाव अन्यत्वरूप होता है।**[२५५ ब]

इसे एक उदाहरण से समझें - जैसे एक मनुष्य बचपन से मरण तक

२५५अ - समयसार गाथा १८१ २५५ ब - प्रवचनसार गाथा १०६ व १०८

मनुष्य ही है। फिर चाहे वह सदाचारी हो या दुराचारी, उसकी मनुष्यता में कोई अन्तर नहीं पडता। वह मनुष्यता उसकी जन्म से मरण तक सदैव ही है, जब कि सदाचार और दुराचार यह तात्कालिक अवस्थायें हैं। वे नष्ट होगी, पर उसका मनुष्यत्व स्थायी रहेगा। सदाचार का आधार मनुष्यत्व के अनुकूल आधार से होगा व दुराचार का आधार मनुष्यत्व के विरोधी आधार से होगा। इसी तरह इस जीव का उपयोग अपने ज्ञायकस्वरूप के अनुसार केवल जाननहारा, देखनहारा साक्षि होगा, तो वह संवर-निर्जरा का कारण होगा और वह शुद्धोपयोगरूप होगा तथा यदि उस का उपयोग शुभाशुभपरिणति के आधार से होगा, तो वह स्वयं आस्रव-बंध का ही कारण होगा।

इन उत्पाद-व्ययस्वरूप पर्यायों के चलते भी ध्रुवस्वभाव तो नष्ट होने से रहा, क्योंकि द्रव्य का स्वभाव ही उत्पाद-व्ययरूप रहने के साथ ही ध्रुवस्वभावी रहना भी है। हर द्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति उस-उस द्रव्य में सदैव त्रिकाल विद्यमान है, क्योंकि द्रव्य का स्वभाव ही वैसा है। इसलिये अध्रुवपर्याय के साथ त्रिकाली ध्रुवद्रव्य भी उपयोग का विषय हो सकता है। यह जीव की स्वतन्त्रता है कि उपयोग का विषय कौनसा चुने, क्योंकि दोनों उस अकेले एक ही वर्तमान पर्याय में विद्यमान है। पर्यायों की ओर उपयोग को लगाना कष्टप्रद है, क्योंकि पर्याय प्रतिसमय बदलनेवाली होने से वह हाथ नहीं आती, जबकि ध्रुवस्वभाव की ओर उपयोग लगाना सरल है, क्योंकि वह त्रिकाल एक सा है, शान्ति तथा सुख का भंडार है। उसी समय समतारूप धर्म प्रगट होता है, मोह और क्षोभ नष्ट होता है तथा संवर निर्जरा रूप से कर्म का आना रुकता है व बिना फल दिये कर्मों का झडना लगातार चलता रहता है।

यहाँ बस एक यही काम करना है कि अपने पास जो ज्ञान का साधन सदैव उपलब्ध है, उसे वस्तु के एक अंश को जाननेवाले नयों की ओर से हटायें तथा अनित्य ऐसे कर्मों के उदय या क्षय या

क्षयोपशम या उपशम से उत्पन्न होनेवाली पर्यायों से हटायें और अपने त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभाव में जोडे, तब पर का आधार छूट कर उपयोग में निजस्वभाव के आश्रय से सहजसुख का झरना फूट पडेगा। इस तरह विषय का चुनाव ठोस हो, अस्थिर न हो, इसकी परीक्षा पहले हम कर लें तथा पूर्ण वस्तु अनेकान्तस्वरूपी होने से अनेकान्त को विषय करनेवाले **प्रमाण ज्ञान को परमशुद्धनिश्चय के विषय की मुख्यता** से साधन बना लें, तो चिदानन्द का निर्झर बहने लगेगा।

मुनियों का परावलम्बन बहुतांश छूटा होने से उनके उपयोग को इस दिशा में मोइना उन्हें सहज शक्य होता है, पर गृहस्थ केवल मिथ्यात्व तंथा अनन्तानुबंधी के अभाव में भी बारह कषायों का सद्भाव होने से बहुतांश परावलंबन में फंसा रहता है, इसलिये उसे अपना उपयोग इसतरह मोइना सहजता से शक्य नहीं होता, **किन्तु वह असम्भव भी नही होता**, वह तो उसे प्रयत्न से साध्य कर सकता है। वह प्रयत्न यही हो कि शुभ भावों में प्रीतिरूप जो क्रियाकाण्ड अन्तर में चलता है, उसकी ओर से अपनी दृष्टि वह हटायें और निश्चयनय और व्यवहारनयों से जान कर व्यवहारनय के विषयं को गौण करे व **निश्चयनय के विषय को प्रमुखता देते हुए उसके द्वारा अपने पूर्णशुद्ध त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव को उपयोग में लें।** किसी भी नय को हटाना अपनी ही दृष्टि को अंध करना है तथा वह मोक्षमार्ग में अवांछनीय है। दृष्टि सतत् सन्तुलित चाहिये व किसी नय को अन्याय करने वाली न हो। यही मोक्षमार्ग में अपेक्षित है। तभी शान्ति की अपेक्षा की जा सकती है, संवर निर्जरा तभी शक्य होते हैं।

इसलिये **गृहस्थों ने भी शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा को उपयोग में मुख्यता दे कर ग्रहण करना चाहिये। पर्याय को गौण स्थान दे कर उसे ज्ञान में जानते हुए भी रमने हेतु ध्येय तो शुद्धात्मस्वभाव में रमने का ही होना चाहिये।** यह गृहस्थों को भी कैसा संभव है, यह इस सारणि द्वारा अगले पृष्ठ पर देखें -

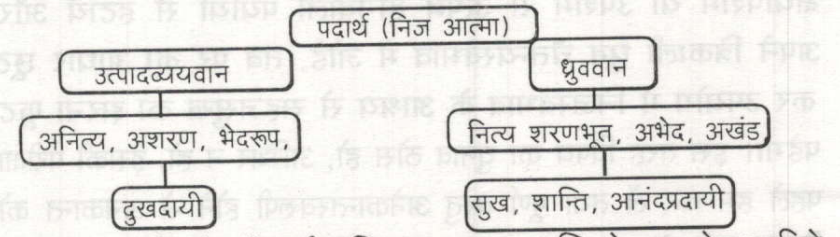

इस संदृष्टि से हमें पर्यायदृष्टि बन्द कर द्रव्यदृष्टि से काम लेना चाहिये व अपने ध्रुववान स्वभाव को दृष्टिगत कर उसे ही ध्येय बनाते हुए पर्यायों में सुख-शान्ति का अनुभव करना चाहिये। पर्यायों को ध्येय बनाने से दुख का ही अनुभव होगा। ऊपर दर्शाये अनुसार **अपना निजात्मा भी अभी पर्यायदृष्टि से पूर्ण संसारी व अशुद्ध है तथा द्रव्यदृष्टि से पूर्ण शुद्ध व कर्ममुक्त है। दोनों दृष्टियों से वह पूर्ण शुद्ध या पूर्ण अशुद्ध नजर आयेगा।** हम किसे चुने यह हमारे चुनाव पर निर्भर है। यदि द्रव्यदृष्टि का चुनाव कर उसे प्रधानता दी तो पर्यायों मे शुद्धता आती जायेगी। **यह ही शुद्धोपयोग का प्रभाव है।**

५. शुद्धोपयोग और ध्यान - हम पहले ही देख आये हैं कि जो ध्यान अभी मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, वह धर्म्यध्यान ही है, क्योंकि अभी शुक्लध्यान संभव नहीं है। इसके रूपस्थ, पिंडस्थ, पदस्थ व रूपातीत ऐसे चार भेद हैं।

रूपस्थ ध्यान में जिनेन्द्रदर्शन, वन्दन, पूजनादि आते हैं। उनमें जब जिनेन्द्र के रूप को निहारते हैं, उस समय उन की **प्रतिमा** में से ही हमारी दृष्टि **प्रतिमावान** पर जायें, **मूर्ति से मूर्तिमान** पर जा कर टिके, जैसे भगवान महावीर की प्रतिमा को देखते हुए हमारी दृष्टि समवसरणस्थित जीवित महावीर भगवान को देखे और ध्यान में लें। बाद में उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को ध्यान में लें, तब उनका दृष्टि में आनेवाला शरीरादि संयोगजन्य बाह्य रूप दृष्टि से ओझल हो कर उनका केवल ज्ञाता-द्रष्टा अनन्तचतुष्टयमयी रूप नजर आयेगा। तब हम भी अपनी तुलना भगवान से करते समय **हम**

स्वयं को द्रव्य से तथा गुणों से भगवान जैसा ही देखेंगे किन्तु पर्याय में जो भेद झलकता है कि वे शुद्ध हैं व हम अशुद्ध हैं, उस का कारण अपनी स्वयं की भूल है, यह भी नजर में आयेगा। **स्वयं को यथार्थ न जानना, यथार्थ न मानना** ही वह अपराध है। इसी कारण से हम पर में अपना अस्तित्व मान कर राग-द्वेष कर रहे हैं, पर को अपना तारनहार मान रहे हैं और अपना अस्मिता और स्वतन्त्रता खो बैठे हैं। यही हमारी मूल में भूल है।

इसी भूल को दूर करने से भगवान ने अल्पज्ञता से सर्वज्ञता पायी, रागी द्वेषी से वीतरागता पायी, शक्तिहीनता से अनन्तशक्ति प्राप्त की व भक्त से भगवान बन गये। यह पता चलने पर हमने रूपस्थ धर्म्यध्यान में यह जाना कि हमारी मूर्खता से ही हम बेचारे जड़ अज्ञानी कर्म को या पर को दोषी मान रहे थे, उस की जगह हम ने स्वयं की आस्रवतत्त्व व बंधतत्त्व की भूल को स्वीकार किया तब पर से सुख मानना छूटा, इसीलिये पर को **राग-द्वेष-मोहरूपी निमन्त्रणपत्र** भेजना बन्द किया, उससे नये कर्मरूपी अतिथियों का आना बन्द हुआ व पुराने संचित अतिथिरूप कर्मों ने उनकी उपेक्षा होने से कोई भी राग-द्वेषरूपी फल दिये बिना भागना शुरू किया, क्योंकि अपने उपयोग को अपने में ही रूपस्थ ध्यान में जोडा। यही **प्रक्रिया है रूपस्थ धर्म्यध्यान की।**

पिण्डस्थ धर्म्यध्यान - इसी तरह इस पिंडस्थ धर्म्यध्यान में भी इस शरीर में बसे हुए स्वयं को इस शरीर तथा कर्मों से व संपूर्ण विश्व से भिन्न निहारना है। उसमें पांच धारणायें हैं - वे हैं १. पार्थिवी धारणा, २. अग्नि धारणा, ३. वायु धारणा, ४. जल धारणा व ५. तत्त्वरूपवती धारणा।

(१) पार्थिवी धारणा में हम स्वयं को एक विशाल अनन्त द्रव्यों के जल से भरे महासागर के मध्य में अनंतगुणों रूपी सहस्रदल कमल पर बैठे पाते हैं। **यह महासागर लोकालोकव्यापी ज्ञानगुण का भी प्रतीक है।**

(२) अग्निधारणा में हम स्वयं की नाभि के पास एक षोडशदल कमल पाते हैं, जो हमारे क्षायोपशमिक ज्ञान का प्रतीक है, जिसकी हर पंखुडी पर

अ से लेकर अः पर्यन्त सोलह वर्ण क्रम से सुवर्णाक्षरों में लिखे गये हैं। यह हमारे ज्ञायक होने का परिचायक है। मध्य में कर्णिका पर **र्हं** लिखा हुआ है, जो अग्नि का प्रतीक है। उसपर ध्यान केन्द्रित होने से वहाँ से जो ज्ञानपर्यायरूपी अग्निशिखा निकलती है, वह हृदय के पासवाले आठ कर्मोंरूप आठ पंखुडियोंवाले अष्टदलकमल को जलाती हैं, बाद में वही शरीररूपी नोकर्म को भी जलाती हैं। उस समय हर प्रदेश पर हम ज्ञानरूपी अग्नि का प्रतीक **र** अक्षर लिखा पाते हैं, जिससे नोकर्म जल गये और उनका भस्म हो गया। ज्ञान का आधिपत्य ज्ञानाग्नि के त्रिकोणरूप में वहाँ तैयार हो गया तथा अग्नि स्वयं शान्त हो कर अपने नाभिस्थल में समा गयी।

(३) वायुधारणा - कर्म तथा नोकर्म की राख सब जगह फैली है, उसे वह तपरूप वायु द्वारा दशों दिशाओं में उड़ जाती है और आत्मा स्वच्छ हो जाती है।

(४). जलधारणा - इसमें पंचमगति में जो परमानंद रूप परम-पारिणामिकभाव के आधार से परमानन्द व परमसौख्य प्राप्त होता है, उसके प्रतीक **प प प प प प प प** रूप जलभरित मेघों ने ध्याता के उपर छत तान दिया है, जिन में से आनन्द व सुख की घनघोर वर्षा हो रही है, उससे सारी राख धुल गई है और आत्मा पूर्ण स्वच्छ हो गई है।

(५). अन्तिम तत्त्वरूपवती धारणा - यहाँ साधक स्वयं को सिद्धसमान अनुभव करता है।

३. पदस्थ ध्यान - इसमें भी रूपस्थ ध्यान की तरह णमोकारादि मन्त्रों के पदों में स्थित हर पद में जो शुद्धात्मा है, उसका ध्यान किया जाता है। उसी के समान स्वयं को ध्याया जाता है। मन्त्र के हर पद में स्थित पांचों परमेष्ठियों के शुद्धात्मस्वरूप में अपना प्रतिबिम्ब देखकर स्वयं को भी वैसा निरखने से यह पदस्थ धर्म्यध्यान होता है।

४ रूपातीत धर्म्यध्यान - यह ध्यान तो सीधे-सीधे सिद्धों को ही अपना ध्येय बना कर उनके समान ही स्वयं को द्रव्यदृष्टि से अष्टकर्मरहित,

अष्टगुणों से सहित, अदेही, निर्मल, शुद्ध, शाश्वत परमपारिणामिकभाव-स्वरूप ध्याता है, तब जो अपूर्व आनन्द आता है, उसमें पर का स्वामित्व, एकत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व, ममत्व आदि सभी धुल जाते हैं तथा अपने में ही एकत्व, ममत्व, स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि सीमित हो जाते हैं। शान्ति की स्थापना इसतरह साधक स्वयं में कर लेता है। यह चारों धर्म्यध्यान गृहस्थों को भी उनकी-उनकी शक्ति अनुसार होते ही हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है, इसे ऊपर सिद्ध किया ही गया है।

इसी धर्म्यध्यान के अन्य भी चार भेद हैं - १. आज्ञाविचय २. अपायविचय ३. विपाकविचय व ४. संस्थानविचय। इन चारों का स्वरूप नीचे देखें-

१. आज्ञाविचय - इसकी व्याख्या आगम में ऐसी है। **आगमप्रामाण्यात् अर्थावधारणं आज्ञाविचयः।**[२५६] अर्थात् आगम के प्रामाण्य से वस्तु के स्वरूप का अवधारण अर्थात् निश्चय करना वह आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

इसके स्पष्टीकरण में राजवार्तिक में तथा सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि **उपदेशक के अभाव में मन्दबुद्धि होने से, कर्म का उदय होने से, पदार्थ सूक्ष्म होने से या हेतु या दृष्टान्त का अभाव होने से सर्वज्ञप्रणीत मार्ग को ही प्रमाण मान कर यह ऐसा ही है, जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं है, ऐसा गहन पदार्थ का श्रद्धान करने हेतु अर्थ का अवधारण या निश्चिति करना यही आज्ञाविचय है तथा दूसरों को समझाने हेतु जिनेन्द्राज्ञा का प्रकाशन करना यह भी आज्ञाविचय है।**

इस स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन सूक्ष्म पदार्थों को मन्दबुद्धि से, गुरु के अभाव में समझना शक्य नहीं होता, जहाँ पर हेतु या दृष्टान्त काम नहीं करते, वहाँ पर आज्ञा को प्रमाण करना यह आज्ञाविचय है। **किन्तु प्रयोजनभूत निजात्मस्वभाव के बारे में यह आत्मपदार्थ**

---

२५६ - राजवार्तिक ९/३६/४-५ व सर्वार्थसिद्धि ९/३६टीका

सदैव अनुभव में आता ही रहता है। उसे स्वाध्याय द्वारा समझ कर तन्मयता से ध्यान में अनुभवना सुलभ है। वहाँ उसे स्वानुभवप्रत्यक्ष करना, यह मुनियों के समान गृहस्थों को भी शक्य है। वहाँ पर जिनाज्ञा को समझ कर उसके अनुसार स्वयं को देखना व जानना इतना ही कर्तव्य साधक का है।

इसमें पांचों इंद्रियों या मन की या किसी गुरु की या उपदेशक की आवश्यकता नहीं है। इसलिये चौथे गुणस्थानवर्ती भी धर्म्यध्यान का अधिकारी होने से उसे शुद्धोपयोग में स्वसंवेदनप्रत्यक्ष स्वात्मानुभूति-मतिज्ञान या श्रुतज्ञान द्वारा निजात्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। इस पर भी आज्ञाविचय ध्यान का ही प्रभाव है।

ऐसी ही स्थिति अपायविचय और विपाकविचय धर्म्यध्यानों की भी है। यहाँ कर्म से अपाय व कर्म के फलों का चिन्तन स्वानुभव से प्रमाणित करने पर ही ध्याता उन अपायों से और विपाकों से दूर होता है। यही वे **अपायविचय व विपाकविचय धर्म्यध्यान हैं।** इनमें भी निजात्मा ही ध्येय होता है, इसलिये वह स्वानुभूतिपूर्वक संवर निर्जरा कर पाता है।

इसमें भी आगमप्रामाण्य को प्राथमिकता वह साधक देता है तथा वैसा ही प्रत्यक्ष अनुभव आने से उसका आगमप्रामाण्य दृढ होता जाता है। इस तरह आगम की कसौटी पर वह अपने अनुभव को कस कर अपने प्रामाण्य की परीक्षा कर लेता है।

संस्थानविचय में जो चार रूपस्थादि ध्यान बताये हैं. वे आ जाते है। इसलिये **इस ध्यान में भी निजध्रुव शुद्धात्मा यह ही विषय होता है, स्वानुभवप्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान ही साधन होता है, इसी लिये उसका फल भी शुद्धोपयोगजन्य चिदानन्द हाथ लगता है।**

यह धर्म्यध्यान **चौथे गुणस्थान से ले कर सातवें गुणस्थान तक होता है,** इसलिये चौथे से छठवें गुणस्थान तक व्यवहार धर्म्यध्यान होता है व सातवें से निश्चय धर्म्यध्यान होता है, **ऐसा विभाजन करना कतई**

योग्य नहीं है। दोनों जगह निश्चयनय व व्यवहारनय से जैसा ध्यान का स्वरूप कहा, उसी रीति से वह धर्म्यध्यान होता ही है।

अतः चौथे और पांचवें गुणस्थान में जो असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, **वह शुद्धोपयोग का ही फल है**, शुभोपयोग का फल बिल्कुल ही नहीं है। शुभोपयोग केवल पुण्य का ही बंधक है, उसका यह माहात्म्य नहीं हो सकता। अतः जो मार्ग मुनिवरों के लिये शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति हेतु बतलाया है, वही मार्ग गृहस्थों के लिये भी है। वह मार्ग है देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि व करणलब्धिरूप श्रेणि।

व्यवहाररत्नत्रय तो शुभभावस्वरूप होने से पुण्य का ही बंधक है, फिर भी निश्चयरत्नत्रय के साथ उसकी घनिष्ठ मित्रता होने से वह निश्चयरत्नत्रय का साथ कभी नहीं छोड़ता व सभी गुणस्थानों में यथायोग्य रीति से साथ देता ही रहता है। उसे व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है पर वह तो वस्तुतः मोक्षमार्ग नहीं है, यही वास्तविकता है। निश्चय मोक्षमार्ग के अभाव में व्यवहारमोक्षमार्ग का प्रवर्तन यह मोक्षमार्ग न हो कर वह केवल मिथ्यात्वद्योतक पहले गुणस्थानवाला संसारमार्ग है, यह जानना चाहिये।

६. शुद्धोपयोग और व्रत, समिति आदि -

वास्तव में शुद्धोपयोग ही सच्चे व्रतादि हैं। १. देखिये यह व्रतों का स्वरूप कहने वाला उद्धरण -

निश्चयेन विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावनिजात्मभावनोत्पन्न-सुखसुधास्वादबलेन समस्त-शुभाशुभ-रागादि-विकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्। व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृत .....परिग्रहाच्च यावज्जीव-निवृत्तिलक्षणं पंचविधं व्रतम्।[२५७]

अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा से विशुद्धज्ञानदर्शन यही जिसका स्वभाव है, ऐसे **निज आत्मतत्त्व में भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के स्वाद के बल** से समस्त शुभ या अशुभ रागादिक विकल्पों से निवृत्त होना यही व्रत है। शेष हिंसादि पांच प्रकार के पापों के त्यागरूप जो व्रत हैं, वे

२५७. द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका पृ. ९९

व्यवहार नय से व्रत हैं। इस तरह यहाँ शुभ अशुभ रागरहित होने को ही वास्तविकरूप से या निश्चयनय से **व्रत** कहा है। वह निश्चयव्रत ही संवर व निर्जरा का कारण है। पांच पापों के त्यागरूप व्यवहारव्रत वास्तविकरूप से संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं।

२. अब **समिति** का स्वरूप देखें - निश्चयेन अनन्तज्ञानादिस्वभावं निजात्मानं सम् सम्यक् समस्तरागादिविभावत्यागेन तल्लीनतच्चिन्तन-तन्मयत्वेन गमनं परिणमनं समितिः। व्यवहारेण तद्बहिरंगसहकारिकारणभूत ..... पंचसमितयः।[२५८] **अर्थ - निश्चयनय से** अनन्तज्ञानादि स्वभाव है जिस का, ऐसे निजात्मा में सम् - सम्यक्रूप से तल्लीन होना, तन्मय हो कर अयन या गमन या परिणमन करना या बदलना, यह समिति है। **व्यवहारनय से** उन के बहिरंग सहकारी कारणभूत आचारादि ग्रन्थों में कही हुई ईर्यादि पांच समितियाँ है। इसी तरह नियमसार में भी गाथा ६१ की टीका में **निश्चयसमिति** का स्वरूप इसप्रकार दिया है -

इदानीं निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते। अभेदानुपचार-रत्नत्रयमार्गेन परमधर्मिणमात्मानं **सम्यग् इति** परिणतिः समितिः। अथवा निजपरमतत्त्वनिरत-सहजपरमबोधादि-परमधर्माणां संहतिः समितिः।[२५८अ] **अर्थ** - अब निश्चयसमिति का स्वरूप कहा जाता है। अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मों के धारक ऐसे निज आत्मा के प्रति सम्यक् इति (गति) अर्थात् परिणति यह समिति है अथवा निज परमतत्त्व या स्वभाव में लीन सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों के समुदायरूप संहति (मिलन-संगठन) यही समिति है, अर्थात् **जो अन्य पांच समितियाँ हैं, वे व्यवहारनय से समिति कही जाती हैं।**

इस से भी स्पष्ट है कि समस्तरागादि परिणामों के त्याग की बात कह कर **शुद्धोपयोग की ही सत्ता** वहाँ पर बतलाई है। शेष जो पांच समितियाँ है, वे तो शुभ बंध का ही कारण हैं।

३. अब **गुप्ति** को भी देखें - देखिये यह उद्धरण। निश्चयेन सहज-

---

२५८. तथा २५८.अ बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. ३५ टीका पृ. ९९

शुद्धात्मभावना-लक्षणे गूढस्थाने संसारकारण-रागादिभयात् स्वस्य आत्मनो गोपनं प्रच्छादनं झंपनं प्रवेशनं रक्षणं **गुप्तिः**। व्यवहारेण बहिरंगसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो **गुप्तिः**।[२५९] अर्थात् निश्चय से सहजशुद्ध आत्मा की भावना लक्षणवाले अपने गूढ या गुप्त स्थान में संसार के कारणभूत ऐसे जो रागादिक हैं, उनके भय से अपने आत्मा को छिपाना, आवरण डालना, झंपन करना, प्रविष्ट होना या रक्षण करना यह गुप्ति है तथा व्यवहार से बहिरंग साधन करने हेतु मन का, वचन का व काय का व्यापार रोकना यह गुप्ति है।

यहाँ भी **सहजशुद्धात्मा में भावना या रमणता रूप जो गूढ या गुप्त स्थान है,** उस शुद्धात्मस्वभाव में उपयोग को रमाना यही वास्तव में गुप्ति है। यह शुद्धोपयोगरूप है, शेष मन-वचन-काया की क्रियाओं का निरोध यह व्यवहारनय से गुप्ति है, वह निश्चय की सहकारी कारणभूत शुभोपयोगरूप गुप्ति है।

इस सम्बंध में नियमसार का कथन भी देखेंगे - निश्चयेन **मनोवाग्गुप्ति**-सूचनेयम्। सकलमोहरागद्वेषाभावात् अखंडाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थिति-**र्निश्चयमनोगुप्तिः**। हे शिष्य! त्वं तावत् अचलितां **मनोगुप्तिमिति** जानीहि। निखिलानृतभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रतं च मूर्तद्रव्यस्य चेतनाभावात् अमूर्त द्रव्यस्येन्द्रियज्ञानागोचरत्वात् उभयत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति। इति **निश्चयवाग्गुप्ति**-स्वरूपमुक्तम्।[२५९अ] **अर्थात्** निश्चय से मनोगुप्ति व वचनगुप्ति की यह सूचना है। **संपूर्ण मोहरागद्वेष के अभाव से अखंड, अद्वैत ऐसे परम चैतन्यस्वरूप में सम्यक् रूप से रहना यह मनोगुप्ति है।** हे शिष्य! ऐसी अचलित मनोगुप्ति को तू जान। इसी तरह संपूर्ण असत्य भाषा से हटना या मौनव्रत रखना तथा मूर्तद्रव्य को चेतना का अभाव होने से और अमूर्तद्रव्य इंद्रियज्ञान से अगोचर होने से दोनों के प्रति वचनप्रवृत्ति नहीं होती। इसप्रकार **निश्चयवचनगुप्ति** का स्वरूप कहा।

---

२५९ - बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ की टीका २५९ अ - नियमसार गाथा ६९ टीका

इसी तरह **निश्चयकायगुप्ति** का स्वरूप निम्नानुसार कहा है -

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ती त्ति णिद्दिट्ठा।।[२५९ब]

अर्थ - शरीर की क्रियाओं से निवृत्ति यह कायोत्सर्ग या शरीरसम्बंधी गुप्ति है तथा पांच स्थावर व त्रसों की हिंसा से निवृत्ति यह **शरीरगुप्ति** कही गयी है।

इसतरह उपर्युक्त उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि द्रव्यसंग्रह कहो या नियमसार कहो **सर्वत्र निश्चयनय से व व्यवहारनय से एक ही वस्तु का विचार दो प्रकार से किया जाता है।** निश्चयनय से बताया जाने वाला इन व्रतादि का स्वरूप ही वास्तव में संवर व निर्जरा का कारण है तथा व्यवहारनय से जो स्वरूप चरणानुयोग में वर्णित है, वह शुभोपयोगरूप से बंध का ही कारण है। आस्रव-बंध का तथा संवर-निर्जरा का इस तरह इन दोनों भिन्न प्रवृत्तियों का एक ही कारण हो नहीं सकता। पापों से निवृत्तिरूप जो व्यवहार व्रत हैं, उन्हें तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव के कारणों में गिनाया है, वहाँ व्यवहारव्रतों की अपेक्षा है। प्रत्युत गुप्ति और समिति आदि को संवर निर्जरा के कारणों में नववें अध्याय में गिनाया है, वह शुद्धोपयोगरूप **निश्चय गुप्ति व समिति** की अपेक्षा से ही है। सर्वत्र आगमों में किस जगह कौनसी अपेक्षा से यह कथन आ रहा है, इसका सन्तुलित विचार आवश्यक है। व्यवहार गुप्ति, समिति आदिक शुभबंधकारक है।

अतः **यहाँ भी शुद्धोपयोग की प्रमुख उपस्थिति व्रत, समिति, गुप्ति आदि में आवश्यक है। वही सच्चा धर्म है, उसकी उपेक्षा न तो मुनियों में हो सकती है, न गृहस्थों में भी** क्योंकि उस शुद्धोपयोग के बिना चौथा गुणस्थान भी नहीं आता या आ सकता, तो फिर पांचवें गुणस्थान की तो बात ही क्या?

यह बात भी पहले सिद्ध कर आये हैं कि एक ही वस्तु का वर्णन दोनों

---

२५९ ब - नियमसार गाथा ७० टीका

नयों से भिन्न भिन्न रूपों से किया जाता है। निश्चय वस्तु भिन्न और व्यवहार वस्तु भिन्न हो ऐसी दो वस्तुएँ तो है ही नहीं। इसी न्याय से निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र, निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय इनमें कोई भी दो दो वस्तुएँ न हो कर एक ही अनेकान्तमय वस्तु का दो नयों से दो प्रकार का वर्णन हैं, इतना ही। इनका द्रव्य, इनका क्षेत्र, इनका काल और इनका भाव सभी एक ही है, वे अभिन्न हैं तथा परस्परपूरक हैं, इसी से यथार्थ जानकारी प्राप्त होती है। इन प्रमाण व नयरूप साधनों को ही वस्तु मान लेना, **यही स्वरूपविपर्यास है**, क्योंकि स्वरूप वैसा है ही नहीं। इसी लिये वह विपरीतमिथ्यात्व है क्योंकि जो भी ज्ञेय या प्रमेय या विषय हो, उसके अधिगम या ज्ञान करने हेतु प्रमाण व नय यही केवल साधन हैं। **प्रमाणनयैरधिगमः।**[२६०] इन साधनों को ही वस्तुरूप मान लेना यह **कारणविपर्यास भी है**, क्योंकि एक कारण से दो कार्य नहीं होते।

अतः **चौथे, पांचवें गुणस्थानों में भी जो चारित्र है, वह सम्यक्चारित्र ही है।** चौथे गुणस्थान में होनेवाले शुद्धोपयोग के बल से ही निर्विकल्प स्वसंवेदनरूप निश्चयसम्यग्दर्शन व्यवहारसम्यग्दर्शन के साथ वहाँ होता है। इस के पूर्व पहले गुणस्थान में ही देशना लब्धि व प्रायोग्यलब्धिपूर्वक सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टिसाधक करणलब्धि में सविकल्प अवस्था में से निर्विकल्पसम्यग्दर्शन की अवस्था में वह आता है। तभी मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी की चार प्रकृतियों का उपशम होता हैं और तब असंयम के साथ चौथा गुणस्थान या देशसंयम हो तो पांचवाँ गुणस्थान या २८ मूलगुणादि हो, तो सातवाँ गुणस्थान आ जाता हैं। वही औपशमिकसम्यग्दर्शन बाद में क्षायोपशमिक व क्षायिक रूप में यथावसर परिवर्तित हो जाता है। यह पांच लब्धियों की शर्त पूरी किये बिना चौथे, पांचवें या सातवें गुणस्थान में प्रवेश नहीं हो पाता और यह बिना शुद्धोपयोग के सम्भव नहीं है।

---

२६० - तत्त्वार्थसूत्र अ.१ सू.९.

यह तो पहले ही सिद्ध कर आये हैं कि छद्मस्थ का मोक्षमार्गरूप शुद्धोपयोग व मोक्षरूप केवली का व सिद्धों का शुद्धोपयोग इन में केवल अपूर्णता का व पूर्णता का ही अन्तर है, अस्थिरता व स्थिरता का ही अन्तर है, कालभेद है, भावभेद है पर स्वरूपभेद नहीं है, क्योंकि चाहे चौथे गुणस्थानवर्ती का शुद्धोपयोग हो या केवलज्ञानी का हो, उसमें शुद्ध-बुद्ध ही अकेला जिसका स्वभाव है, ऐसा निज आत्मा ही ध्येय होता है, उसी कारण से शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध का ही अवलम्बन होने से तथा शुद्धात्मस्वरूप को ही साधनेवाला होने से शुद्धोपयोग घटित होता है, उसी को संवर कहते हैं। वह संवर नामक शुद्धोपयोग मिथ्यात्व-रागादि के समान अशुद्ध भी नहीं है तथा केवलज्ञान लक्षणवाली शुद्धपर्याय जैसा शुद्ध भी नहीं है परन्तु उन अशुद्ध व शुद्ध पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक होने से वह मोक्ष का कारण है, एकदेशनिरावरण है, ऐसी तीसरी अवस्था वहाँ कही जाती है।[२६१]

७. शुद्धोपयोग और पांच असाधारण भाव - मोक्षमार्गस्वरूप इस शुद्धोपयोग के बिना इन पांच भावों में से औपशमिक व क्षायिक भाव प्रगट नहीं होते। मुख्यतया औपशमिक भाव भी क्षायिकभाव जैसा ही निर्मल ही है। परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि औपशमिक भाव में कर्म सत्ता में रह कर भी उदयाभावरूप से निश्चेष्ट रहते हैं, प्रत्युत क्षायिकभाव में वे सत्ता में ही नहीं रहते। इसलिये चौथे गुणस्थान में पहले गुणस्थान से प्रविष्ट होते समय दर्शनमोहनीय की एक और चारित्रमोहनीय की चार इस तरह पाँच प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उनका अंतरकरणरूप उपशम वह करता है, बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के समय उन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय या सदवस्थारूप उपशम होता है तथा सम्यक्प्रकृति का उदय रहता है। वहाँ जब बुद्धिपूर्वक शुद्धात्मानुभूति होती है, तब क्रोधादि रागद्वेषों

---

२६१ - बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १४ टीका.

का अभाव रहता है।

इस अपेक्षा से वहाँ चौथे गुणस्थान में भी औपशमिक सम्यग्दर्शन के काल में अन्तर्मुहूर्त काल तक शुद्धोपयोग रहता है, तब वहाँ जागृतता तथा प्रमादरहितता होने से अप्रमत्तदशा है, कषायों की उदयदशा से रहित वीतरागदशा है, उपशमजन्य निर्मलदशा है। इसलिये वहाँ ४३ प्रकृतियों की संवरपूर्वक निर्जरा है। यही स्थिति ग्यारहवें गुणस्थान की है, जहाँ चारित्रमोह का उपशम होने से चारित्रमोह की सत्ता तो है, पर उसका उदय नहीं है। इसलिये वहाँ अन्तर्मुहूर्त तक यथाख्यात चारित्र है।

अतः चाहे **औपशमिक सम्यग्दर्शन हो, चाहे औपशमिकचारित्र हो, दोनों परिणतियाँ शुद्धोपयोग के बिना आ ही नहीं सकती।** वह शुभोपयोग के वश की बात नहीं है। त्रिकाल में भी शुभोपयोग से संवर निर्जरा वास्तव में नहीं हो सकती। **दोनों औपशमिकभावों में अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण अवश्यम्भावीरूप से गुणश्रेणियों में करने होते हैं।**

मिथ्यादृष्टि यह कार्य पहले गुणस्थान के अन्त्यसमय में करता है, जबकि सातवें गुणस्थानवर्ती इसे आठवें से दसवें गुणस्थान तक करता है, तभी वह ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचता है। इस हेतु लब्धिसार ग्रन्थ का सूक्ष्म अध्ययन करना आवश्यक है। विस्तारभय से उसे यहाँ पर नहीं दिया गया है। ये सभी भाव बिना शुद्धोपयोग के सम्भव नहीं है। **सातवें गुणस्थानवर्ती के लिये एक निकष व चौथे गुणस्थानवर्ती के लिये दूसरा निकष एकसमान कार्यों के लिये मानना यह भारी भूल है। समान कार्य के लिये कारण भी समान ही चाहिये।**

वह **निकष** निम्नानुसार है -

(संदृष्टि अगले पृष्ठ पर)

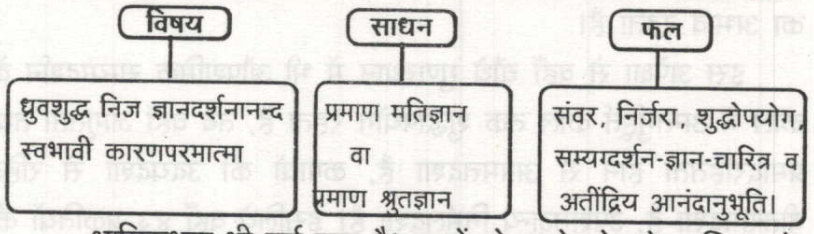

क्षायिकभाव भी पूर्ण शुद्ध है। उसमें तो शुद्धोपयोग के अस्तित्व के बारे में शंका को कोई गुंजाईश ही नहीं है। चौथे गुणस्थान में भी क्षायिकसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति तथा स्थिति (अस्तित्व) आगमसम्मत है। एकदेशशुद्धनिश्चयनय द्वारा वर्णित शुद्धोपयोग के बिना क्षायिकसम्यक्त्व वहाँ सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह मोक्षमार्गस्वरूप है।

इसी तरह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी चौथे, पांचवें गुणस्थान में रहता है, वह कुछ अधिक छासठ सागर तक टिकता है, उसमें अनन्तानुबंधी का उदय नहीं है। अप्रत्याख्यानावरण का उदय चौथे में व प्रत्याख्यानावरण का उदय पांचवें गुणस्थान में रहता है। इनका वासना काल क्रमशः छह महिना तथा पंद्रह दिन है।[२६२]

अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कषायें शुद्धोपयोग के बिना छह माह से अधिक नहीं टिक सकती व वे बाद में अनन्तानुबंधी में संयोजित हो जायेगी। यही स्थिति पांचवें गुणस्थानवर्ती की है, जहाँ पर प्रत्याख्यानावरण कषायों का वासनाकाल पंद्रह दिनों का होने से वह उससे अधिक काल तक शुद्धोपयोग के बिना नहीं रह सकता, इसलिये वह अप्रत्याख्यानावरण में ले जा कर पटक देगा। उसमें भी छह माह तक शुद्धोपयोग नहीं हुआ तो वह फिर मिथ्यात्वी हो जायेगा।

यह क्षायोपशमिक भाव एकदेश शुद्ध होने से एकदेश अशुद्ध भी है। एकदेशशुद्धता क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से शुद्धोपयोग के बिना सम्भव ही नहीं है, अन्यथा वही वासनाकाल साधक को निम्न अवस्था में ले जा कर पटकने से नहीं चूकेगा। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में शुद्धता का

---

२६२ - गोमटसारकर्मकांड/जीवप्रज्ञापन गा. ४६-४७

अंश शुद्धोपयोग से प्राप्त शुद्धता से है, तो अशुद्धता का अंश कर्मोदयजन्य अशुद्धता से है।

जिस तरह औपशमिक वा क्षायिकभाव पूर्ण शुद्धतास्वरूप है, उसी तरह क्षायोपशमिकभाव आंशिक शुद्धतास्वरूप व आंशिक अशुद्धता स्वरूप है। शुद्धता शुद्धोपयोग की अपेक्षा रखती है, तो अशुद्धता अशुद्धोपयोग अर्थात् अशुभोपयोग या शुभोपयोग की अपेक्षा रखती है, जो कर्मोदयजन्य सरागता से सहित है। इसलिये चौथे गुणस्थान में औपशमिक सम्यक्त्व से ही उसका प्रारम्भ होने से **शुद्धोपयोग का अस्तित्व वहाँ निःशंकरूप से स्वीकार करना ही होगा। इस आगमसम्मत बात से विद्वानगण सहमत होंगे।**

शेष जो औदयिकभाव है, वह तो बंधक ही है तथा जो पारिणामिकभाव है वह अपरिणामी, न बदलनेवाला तथा अकर्ता है। औदयिकभाव शुद्धताविरोधी तथा शुभोपयोगरूप व अशुभोपयोगरूप है व पर्यायस्वरूप है। पारिणामिकभाव मोक्षमार्गस्वरूप न हो कर त्रिकाल मोक्षस्वरूप व केवल ध्येयरूप अबंधक है। औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव मोक्षमार्गस्वरूप तथा ध्यानस्वरूप है, इसलिये वे शुद्धोपयोगस्वरूप है। देखें यह उद्धरण -

ततः स्थितं - शुद्धपारिणामिकविषये या भावना तद्रूपं यत् औपशमिकादि-भावत्रयं तत् समस्तप्रमादरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वात् मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः। यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः, स शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति।[२६३] **अर्थ** - इसलिये यह सिद्ध हुआ कि - **शुद्धपारिणामिक भाव के विषय में जो यह भावना है, उस भावनारूप जो औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक ऐसे तीन भाव हैं, उनका उपादान कारण शुद्ध (परमपारिणामिकभावरूप निज आत्मा) होने से वे तीनों भाव मोक्ष के कारण हैं,** परन्तु शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्धपारिणामिक भाव में पहले से ही

---

२६३ - समयसार गा. ३२० तात्पर्यवृत्ति

स्थित है।

२. तथा - तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति, तदा अयं जीवः सहजशुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण-निजपरमात्मद्रव्य-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-अनुचरण-पर्यायेण परिणमति। तच्च परिणमनं **आगमभाषया** औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकभावत्रयं भण्यते। **अध्यात्मभाषया** पुनः शुद्धात्माभिमुख-परिणामः शुद्धोपयोगः इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।[२६४]

अर्थात् वहाँ भी जब काललब्धि आदि के वश हो कर भव्यत्व शक्ति प्रगट होती है, तब यह जीव सहजशुद्ध-पारिणामिकभाव जिसका लक्षण है, ऐसे निज परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् अनुचरण या चारित्ररूप पर्याय से परिणमित होता है, उसे ही आगम भाषा से औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव व क्षायिकभाव ऐसे तीन भावोंरूप से कहा जाता है तथा **उसी को अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुखपरिणाम या शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायी नाम मिलते हैं।**

इन दोनों उद्धरणों से, जो द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ व प्रवचनसार गाथा १८१ के समकक्ष है, यह सिद्ध होता है कि **औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव शुद्धोपयोग या शुद्धात्माभिमुखपरिणामस्वरूप हैं व समस्त शुभाशुभ रागादि परिणामों से रहित हैं। उन्हीं को शुद्धोपयोग, निश्चयरत्नत्रय, वीतरागस्वसंवेदन भावना आदि पर्यायनामों से आगम में सम्बोधा जाता है।**

यह और भी स्पष्ट दिखाता है कि पांचवें में तो क्या, **चौथे गुणस्थान में भी यह साधक भव्यत्वशक्ति के व्यक्त होने पर इन तीनों मोक्षमार्गस्वरूप भावों से परिणमता है।** यह नियम अशुद्धनयवाले चौथे से बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थों के लिये समान रूप से लागू होता है। अतः यह सभी छद्मस्थ साधक सम्यग्दर्शन से तो पूर्ण ही होते हैं, सम्यग्ज्ञान से भी स्वसंवेदन या शुद्धात्मानुभूति के काल में शुद्धोपयोगस्वरूप ही होते हैं पर

---

२६४ - समयसार गा. ३२० तात्पर्यवृत्ति

उनका अनुचरण या चारित्र गुणस्थानों की श्रेणियों के अनुसार आत्मा में होता ही है। चौथा गुणस्थान उनमें अपवाद कैसे हो सकता है?

सम्यग्दर्शन में कोई श्रेणि या नसैनी नहीं है। ज्ञान का विस्तार तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण हो जाता है तथा चारित्र भी यथाख्यात रूप में बारहवें से चौदहवें गुणस्थानों में पूर्ण होता है। प्रयोजनभूत या आत्महितकारी तत्त्वों के विषय में चौथे गुणस्थानवाले का निर्णय व सिद्धों का निर्णय एक सा ही होता है, पर सिद्ध अखंडरूप से उसरूप ही रहते हैं व छद्मस्थ स्खलित हो जाते हैं। यह उनके चारित्र की कमजोरी है। कहा भी है -

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो मुनिः श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।[२६५]

अर्थ - जिसे दर्शनमोह नहीं है अर्थात् जो सम्यक्त्वी है, ऐसा गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु जो अनगार या मुनि मोहसहित याने मिथ्यात्वसहित है, वह मोक्षमार्गी नहीं है, अतः ऐसे मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। तथा

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।[२६६]

अर्थ - दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्वरूप अंधकार नष्ट होने पर दर्शन का लाभ याने सम्यग्दर्शन होने से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है **ऐसा साधु** राग और द्वेषों को हटाने हेतु चरण याने चारित्र को धारण करता है। (यहाँ **साधु** शब्द श्रावकाचारग्रन्थ में **साधक श्रावक** के उद्देश से लिखा गया है।)

इससे सिद्ध होता है कि जो दर्शनमोह याने मिथ्यात्व को नष्ट करने वाला **चौथे, पांचवें गुणस्थानवर्ती साधु चारित्र याने चरण को धारण करता है। चौथे गुणस्थानवर्ती साधक को वह असंयमी होने पर भी साधु कहा है।**

उपर्युक्त कथन के अनुसार संयम की निम्न श्रेणियां होती हैं -

---

२६५ - रत्नकरंडश्रावकाचार ३३ २६६ - रत्नकरंडश्रावकाचार ४७

१.पहले गुणस्थान से तीसरे गुणस्थानतक	१. मिथ्याचारित्रवान असंयमी।
२.चौथे गुणस्थान में असंयतसमम्यग्दृष्टि	२. सम्यक्चारित्रवान असंयमी।
३.पांचवें गुणस्थान में देशसंयमीसम्यग्दृष्टि	३. सम्यक्चारित्रवान देशसंयमी।
४.छठवें गुणस्थानवर्ती सकलसंयमी	४. प्रमादयुक्त सम्यक्चारित्रवान सकलसंयमी।
५.सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थानतक	५. प्रमादरहित सम्यक्चारित्रवान सकलसंयमी।
६.ग्यारहवे व बारहवे गुणस्थानवर्ती साधक	६. प्रमादरहित सम्यक्चारित्रवान यथाख्यातसंयमी

इसपर से यह ज्ञात होता है कि संयम मार्गणा के अनुसार संयमी, देशसंयमी, असंयमी यह तीन भेद किये हुए हैं। उसकी उपर्युक्त श्रेणियाँ ही हो सकती हैं, जो ज्ञातव्य हैं।

दूसरी अपेक्षा पर भी ध्यान दीजिये। चारित्र के दो ही भेद हैं - एक है मिथ्याचारित्र व दूसरा है सम्यक्चारित्र। मिथ्याचारित्र नियम से मिथ्यादर्शन के साथ होता है और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन के साथ नियम से होता है। ऐसी बात संयम में नहीं है। हमने पहले देखा ही है कि मिथ्यात्वसहित असंयम व सम्यग्दर्शनसहित असंयम, सम्यग्दर्शनसहित देशसंयम व सम्यग्दर्शनसहित सकलसंयम यह भेद आगमसंमत है। इसके अलावा संयम के १. सरागसंयम व २. वीतरागसंयम यह भेद हैं तथा सरागसंयम के १. सरागसंयम, २. संयमासंयम व ३. असंयम ऐसे भेद होते हैं।

इन सभी भेदों में सम्यक् संयम व मिथ्यासंयम ऐसे भेद आगम में सम्मत नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व के साथ संयम होता ही नहीं है। वह संयमाभास अर्थात् बालतप है या असंयम ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि संयम तो सम्यग्दर्शनसहित ही होता है पर असंयम सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन दोनों के साथ होता है। **वह क्रमशः सम्यक् या मिथ्या रूप से चारित्र का ही अंग है।**

श्री धवला टीका का यह उद्धरण भी देखिये - **संजमो णाम जीवसहावो,**

तदो सो अण्णेहिं विणा विज्जदि, तव्विणासे जीवदव्वस्स विणासप्पसंगादो। ण, उवजोगस्सेव संजमस्स जीवस्स लक्खणत्ताभावादो।[२६७] **अर्थ** - प्रश्न - संयम नाम का जीव का स्वभाव है, अतः वह अन्यों द्वारा विनष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके विनष्ट होने पर जीवद्रव्य के विनाश का प्रसंग आयेगा। **उत्तर** - ऐसा नहीं है क्योंकि जिसप्रकार उपयोग जीव का लक्षण है, वैसा संयम में जीव के लक्षण का अभाव है।

इससे यह सिद्ध होता है कि संयम नष्ट होने पर भी जीव का विनाश नहीं होता, क्योंकि वह जीव का लक्षण नहीं है। तथा यह भी देखिये।

स्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वात् धर्मः।[२६८] **अर्थ** - स्वरूप में रमना (स्वरूपाचरण) चारित्र है याने स्व समय अर्थात् निजात्मा में प्रवृत्ति यह धर्म है। वह चारित्र ही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है।

इस से यह सिद्ध होता है कि **चौथे गुणस्थान में भी असंयम रूप सम्यक्चारित्र होता है** क्योंकि जो संयम है वह चारित्र से कथंचित् भिन्न है, अतद्भावरूप है, वह चारित्र का एक अंग है। मिथ्यासंयम तो संयमाभास है या बालतप है, वह चारित्र का भेद नहीं है। **इसलिये सकलसंयम, संयमासंयम व असंयम भी यदि सम्यग्दर्शनसहित हो, तो ही कार्यकारी है** परन्तु सम्यग्दर्शन से रहित तथाकथित अट्ठाईस मूलगुणोंरूप सकलसंयम भी संयमाभास है, उसे तत्त्वार्थसूत्र में बालतप या अकामनिर्जरा के नाम से देवायु के आस्रवों के कारणरूप से गिनाया गया है। **(सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य।)**[२६९] इसीतरह सम्यक्त्व को भी देवायु का कारण बताया गया है। **(सम्यक्त्वं च)**[२७०] **वहाँ असंयम दुर्लक्षित है, वह भी सम्यक्त्व के साथ देवायु का कारण बन जाता है किन्तु मिथ्यात्वी का असंयम कतई देवायु का कारण नहीं होता।**

---

२६७ - धवला ७/२-१-५६९६/१
२६८ - प्रवचनसार गाथा ७ तत्त्वप्रदीपिका
२६९ - तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. २०.
२७० - तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सू.२१.

अतः आगमचक्षु सूज्ञ विद्वानगण व त्यागीगण इस वास्तव को समझें, व्यवहार तथा निश्चय को वस्तु के भेद न समझ कर साधनरूप से नयों के भेद समझें व अनेकान्तमय वस्तु को प्रमाणरूप से अखंड रहने दें। चौथे गुणस्थान का असंयम भी चारित्ररूप ही है, उसे चारित्र ही मानें तथा वह रत्नत्रय की उपलब्धि भी शुद्धात्माभिमुखपरिणाम, शुद्धोपयोग, शुद्धात्मानुभूति से ही संभव है, यह समझें, क्योंकि उसी को आगमभाषा से सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के निमित्त से होने वाले औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव रूप से क्रमशः कहा गया हैं।

गोमटसार जीवकांड की बारहवी गाथा में जो यह कहा है कि **(चारित्तं णत्थि जदो)** चौथे गुणस्थान में चारित्र ही नहीं है, क्योंकि अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में जो ये तीनों भाव होने की बात कही है, वह दर्शनमोहनीय की अपेक्षा से की है, चारित्रमोह की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि वहाँ पहले चारों गुणस्थानों में चारित्र ही नहीं है, ऐसा कहा है। मूल गाथायें इसप्रकार हैं -

मिच्छे खलु ओदइओ, बिदिये पुण पारिणामिओ भावो।
मिस्से खओवसमिओ, अविरदसम्मम्मि तिण्णेव।।११।।
एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो, अविरदअंतेसु ठाणेसु।।१२।।

अर्थ - मिथ्यात्वगुणस्थान में औदयिकभाव, दूसरे सासादन में पारिणामिकभाव, मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिकभाव व अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में तीनों भाव होते हैं।११. ये भाव नियम से दर्शनमोह की अपेक्षा से कहे गये हैं, क्योंकि वहाँ चारित्र ही नहीं है।१२.

इन गाथाओं के अभिप्राय से कृपया ऐसा एकान्त ग्रहण न किया जाय कि वहाँ चारित्र ही नहीं है, क्योंकि गोमटसार में **करणानुयोग की अपेक्षा से चारित्र हेतु संयम की ही प्रधानता है**। यह पूरे गोमटसार पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है। उसी गोमटसार की गाथा ३० में **स्तोकव्रती ही देशव्रती पांचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक है** ऐसा लिखा है। वह मूल

गाथा इसप्रकार है।

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ।।३०।।

इस गाथा से स्पष्ट है कि संयमभाव पूर्णरूप से पांचवें गुणस्थान में नहीं होता, इसलिये उसे स्तोकव्रती होने से देशव्रती कहा है। इसलिये वहाँ संयमासंयम-क्षयोपशम भाव ग्रहण किया है, क्षायोपशमिकचारित्र नहीं।

इसतरह **चौथे गुणस्थानवर्ती भी जघन्य अन्तरात्मा है, पूर्ण मोक्षमार्गी है, निश्चयरत्नत्रय का आराधक है, व्यवहार रत्नत्रय के रूप में दर्शनाराधना, दर्शनाचार, सम्यक्त्वाचरण, अष्टांगों का पालन, सम्यग्दर्शन के पचीस दोषों से रहितता, सात व्यसनों का त्याग, आठ मूलगुणों का पालन आदि का पालन वह करता ही है। साथ में सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धानी हो कर वह सच्चे देव, गुरु व शास्त्रों की ही भक्ति व श्रावकों के योग्य देवपूजा आदि छह आवश्यकों का पालन करता ही है। इसतरह वह पाक्षिक श्रावक है।** प्रथम प्रतिमाधारी उससे ऊंचा है, वह पंचम गुणस्थानवर्ती है।

अतः जो सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, उस का धारक होने से वह धर्मी है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा स्वानुभूतिसंपन्न होने से शुद्धोपयोग से पुष्ट है। उसके पोषक-रूप उसकी असंयमरूप स्वाभाविक उपर्युक्त क्रियायें ही **सम्यक्चारित्र** है। इसतरह चौथे गुणस्थानवर्ती पूर्ण मोक्षमार्गी है, अधूरा कतई नहीं। वह भी ज्ञानपर्यायरूप शुद्धोपयोग से स्व की अनुभूति कर ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र में आया हुआ है और कम या ज्यादह अन्तराल से छह महिनों के भीतर शुद्धोपयोग करता ही रहता है। इसतरह वह निज-ध्रुव-शुद्ध-ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा के विषय से सम्बंधित ज्ञानानन्द का अतींद्रिय भोग कर सकता है।

इसके लिये परमपूज्य मुनिराज **वीरसागरजी महाराज** द्वारा की हुई न्यायदीपिका ग्रंथ की **अध्यात्मन्यायदीपिका** टीका का विवेचन सूक्ष्मता से

पढ़ना होगा। उसी तरह उनकी ही **समयसार ग्रंथ की जयसेनीय टीका** का हिंदी अनुवाद भी पढ़ना चाहिये।

८. तब हम क्या करें? - हम श्रावक हैं। हमें जिनागम का स्वाध्याय मननशील होकर करना चाहिये। ऐसा स्वाध्याय करते हुए नियमसार में जो सूत्र दिया है, उसे ध्यान में रखना चाहिये। वह सूत्र निम्नानुसार है -

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।[२७०अ]

अर्थ- जैसे सिद्धात्मा जन्मजरामरण से मुक्त है, आठ गुणों से अलंकृत हैं, वैसे ही संसारी जीव भी स्वभाव से उन सिद्धों जैसे ही है।

तथा -.....सिद्धात्मानः समयसाररूपाः कार्यशुद्धाः। ते यादृशास्तादृशा एव भवन्तिः शुद्धनिश्चयनयेन। येन कारणेन तादृशास्तेन जरा-मरण-जन्ममुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुण पुष्टितुष्टाश्चेति।[२७१]

अर्थ - तथा ..... सिद्धात्मा समयसाररूप कार्यशुद्ध हैं। वे जैसे हैं, वैसे ही शुद्धनिश्चयनय से संसारी जीव भी हैं। **जिस कारण से वे सिद्धों जैसे ही है, उसी कारण से वे जन्म-जरा-मरण से मुक्त हैं व सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के पुष्टि से तुष्ट हैं।**

इसी तरह और भी देखिये

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।[२७२]

अर्थ - जैसे सिद्धभगवान लोक के अग्रभाग पर अशरीरी, अविनाशी, इंद्रियरहित, निर्मल तथा विशुद्धात्मा हैं, वैसे ही संसारी जीव है, ऐसा जानना चाहिये। तथा **सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।।**[२७२ अ]

---

२७० अ - नियमसार गाथा ४७
२७१ - नियमसार गाथा ४७ टीकांश
२७२ - नियमसार गाथा ४८
२७२ अ - नियमसार गाथा ४९

और **प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।**
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम्।। २७२ ब

अर्थ - पहले से ही जिन सुधी याने सम्यग्दृष्टियों और कुधी याने मिथ्यादृष्टियों में शुद्धता विद्यमान है, उनमें कौन से नय से मैं भेद जानूं?

अतः यद्यपि पर्याय में गुणस्थानादि भेद हैं, फिर भी वे भेद व्यवहारनय से या पर्यायार्थिक नय से हैं, उन्हें गौण कर हमें निश्चयनय या द्रव्यदृष्टि को प्रधानता देने की कला सीखनी होगी। चूंकि हमारा स्वभाव हम स्वयं द्रव्य होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है और वही हमारी सत्ता, अस्तित्व या अस्मिता है, अतः हम हमारा स्वयं का अनुभव वर्तमान पर्याय में ही उत्पाद-व्ययरूप से भी कर सकते हैं व आज तक हम वैसा करते भी आये हैं। **उसरूप से भी हम पूर्ण ही है।** उसीतरह **ध्रुवरूप से भी स्वयं पूर्ण होने से स्वयं को पूर्णरूप से अनुभव में ले सकते हैं।** उत्पाद-व्यय रूप से अनुभव करनेपर हमें अपूर्णता, अशुद्धता, खंडितता, अशान्ति का अनुभव होता है। यही इसका फल है। उल्टे **स्वयं को ध्रुवरूप से अनुभव में लेने पर हम पूर्णता, शुद्धता, अखंडितता, अभेदता और परमशान्ति का अनुभव कर सकते हैं। इसलिये जिनाज्ञा के अनुसार शान्ति, सुख, समता हेतु हमें उत्पादव्यरूप अस्थिरता को गौण कर ध्रुवरूप स्थिरता को प्रमुखता दे कर स्वयं के सिद्धस्वरूप पूर्णता का अनुभव करना चाहिये। वह अनुभव ध्रुवरूप शाश्वत व आनंदप्रदायी होता है।**

पर्यायें **क्रमवर्ती** है और गुण **सहवर्ती** है। पर्यायें उपजती व विनशती जाती हैं, जब कि गुण अनादिअनन्त साथ देते रहते हैं। इसलिये गुणरूप से स्वयं का अवलम्बन शान्तिप्रदायक है और पर्यायों के रूप से स्वयं का जो अवलम्बन है, वह पर्यायें अनित्य व अशरण होने से अशान्तिप्रद हैं। **पर्यायें हमारे द्रव्यत्वगुण की शक्ति से हमारे निश्चित क्रम से होनेवाले परिणमनस्वभाव का ही अंश है।** उन में किसी भी तरह के फेरफार की गुंजाईश नहीं है। पुरुषार्थ तो गुणपर्यायवान आत्मा को जानते रहने में करना

है, फेर-फार करने में नहीं, क्योंकि फेर-फार करने में व्यर्थ ही थकान आती है। **दोनों रूपों से आत्मा परिपूर्ण ही है।** वह **किसी भी दृष्टि से देखो तो भी पूर्ण ही नजर आता है।** इसे एक उदाहरण द्वारा समझेंगे।

एक स्त्री है, वह जन्म से मृत्यु तक स्त्री है, वैसे ही मैं एक अनन्तगुणोंमयी जीवद्रव्य हूँ, वह मैं भी सिद्धों के समान अनादिअनन्त अनन्त गुणोंमय परिपूर्ण द्रव्य ही रहनेवाला हूँ। इसके अलावा वह स्त्री मां, पत्नी, बेटी आदि तथा साडीवाली, रोटी पकाती हुई आदि रूपों से प्रतिक्षण नई नई पूर्णरूप से बदलनेवाली नजर आती है, उसीप्रकार मैं भी प्रतिक्षण रागी, द्वेषी, अज्ञानी, सुखी, दुखी, रंक, राव इत्यादि रूप से बदलता रहता हूँ। ये बदलनेवाले रूप हमें निदर्शन में आते रहते हैं व उनसे हम हमारे मूल सौंदर्य को भूल कर अपना अस्तित्व या अपनी सत्ता से हाथ धो बैठते हैं। यह ही आज तक होता आया है। इस हेतु हमें हमारा रवैया बदलना होगा, हमारी दृष्टि बदलनी होगी, तभी पर्यायदृष्टिजन्य विषमता, ममता आकुलता आदि छूट कर द्रव्यदृष्टिजन्य समता, निराकुलता व शान्ति का अनुभव कर सकेंगे।

इसलिये सम्यग्दर्शन के हेतु अभिप्रायस्वरूप दृष्टि का विषय हमारा त्रिकालवर्ती निज ध्रुवशुद्ध-ज्ञानदर्शनानंद-स्वभावी शाश्वत सिद्धसमान शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। इसी एक विषय पर ही दृष्टि स्थिर होनी चाहिये, टिकनी चाहिये। वह उसकी दृष्टि में ध्येय, ज्ञेय, श्रेय, प्रेय, गेय तथा उपादेय होना चाहिये, अन्य कुछ भी नहीं। यही सम्यग्दर्शन है, अन्य कुछ भी नहीं। इसी के होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं व हमें मोक्षमार्गी बनाते हैं।

इसलिये हमें दृष्टि का विषय चुनने में व निश्चित करने में अपना पुरुषार्थ करना चाहिये। वह परमशुद्धनिश्चयनय का विषय त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है, अन्य नहीं। पर्याय की अशुद्धता को गौण कर त्रिकाली ध्रुव शुद्धता को ही ले कर सम्यग्दृष्टि शान्ति प्राप्त करता है। हमारे वर्तमान पर्याय में एक

तरफ ध्रुव है, जो शाश्वत है व दूसरी तरफ उत्पादव्ययरूप पर्याय है, जो अध्रुव है।

जैसे एक दर्पण है या दूरदर्शन की कांच है। उसपर प्रतिबिम्ब झलकते रहते हैं, पर दर्पण स्वच्छ ही रहता है या कांच सफेद ही रहती है, फिर चाहे प्रतिबिम्ब झलकते हो या न झलकते हो। उसी तरह मेरे ज्ञान की किसी भी पर्याय में प्रतिबिम्ब भले ही झलकते हों या न झलकते हों, तथापि मेरा ज्ञानदर्पण हर समय केवल ज्ञायकस्वरूप ही रहता है। उपयोग शुद्ध हो या अशुद्ध हो, वह मेरा लक्षण होने से वह उपयोगस्वभाव वैसा का वैसा अपरिवर्तनशील, अपरिणामी ही रहता है। उस त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव में कोई उथलपुथल होती ही नहीं। वह स्वभाव अनादि-अनन्त मेरा अपना होने से मैं उससे रिक्त कभी भी नहीं होता, इसलिये वह सहज आश्रययोग्य है, इसलिये उसका आश्रय सहज शक्य होने से जिन के प्रतिबिम्ब झलकते हैं, उन असहज ज्ञेयों को निहारने का परिश्रम मैं क्यों करूँ? मैं तो प्रतिक्षण वैसा का वैसा ही द्रव्यदृष्टि से अनुभव में आ रहा हूँ तब अनित्य व अशरण ऐसे प्रतिबिम्बों को या झलकनेवाले परद्रव्यों को निहारने में अपनी शक्ति खर्च कर मैं अशान्तता क्यों मोल लूँ?

इसी लिये मुनीश्वरों जैसा अपने उपयोग में अपने दृष्टि के विषयरूप त्रिकाली ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेने का ही अभ्यास करते रहना चाहिये। ऐसे अभ्यास से अनेक आपत्तियाँ आने पर भी वह अपने ध्रुव स्वभाव का आश्रय ले कर सुख का अनुभव कर सकता है। यही प्रवचनसार गाथा ९ की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अनुसार उसकी **स्वकार्यकरणसमर्थता** अर्थात् अपने कार्य को करने की समर्थता है तभी वह शुद्धोपयोगरत होने से **निष्प्रत्यनीक-शक्तिवाला** हो जाता है व ऐसा होने से साक्षात् मोक्षसुख का अनुभव गृहस्थ भी कर सकता है। मुनिराज भी शुद्धोपयोग छोड़ कर शुभोपयोग में आते हैं, तब **सप्रत्यनीक-शक्तिवाले** अर्थात् बाधासहित शक्ति वाले होने से मोक्ष का अनुभव नहीं करते। **इसलिये सप्रत्यनीकशक्तिवाले**

केवल गृहस्थ ही होते हैं और मुनि नहीं होते यह कथन सही नहीं है। उसी तरह **अप्रत्यनीकशक्तिवाले मुनिराज के समान गृहस्थ भी अप्रत्यनीकशक्तिवाले हो सकते हैं, यह कटु सत्य भी इस पर से सिद्ध होता है।**

इसलिये समयसार गाथा १८६ के अनुसार हर मुमुक्षु जीव, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि हो, को शुद्ध विषय का चुनाव कर शुद्धध्रुवनिजज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा को ही जानने का प्रयत्न व उसमें ही रमने का भी अभ्यास करते रहना चाहिये। वही **शुद्धोपयोगसाधक शुभोपयोग** सम्यग्दृष्टि को चौथे पांचवें गुणस्थान में भी होता ही है। इसलिये **शुद्धोपयोग गृहस्थावस्था में भी सहज शक्य है।**

इसका अर्थ यह नहीं है कि **वह साधक गृहस्थ अवस्था में ही संतुष्ट रहें व मुनि बनने का प्रयत्न ही न करें।** अरे! जिसे खूब भूख लगी हो और केवल दो ग्रास खाने को मिले, तो उसे कुछ संतोष तो होगा, पर उससे भर पेट खाना मिलने हेतु वह प्रयत्न नहीं करेगा, ऐसा नहीं है। इसी तरह गृहस्थपना दो ग्रास खाने योग्य है और मुनिपना भर पेट भोजन करने जैसा है। इस लिये ध्येय हरदम ऊंचा ही चाहिये।

उपर्युक्त द्रव्यरूप पूर्णता का ही लक्ष्य होना चाहिये, पर्यायरूप अपूर्णता का नहीं। भूत काल की पर्यायें तो बीत चुकी, भविष्य काल की पर्यायें आनी है, इस लिये उनका आधार नहीं लिया जा सकता। अतः आधार लेने योग्य केवल अकेली वर्तमान पर्याय है। उसी में हमें पूर्ण शुद्धस्वभावरूप पूर्ण शुद्धता को जानकर उसी का आश्रय लेना चाहिये। कहा भी है - **भूत काल सपना, भविष्य काल कल्पना और वर्तमान काल अपना।** वर्तमान काल अपने हाथ में है, उसे छोड़ कर कोई भी सूज्ञ दूर की वस्तु को नहीं चाहता।

वर्तमान काल में जब शुद्धोपयोग नहीं है, तब दो ही विकल्प शेष रहते हैं। वे हैं पुण्य भाव एवं पाप भाव। **हर कोई यह तो जानता है कि पाप तो हेय ही है, फिर भी पाप को तो कोई छोडता ही नहीं है।** पर

आगम कहता है कि पुण्य भी हेय है, वह मोक्षमार्ग में बाधक है, तो वह साधक घबड़ा जाता है और कहता है कि जो शुभोपयोगरूप पुण्य शुद्धोपयोग का साधक है, उसे तुम हम से छुड़वाना चाहते हो, यह अन्याय है। तब उसे समझाया जाता है कि पाप लोहे की जंजीर जैसा है, तो पुण्य भी कुछ कम नहीं, वह भी सोने की जंजीर है और वह भी बांधने का ही कार्य करती है। तुम्हें बंधना पसंद हो तो पुण्य को पकड़ कर रखो। तब मुमुक्षु तुम कैसे? तुम पुण्य को भी पापरूप ही मानो अन्यथा तुम बहिरात्मा ही रहोगे। देखो यह गाथायें।

जो पाउ वि सो पाउ मुणि, सव्वु वि को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवइ।।[२७३]
जह लोयम्मिह णियड बुह सुण्णम्मिय जाणि।
जं सुहु असुह परिच्चयहिं ते वि हवंति हु णाणी।।[२७४]

अर्थ -१. जो पाप है सो पाप ही है, ऐसे तो सभी मानते है, **पर जो पुण्य को भी पाप मानता हैं, ऐसा बुध या ज्ञानी कोई विरला ही होता है।** २. जिस तरह लोहे की बेड़ी होती है, उसी तरह सोने की भी बेड़ी होती है, यह ज्ञानी जानता है, उसीतरह जो शुभ व अशुभ को छोडते है, वे ही ज्ञानी होते हैं।

इसी तरह समाधिशतक में भी कहा है।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्।।[२७५]

अर्थ - अव्रतों से पाप (अपुण्य) होता है व व्रतों से पुण्य होता है, इस लिये अव्रतों के समान ही व्रतों को भी मोक्ष के इच्छुक ने छोडना चाहिये।

इसतरह पुण्य और पाप दोनों मुमुक्षु की दृष्टि के विषय नहीं हो सकते। दृष्टि का विषय तो केवल परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाली ध्रुव शुद्ध निज आत्मा ही होना चाहिये। इस विषय में समाधिशतक के श्लोक

---

२७३ - योगसार गा. ७१ २७४ - योगसार गा. ७२ २७५ - समाधिशतक ८३

८४ व ८६ में कहा है कि साधक ने अव्रतों को छोड़ कर व्रतों में निष्ठावान बनना चाहिये और परमपदरूप निजात्मा की प्राप्ति होने पर उन व्रतों को भी छोड़ना चाहिये।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत् तानपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः।।८४।।

तथा अव्रती ने व्रतों को धारण कर के ज्ञानपरायण हो कर व्रती बनना चाहिये। तब परात्मज्ञान से संपन्न होकर वह परमात्मा बनेगा।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः, स्वयमेव परो भवेत्।।८६।।

इस लिये ज्ञानपरायण अर्थात् स्व तथा पर का भेदज्ञान कर अपने ज्ञान-स्वभाव को ही उपादेय मान कर उसमें ही लीन होना चाहिये।

स्वरूपसंबोधनस्तोत्र में कहा है -

स्वं परं विद्धि तत्रापि व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमं।
अनाकुलस्वसंवेद्ये स्वरूपे तिष्ठ केवले।।[२७५अ]

अर्थ - (ज्ञान से) स्व को व पर को जानो, वहाँ पर भी किसी भी तरह के व्यामोह या भ्रम को छोडो। फिर अनाकुल ऐसे स्वसंवेदन से प्राप्त होने वाले स्वरूप में अर्थात् अपने ज्ञायकस्वभाव में ही केवल रहो या रमो याने पर से दृष्टि हटाओ और स्व में जोडो।

इस प्रकार स्व-पर भेदविज्ञान द्वारा विषय का स्वरूप निश्चित करने पर ही अपनी सभी क्रियाओं को उसी निकष पर जांचना चाहिये तथा शरीर की क्रियायें, वचन के जल्प या वचनालाप व मन के विकल्पों से अपने उपयोग को हटा कर अपने त्रिकाली ध्रुवस्वभाव के अनुसार केवल ज्ञायक रहने का ही प्रयत्न करना चाहिये। उसी को जानना यह हमारे उपयोग में प्रमुखता से छाया रहना चाहिये। शेष शरीरादि की क्रियायें मुझ से पर हैं, इसका भान सदैव रखना चाहिये। ऐसा निश्चित करने से हर क्रिया में पर के आश्रित

---

२७५ अ - स्वरूपसंबोधनस्तोत्र श्लोक २३

जो शुभ-अशुभ या पुण्य-पापभाव थे वे घटकर आकुलता कम होती जा रही है, ऐसा अनुभव में आता जायेगा व शान्ति का जीवन में सूत्रपात होगा तब सतत करने-करने या भोगने-भोगने की जो आकुलता बनी रहती थी, वह मिटती जा रही है, ऐसा अनुभव में आयेगा।

इसपर भी यदि करने या भोगने की आकुलता कर्मोदय वश निर्बलता से आती रही, तो उसे **अपराध** समझना चाहिये, क्योंकि यह **अपराध** मेरे ज्ञायकस्वभाव से विरुद्ध है व कर्मबंध करने वाला है, तब अनन्तानुबंधी कषायों का अभाव वहाँ अपना प्रभाव दिखायेगा। यदि उसके साथ अणुव्रतादि या महाव्रतादि धार सको तो उत्तम, वह तो सोने में सुहागा जैसा होगा, पर शक्ति से अधिक संयम धारण किया, तो वह बोझ असहनीय होने से कमर टूटने का या मूल से ही उखड़ने का इर रहेगा। किन्तु तब तक श्रद्धा में पर का स्वामित्व, एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तो सदा के लिये छोड़ना ही चाहिये, क्योंकि पर का हम में अत्यन्ताभाव है।

मानो जैसे हम शिखरजी के पहाड़ पर पांच-छह माह के लिये ध्यानार्थ गये, वहाँ किसी निवास में रहे, लोगों को यह बताते रहे कि **यह मेरा निवास है**, फिर भी हमें यह भान रहता है कि **यह निवास हमारा नहीं है**, उसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुष अपना **अपनत्व सिर्फ अपने ज्ञायकस्वभाव में ही करता है।** यद्यपि वह शरीर में एकक्षेत्रावगाही हो कर रहता है, फिर भी शरीरादिक में अपनत्व नहीं करता, क्योंकि उसका विश्वास है कि शरीरादिकों का मुझमें अत्यन्ताभाव है। यही ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा का विषय शान्ति-सुखप्रदाता है। **उसी का ध्यान शुद्धोपयोग है और यह विषय हमारे पास अखंडरूप से रहा है व सहजसुलभ है।** ज्ञान का उपयोग यह उसी की पर्याय है, इसी लिये उसे स्वयं का आधार ले कर स्वयं से तन्मय होना सहज है, क्योंकि अन्यत्र तन्मय होना अशक्य है, जैसे आंख अन्य पदार्थ को उस से दूर रह कर ही जानती है, उसीतरह ज्ञान का उपयोग भी ज्ञान के बाहर न जाते हुए ही, उन्हें न छूते हुए ही अन्य पदार्थों

को जानता रहता है। इसलिये पर को जानना पर से तन्मय न होकर ही होता है, जब कि **स्वयं को जानना स्वयं से तन्मयता पूर्वक होता है। पर का अपने में अत्यन्त अभाव होने से वे पदार्थ न तो इष्ट हैं, न अनिष्ट ही हैं।** वे मुझे किसी भी अंश में सुखदुखप्रदाता नहीं हैं। उनका संयोग या वियोग कर्म की उदयजन्य व्यवस्था है, उनमें फेर-फार करना जीव को अशक्य है। इसलिये पर ज्ञेयों से अपना उपयोग हटाकर अपने ध्रुव ज्ञायक स्वभाव में ही टिकाये रखना अति सुलभ होनेसे अतिआवश्यक है। यही शुद्धोपयोग का अभ्यास है, जिसका फल शुद्धोपयोग है।

हमें भी इसी वजह से अपने **त्रिकाल उपलब्ध ज्ञायकस्वभावी आत्मा के पास रहना चाहिये**, उसी का मार्गदर्शन लेना चाहिये, उसी ज्ञायकस्वभावी आत्मदेव, **आत्म-अरिहन्त-सिद्ध के** आधार से साधना करनी चाहिये, अपने ही **आत्म-आचार्य के समागम में** रह कर उसका शिष्यत्व स्वीकारना चाहिये व उसीके मार्गदर्शन में प्रतिक्रमणादि कर आचरण सुधारना चाहिये। **अपने ही आत्मउपाध्याय के पास** से स्व-पर का भेद, स्वहित-अहित का भेद, योग्य अयोग्य का व सत्यासत्यता का भेद आदि सीखना चाहिये। अपने ही सिद्धस्वभावी ज्ञायक स्वभाव में सतत अवगाहन करते हुए शान्ति का व परमानन्द का भोग करते रहना चाहिये तथा **अपने ही साधुस्वभाव की साधना** सतत करनी चाहिये। यही सच्ची या सम्यक् पूजा, आराधना व सम्यक् व्रतादि है। जब यह अशक्य हो तो पंचपरमेष्ठियों की ही शरण अवश्य लेनी चाहिये, अन्य सभी अशरण है। देखे यह उद्धरण

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्टहिं आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।[२७६]

अर्थ - अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु ये सभी आत्मा में ही वर्तते हैं, इस लिये मुझे आत्मा ही शरणभूत है।

इसीतरह और भी देखें -

---

२७६ - मोक्षपाहुड गाथा १०४

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहिं आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। २७७

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों ही आत्मा में ही रहते हैं, इसलिये मुझे आत्मा ही शरणभूत है।

ऐसे स्वयंपूर्ण, स्वयंभू, स्वयंतृप्त आत्मा का ध्येय रखने से गुणस्थानों मे वृद्धि होती जायेगी, लालसायें, आकुलतायें व आसक्तियाँ घटती जायेगी, निर्जरा बढती जायेगी, अणुव्रत व महाव्रतों का सहज आगमन होगा तथा आत्मस्वभाव में ही रमते रहने की प्रबल जिज्ञासा व प्रयत्न चलते रहेंगे, तब पर से हटते रहने से त्याग होता जायेगा व अपने आत्मा का सामीप्य बढता जायेगा, क्योंकि उस साधक ने अपना आदर्श निजात्मा को ही बनाया है। **पंचपरमेष्ठि तो मार्गदर्शक के रूप में उसे सदा पूज्य ही रहेंगे, उन्हें वह भूल सकता ही नहीं है**, उनका उपकार सदैव उसके उपयोग में बसा रहेगा, तभी उसकी साधना तीव्र से तीव्रतर व उससे तीव्रतम होकर केवलज्ञान में परिणत होगी।

अतः साधक चाहे वह श्रावक हो या मुन्नि हो, उसे पहले गुणस्थान के कीचड़ से बाहर आने हेतु व समकित में टिकने हेतु सभी को शुद्धोपयोग ही एकमेव साधन है। **इसलिये कषायें मन्द करो, अशुभ से हटो, शुभ में इटो, इत्यादि नकारार्थी भूमिकाओं से केवल शुभ का ही आस्रव होता रहेगा, कभी भी संवर या निर्जरा के सुमधुर फल हाथ नहीं आयेंगे, केवल कष्ट का ही अनुभव आयेगा।**

कोई कहते हैं कि **निर्जरा तो दूसरे या तीसरे गुणस्थान में भी होती है**, चौथे गुणस्थान की विशेषता क्या है? पर इसमें एक बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिये कि **दूसरा या तीसरा गुणस्थान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उपरान्त ही सम्यग्दर्शन से च्युत होने पर होता हैं, अतः वे सम्यग्दर्शन के ही पूर्वप्रभाव से निर्जरा के भागी बनते हैं। वहाँ पर**

---

२७७ - मोक्षपाहुड गाथा १०५

मिथ्यात्व प्रकृति का उदय नहीं है, पर जब वह मिथ्यात्व में आयेगा, तो निर्जरा वहाँ से भी गायब हो जायेगी। इसलिये उपर्युक्त कथन में कोई तुक नहीं है, क्योंकि चौथे गुणस्थान में जो निर्जरा है, वह सम्यग्दर्शन का ही फल है।

इसलिये भव्य जीवों ने मिथ्यात्व अवस्था में ही दृष्टि में सुधार लाने हेतु व अनादिकालीन भ्रम का निवारण करने हेतु जिनवाणी के मार्गदर्शन में तत्त्वज्ञान का गहन अभ्यास सूक्ष्मता से अवश्य करना चाहिये। ऐसे अभ्यास से गुरु के मार्गदर्शन में एक निष्कर्ष पर आना चाहिये कि निश्चयनय व व्यवहार नय दोनों के मेल से ही आत्मा का स्वरूप जान कर अनुभव में शुद्धात्मस्वभाव को ही दृष्टि में लेते हुए आत्मा के समलता या अमलता का पर्यायरूप विचार छोड़ना चाहिये व पूर्ण आत्मस्वभाव में ही रमना चाहिये। देखें यह **उद्धरण** -

एक जानिये देखिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल अमल न विचारिये, यहै शुद्धि नहि और।।[२७८]

अर्थ - एक आत्मा को ही जानिये, उसीको देखिये और उसी एक में ही रमे रहिये। उसे यह समल है या अमल है, इसका विचार न करते हुए स्वीकारिये, यह ही शुद्धता है, इससे अन्य और कोई शुद्धि नहीं है।

अतः दृष्टि में सुधार लाने हेतु अर्थात् स्व का सम्यक् दर्शन करने हेतु श्रावकों को सम्यग्दर्शन से पहले ही विशुद्धिलब्धि में विशुद्धभाव पूर्वक देशनालब्धि प्राप्त कर समयसार जैसे द्रव्यानुयोग के आगमग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये। केवल मुनि ही इसका स्वाध्याय कर सकते हैं, यह कहना श्रावकों को सम्यग्दर्शन से वंचित रखना है और उनको मोक्षमार्ग से विमुख करना है। अतः केवल प्रथमानुयोग या चरणानुयोग के अध्ययन से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं हो सकेगी, तब ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या

---

२७८ - नाटक समयसार २०

ही रहेंगे। इसलिये प्रथमानुयोग व चरणानुयोग के साथ द्रव्यानुयोग का भी अध्ययन करना सयुक्तिक है व अत्यावश्यक भी है, **क्योंकि वह द्रव्यानुयोग स्वयंप्रकाशित दीपक है** व अन्य तीन अनुयोग उस दीपक द्वारा प्रकाशित होनेवाले **परप्रकाशित अनुयोग** हैं। उस द्रव्यानुयोग के दीपक के बिना वे अंधकारस्वरूप होने से वे स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकते।

देखिये, रत्नकरंडश्रावकाचार के यह उद्धरण -

१. **प्रथमानुयोग** - **प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं** चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं **सम्यग्ज्ञानं विजानाति**।।

२. **करणानुयोग** - लोकालोकविभक्तेर्युग युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव **तथामतिरवैति करणानुयोगं** च।।

३. **चरणानुयोग** - गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धिरक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।

४. **द्रव्यानुयोग** - जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।[२७८अ]

अर्थ - १. पुरुषार्थ का आख्यान व पुराण पुरुषों का पुण्यमय चरित्र कहनेवाले **प्रथमानुयोग** को **सम्यग्ज्ञान** जानता है। २. लोक-अलोक का विभाजन तथा चार गतियों में युगपरिवर्तन को बतानेवाले **करणानुयोग** को दर्पण के समान तथामति याने **सम्यग्ज्ञान** जानता है। ३. **गृहस्थ और अनगारों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि तथा सुरक्षा को कहनेवाले चरणानुयोग** के शास्त्र को **सम्यग्ज्ञान** जानता है। परन्तु ४. **सप्ततत्त्वों को कहनेवाला द्रव्यानुयोगरूपी दीपक** श्रुतविद्या के आलोक को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्रकाशित व विस्तृत करता है। **अतः द्रव्यानुयोगरूपी दीपक स्वयंप्रकाशित व स्वपरप्रकाशक है।**

इस पर से यह स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञान प्रथमानुयोग, करणानुयोग व चरणानुयोग को जानता है, प्रत्युत द्रव्यानुयोगरूपी दीपक श्रुतविद्या के

२७८अ - रत्नकरंड श्रावकाचार श्लोक क्रमांक ४३ से ४६

आलोक को याने सम्यग्ज्ञान को प्रकाशित करता है अर्थात् द्रव्यानुयोग यह स्वयंप्रकाशित है व शेष तीनों अनुयोग द्रव्यानुयोग द्वारा सम्यग्ज्ञान होने पर ही प्रकाशित होते हैं अर्थात् वे परप्रकाशित हैं।

अतः समयसारादि द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों के स्वाध्याय से श्रावकों को वंचित न रख कर उन्हें उनके स्वाध्याय की प्रेरणा गुरुजनों ने अवश्य देनी ही चाहिये, उसी से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सही श्रद्धान होगा, द्रव्यानुयोग के विषयभूत सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान होगा, स्व-पर का भेदविज्ञान होगा व सम्यदर्शन होगा, तभी मोक्षमार्ग का उद्घाटन होगा, **शुद्धोपयोग आयेगा व साथ में संवर तथा सच्ची अविपाक निर्जरा भी आयेगी। यह सब द्रव्यानुयोग के फलरूप शुद्धोपयोग की ही कृपा है।**

अतः द्रव्यानुयोग के अध्ययन से सभी शुद्धोपयोग के द्वारा सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्षमार्गी बने, इस भावना के साथ पूर्णविराम लेता हूं।

ॐ

प्रश्नोत्तर खंड

प्रश्न १. - यदि अव्रती गृहस्थों को भी आत्मानुभूति होने लगे, तो श्रावकों को व्रती या मुनि बनने की क्या आवश्यकता है? फिर तो कोई भी मुनि बनेगा ही नहीं।

उत्तर १. - ऐसा नहीं है। गृहस्थों को जो शुद्धोपयोग या आत्मानुभूति होती है, वह भोजन में चटनी जैसी है। वह क्वचित् कदाचित् बहुत काल जाने के बाद होती है, जब कि मुनियों को वह हर अन्तर्मुहूर्त में होने से वह पूर्ण भोजनरूप है। जिसे एक ग्रास खीर का खाने को मिला, उसे पेट भर खीर खाने की इच्छा क्यों नहीं होगी? इसीतरह जिस गृहस्थ को शुद्धोपयोगपूर्वक सम्यग्दर्शन हुआ, उस अविरतसम्यग्दृष्टि साधक को क्वचित् होनेवाले शुद्धोपयोग का स्वाद मुनि हो कर सतत चखने की तीव्र इच्छा क्यों नहीं होगी? जिस साधक को मुनि बनने की इच्छा ही न हो, वह साधक कैसा?

वह तो साधक ही नहीं हो सकता। फिर चौथा या पांचवां गुणस्थान उसे हो ही नहीं सकता। धर्म तो ऊंचा चढने हेतु धारण किया जाता है, (संसारदुखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।। (रत्नकरण्डश्रावकाचार २). फिर जिसे ऊंचा चढने की ही ललक नहीं है, वह धर्मी गृहस्थ कैसा? फिर सारे व्रत तप शीलादि व्यर्थ ही है।

वास्तविक जो प्रतिमायें हैं, वे सभी मुनि बनने का प्रशिक्षण है। हर श्रावक को चाहे वह अविरत ही क्यों न हो, उसे तो मोक्ष ही चाहिये और मोक्ष तो मुनि हुए बिना मिलने से रहा। इसलिये हर गृहस्थ को मुनि बनने का अभिलाषी होना ही चाहिये। उसका ही अभ्यास अपनी शक्ति को न छिपाते हुए करते रहना चाहिये। हाँ, इतना अवश्य है कि शक्ति से अधिक भी व्रत तथा संयमादिक में व्यर्थ प्रदर्शन या मान हेतु नहीं कूदना चाहिये अन्यथा भेदज्ञान के बिना उसे अनन्तानुबंधी कषाय संसार के गड्ढे में पटके बिना नहीं रहेंगे, उसके बिना वह मिथ्यात्व गुणस्थान से आगे ऊपर उठेगा ही नहीं। कहा भी है -

१. **जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।**
सद्दहमाणो जीवो पावदि अजरामरं ठाणं।। तथा

२. **दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।**
सिज्झंति चरियभट्टा. दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।[२७८ब]

अर्थ - १. जो शक्य हो वह करें, जो शक्य न हो उसका श्रद्धान करें। जो श्रद्धान करता है, ऐसा श्रद्धानी साधक अजरामर स्थान मोक्ष को पा लेता है। २. दर्शन से जो भ्रष्ट हैं, वे तो भ्रष्ट ही हैं, उन दर्शन से भ्रष्टों को निर्वाण हो नहीं सकता। जो केवल चारित्र से भ्रष्ट है, वे तो मुक्त हो सकते हैं, पर दर्शन से जो भ्रष्ट है, वे मुक्ति को कतई प्राप्त नहीं हो सकते।

अतः गृहस्थों ने भी शुद्धोपयोग में अर्थात् निज शुद्ध ध्रुवज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में भेदज्ञानपूर्वक अधिकाधिक स्थिरता से रमने का प्रयत्न करना

---

२७८ ब . दर्शनपाहुड गाथा २२ व नियमसार गाथा १५४

चाहिये और अभ्यास करना चाहिये। यही अभ्यास पांचवें गुणस्थान में प्रतिमाओं में रमायेगा व छठवें व सातवें गुणस्थान में मुनिपद में अधिक व सतत आनन्ददायी स्थिरता को प्रदान कर शीघ्र मुक्तिपद देगा।।

अतः कोई श्रावक मुनि नहीं बनेगा यह इर निरर्थक है।

प्रश्न क्र. २.- अनन्तानुबंधी की परिभाषा क्या है? क्या उसके अनुदय में चारित्र मान सकते है? क्या वही मिथ्यात्व का बंध कराती है?

उत्तर - जो अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व से अनुबंध करे, मिथ्यात्व के साथ सतत रहने का वादा करे, वह अनन्तमिथ्यात्व का साथी अनन्तानुबंधी है। वह अनन्तानुबंधी कषाय मिथ्यात्व को नहीं बांधती, प्रत्युत वह मिथ्यात्व को नहीं छोडती। देखे यह उद्धरण - **अनंतसंसारकारणत्वात् मिथ्यादर्शनं अनन्तम्। तदनुबंधिनो अनन्तानुबंधिनः।**[२७९] अर्थ - इस तरह से जो अनन्तसंसार का कारण है वह मिथ्यात्व है, मिथ्यादर्शन है। इसी कारण से वह **मिथ्यात्व ही अनन्त** है, उसके साथ अनुबंध कर उसके साथ रहने की गारंटी देनेवाली या अनुबंध करनेवाली अनन्तानुबंधी कषाय है। इसतरह से यह अनन्तानुबंधी कषाय स्वयं मिथ्यात्व के साथ अनुबंध करती है, साथ देने का वादा करती है इसलिये वह जीव मिथ्यात्वी है और उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। सम्यग्दर्शन होने पर वही मिथ्याचारित्र सम्यक् हो जाता है। **इसतरह अनुबंध करनेवाले से अनुबंध करानेवाला बड़ा होता है,** इसलिये अनन्तानुबंधी से मिथ्यात्व बलवान होने से वह अनुबंधक कषाय **मिथ्यात्व का बंध करानेवाली कतई नहीं हो सकती।**

वास्तविक स्थिति यह है कि **कषायें मिथ्यादर्शन के आवेश से अधिक बलवान होती है,** उससे कम अविरति के आवेश से, उससे कम प्रमाद के आवेश से तथा उससे भी अल्प स्वयं अकेले के भरोसे निर्बल हो जाने से अल्पतम बंध करा पाती है। उन्हें इन मिथ्यात्वादि का जोर न हो

---

२७९ - सर्वार्थसिद्धि अ. ८ सू. ९

तो वे कषायें हतबल हैं। देखें यह उद्धरण -

१. सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।[२७९अ]

२. **मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्य** आत्मनः सर्वतो योगविशेषात् ..... कर्मभावयोग्यानां अविभागेन उपश्लेषो बंध इति आख्यायते।[२७९ब]

अर्थ - १. कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बंध है। २. **मिथ्यादर्शनादि के आवेश** से आर्द्र (गीले) किये हुए आत्मा के सभी ओर से योगविशेषों से.....कर्मभाव (कर्म बनने) योग्य वर्गणाओं का अविभाग (विभागरहित) रूप से उपश्लेष (चिपकना) ही बंध है।

इसका आशय यह है कि कषायसहित होने से जीव कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है क्योंकि कर्मों की स्निग्धता से ही कर्म चिपकते हैं किन्तु फिटकरी आदिरूप मिथ्यात्वादि के आवेश या जोर से उनके स्थिति-अनुभाग बढ़ते हैं। यह इस तालिका से देखें -

मिथ्यात्व	अविरति	प्रमाद	कषाय	योग
१	१	१	१	१

इसतरह यह संख्या ११११९ हुई। अब चौथे गुणस्थान में बंध के प्रबलतम कारण **मिथ्यात्व** ने कषाय का साथ छोड़ने पर अविरति आदिक की वह संख्या १११९ रही अर्थात् १०००० की मूल ऋण की राशि जीव ने कर्मों को लौटा दी। इसीतरह **अविरति** का भी प्रबलतर आवेश १ जानेपर वह १११ रही अर्थात् १००० की व्याजराशि अदा की गई। **प्रमाद** का आवेश निकल जानेपर **कषाय** और दुर्बल होकर केवल ११ बचे। तब अप्रमत्त दशा आई। कषायें फिर नष्ट हो जानेपर केवल **योग** का १ बचा तब यथाख्यात चारित्र आया। इस तरह स्वयं दुर्बलतम कषाय की स्निग्धता मिथ्यात्वादि से अधिकाधिक बंधक होती जाती है, यह सप्रमाण सिद्ध हो गया।

इतना अवश्य है कि करणानुयोग पद्धति में उस असंयमरूप सम्यक्चारित्र

२७९अ. सर्वार्थसिद्धि अध्याय ८ सूत्र २ २७९ब. सर्वार्थसिद्धि अध्याय ८ सूत्र २ टीका.

को संयम के अभाव में **वहाँ चारित्र नहीं है**, ऐसा कहा गया है, इतना ही। चौथे गुणस्थान में इसीलिये चारित्र नहीं है, ऐसा गोमटसार कहता है, पर धवला टीका व श्लोकवार्तिक वहाँ पर चारित्र को स्पष्ट मानते है। उसे ही दर्शनाचार, दर्शनाराधना, सम्यक्त्वाचरणचारित्र इत्यादि नामों से पुकारते हैं, जो **स्वरूपाचरण चारित्र ही है**, क्योंकि वहाँपर अनन्तानुबंधी चारित्रमोहनीयकर्म का अनुदयरूप उपशम, क्षय, क्षयोपशम है। देखें - **सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से चौथा गुणस्थान आता है।**[२८०] इसलिये **चौथे गुणस्थान में सम्यक्चारित्र है** यह निर्विवाद स्पष्ट है।

प्रश्न क्र. ३ - क्या पुण्य सर्वथा हेय ही है या उपादेय भी?

उत्तर - पुण्य को द्रव्यानुयोग में हेय कहा जाता है, वह दृष्टि या सम्यग्दर्शन के विषय के व्याख्यान में। **दृष्टि या प्रयोजन या अभिप्राय में तो सम्यग्दर्शन हेतु वह सर्वथा हेय ही है, अस्पृश्य ही है।** ज्ञान के हेतु वह ज्ञेय है। **ज्ञानहेतु वह न तो हेय है और न उपादेय ही है।** चारित्र में पुण्य तात्कालिकरूप से **स्वीकार्य** है, पाप हेय होने से प्रमाद की अवस्था में शुद्धोपयोग में आने हेतु पुण्य उपयोगी है, **इसलिये वह आचरणीय है, ग्राह्य है।** पर शुभोपयोग में ही रमने हेतु वह आदरणीय नहीं। **शुभोपयोग से छूट कर शुद्धोपयोग में आने हेतु ही वह चारित्र को स्वीकार्य है।**

करणानुयोग में भी तिलोयपण्णत्ति के नौवें अधिकार में गाथायें ४४, ५६ व ५७ में उसे हेय ही करार दिया है।

पुण्य और पाप दोनों के दो दो भेद हैं। इसतरह कुल चार भेद हो जाते हैं। वे इसप्रकार है - १. पापानुबंधी पाप। २. पापानुबंधी पुण्य। तथा ३. पुण्यानुबंधी पाप व ४. पुण्यानुबंधी पुण्य। इसका कुछ स्पष्टीकरण नीचे दिया है -

---

२८० - समयसार गाथा १९३ तात्पर्यवृत्ति व गाथा २०१ व २०२ तात्पर्यवृत्ति

१. पापानुबंधी पाप . वर्तमान समय में जो कृषि आदि षट्कर्मों द्वारा पापभाव किया जा रहा है, वह विषयभोग का हेतु से होने से पापरूप ही फल देनेवाला है। इसलिये वह पापानुबंधी पाप है। पाप का उदय यहाँ ग्राह्य नहीं है। उदय पाप का या पुण्य का हो उससमय भोगों हेतु किया जानेवाला पापभाव ही पापानुबंधी पाप है।

२. पापानुबंधी पुण्य - वर्तमान समय में जो दान-पूजादिक शुभ भाव किया जाता है, वह यदि निदानपूर्वक सांसारिक भोगाभिलाषा हेतु किया जाता है, तो वह पुण्यभाव पाप के साथ अनुबंधित होने से मिलनेवाले पुण्यफल को भोगों में ही गंवा देनेवाला होता है। इसलिये ऐसा पुण्यभाव ही पापानुबंधी पुण्य है।

यह **दोनों भाव मिथ्यादृष्टि को ही नियम से होते है**, क्योंकि उसे शुभभावरूप धर्म हैं, ऐसी मान्यता है।

३. पुण्यानुबंधी पाप - वर्तमान में जो दान-पूजादिक के हेतु से न्याय से धन कमाना, मन्दिर बांधना, मुनिराजों को आहार हेतु स्वयंपाकादि क्रियाओं के भाव करना, ये सभी भाव पापरूप होनेपर भी सत्कार्यहेतु तथा भोगाभिलाषा से रहित होने से वे अल्प दुःख व बहु पुण्यरूप फल देनेवाले है। इसलिये वह पापभाव होने पर भी दान-पूजादि के द्वारा शुद्धोपयोग में आने हेतु या परोपकार के हेतु होने से पुण्य के साथ अनुबंध करने वाले हैं, **इसलिये वह पाप भाव भी पुण्यानुबंधी पाप है। यह सम्यग्दृष्टि को ही होता हैं।**

४. पुण्यानुबंधी पुण्य - निदानरहित या भोगों की अभिलाषारहित केवल स्वयं में रमनेरूप **शुद्धोपयोग में आने हेतु** जो दानपूजादिरूप शुभभाव किये जाते हैं, उस समय जो पुण्य अर्जित किया जाता है, **वह पुण्यानुबंधी पुण्य है।** यह भी सम्यग्दृष्टि को न चाहते हुए स्वयं की प्रमादी अवस्था में होता है। सम्यक्त्वी को शुभराग आता है, वह चारित्र की निर्बलता वश ही। केवल अशुभ से बचने का हेतु समझ कर ही वह

शुभोपयोग में आता है। इसप्रकार **सम्यग्दृष्टि श्रावक न चाहकर भी शुभोपयोग व अशुभोपयोग की भट्टी में जलन, तपन महसूस करता है,** जैसे भोजन बनाने हेतु न चाहते हुए भी अग्नि की तपन स्वयंपाककर्ता को सहनी पडती है।

आगम में चरणानुयोग में तो पुण्य को ही प्राथमिकता दी गई है, क्योंकि चरणानुयोग की दृष्टि अन्तरंग चारित्र पर कम व बहिरंग चारित्र पर अधिक रहती है। **वहाँ पर जो कषायों के घटनेरूप अन्तरंग चारित्र है, उसकी मुख्यता नहीं है।** निर्ग्रंथता मुख्यतया चौदह अंतरंग परिग्रहों के त्याग पर निर्भर है। चरणानुयोग में उसकी मुख्यता नहीं है, बल्कि केवल क्रियाओं की ओर दृष्टि होने से वह बाह्य परिग्रह तथा वचन और काय की क्रियाओं तक ही सीमित रहता है, जैसे अव्रतों से छूटना और व्रतों में लगना, असत्य से छूटना और सत्य वचन में लगना, बाह्य परिग्रह छोडना आदि।

पर द्रव्यानुयोग की दृष्टि तो अन्तरंग शुद्धि पर होने से वह मूल पर ही कुठाराघात करता है। वह बाह्य व्रतों को मुख्यता न दे कर अन्तरंग मानसिक मिथ्यात्व, राग, द्वेष के त्याग पर ही दृष्टि देता है व उसका मूल कारण जो भाव-आस्रव व भाव-बंध पुण्य व पापरूप है, उसके भी मूलकारण में ही कुठाराघात करके मिथ्यात्व को ही छेदता है और स्वयं की पहिचान स्वयं के ज्ञायकस्वभावी उपयोग से जोइता है, जिससे पर्यायों से दृष्टि छूट कर अपने त्रिकाली स्वभाव पर आती है, मिथ्यात्व छूटता है, सम्यक्त्व आता है तथा आस्रव-बंध का हेयपना व ज्ञायकस्वभाव में उपादेयपना सहजता से आता है। तभी अशुभास्रव व अशुभबंधरूप पापपदार्थ से तो दृष्टि हटती ही है पर शुभास्रव व शुभबंधरूप पुण्यपदार्थ से भी दृष्टि हटती है, मान्यता में उन का हेयपना दृढता से रच-पच जाता है व केवल निज आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-लीनता यही दृष्टि में उपादेय रहते हैं। फिर भी जैसे रोग हेय है, ऐसी दृढ मान्यता होने पर भी कड़वी दवाई पीनी पडती है,

उसी तरह पाप-पुण्य दोनों हेय जान कर भी और ज्ञायकस्वभाव ही उपादेय जान कर भी कमजोरी वश पुण्यभाव में रमना पडता है। सतत रम न पाने से वह **पाप तथा पुण्य इन दो हेयों में से मन्दकषायरूप पुण्य को ही** चुनता है और शुभभाव रूप **पुण्य की कड़वी दवाई छोड़नेहेतु ही** पीता है तथा **पापरूप अपथ्य** को छोड़ता है किन्तु इच्छा तो दोनों को ही छोड़ कर स्वयं में ही रमने की होती है।

फिर भी उसे गृहस्थावस्था में पाप तो अनिच्छापूर्वक करने ही पडते हैं व पुण्य भी इच्छापूर्वक करना पडता है, क्योंकि **पुण्य भी छोड़ कर जाये तो जाये कहां?** शुद्धोपयोग में न जा सके, तो पाप में ही आना पडेगा, वह तो और भी अनिष्टकारक है। इसलिये पाप भाव से पुण्य भाव में रहना, उसे दवाई जैसा स्वीकार करना पडता है. यही उसकी कमजोरी है। इसलिये पुण्य उपादेय हो गया या उसने पुण्य को उपादेय माना ऐसा नहीं है।

इस सम्बंध में योगसार की गाथायें ३१, ३२, ३३, ३४ तथा ७१, ७२ तथा परमात्मप्रकाश की गाथायें अ. २ गाथा ६० व समयसार के पुण्यपापाधिकार की गाथायें भी विस्तार से पढने योग्य हैं, जिनमें पुण्य को हेय रूप से समझाया है। **इसका अर्थ यह नहीं है, अभी पुण्य छोड़ दें और पाप करते रहें।** लोगों मे ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं

प्रश्न - **पुण्य हेय है, ऐसा आप कहते हो, तो क्या हम पुण्य को छोड़ दे?**

प्रतिप्रश्न - आप ही बतायें **कि क्या पाप हेय है?**

उनका उत्तर - **वह तो हेय है ही।**

पुनः प्रतिप्रश्न - **क्या आपने पाप को छोडा है?**

उनका उत्तर - **वह तो छूट ही नहीं सकता।**

समाधान - तो फिर **पुण्य को भी हेय मान कर शुद्धोपयोग में रमने का प्रयत्न करो व वहाँ न रम सकते हो, तो पाप से बचने हेतु पुण्य में आ जाओ, पर वहीं रुकने के लिये नहीं, केवल वहाँ से**

निकलकर शुद्धोपयोग में आने हेतु। दोनों को क्रमशः लोहे की और सोने की बेडियाँ समझो, जो बांधती ही है, मुक्त नहीं करती। इसी तरह पाप और पुण्य दोनों संसार में ही घुमाते हैं, उन्हें उपादेय न समझो।

पुण्य दो मुंही होता है, एक मुंह तो पाप की ओर ले जाता है और दूसरा शुद्ध की ओर। पाप तो एक मुंही ही है, उस से पुण्य में ही आ सकते हैं। शुद्ध भी एक मुंही ही है, उससे भी पुण्य में ही आ सकते है **किन्तु पुण्य से पाप की ओर भी जा सकते हैं और शुद्ध की ओर भी।** क्या करना इसका चुनाव हमें ही करना है। इसी कारण से **परम्परा से पुण्य को मोक्ष का हेतु कहा गया है।** वह सीधे मोक्ष का कारण तो है ही नहीं, किन्तु मोक्ष के इष्ट स्थानक को जाते हुए बीच में पुण्य के स्थानक लगते ही है। उन्हें जानिये पर उनमें मत रुकिये, यदि इच्छा हो तो देखिये और जानिये, किन्तु रुकिये मत, अन्यथा इष्ट स्थानक कभी नहीं मिलेगा।

धर्मी जीव पुण्य नहीं चाहता। वह जानता हैं कि **पुण्य से वैभव, वैभव से मद, मद से बुद्धिभ्रष्टता और बुद्धिभ्रष्टता से पुनः पाप होता है।** इसलिये ऐसा पुण्य मुझे नहीं चाहिये।[२८१] यही पुण्य मिथ्यात्वी का **पापानुबंधी पुण्य** है।

पुण्य तो छाया की तरह है, जो सम्यक्त्वरूप सूर्य की तरफ पीठ करने से सामने दीखती है। उस पुण्यरूपी छाया को ही उपादेय मान कर उसके पीछै दौड़ने से वह छाया हाथ नहीं आती, पर उसी पुण्यरूपी छाया की तरफ पीठ कर व सूर्यमुखी हो कर प्रयाण करने से ही वह अपने पीछे पीछे भागती आती है। इसलिये धर्मी पुण्य को नहीं चाहता।

तीर्थंकरप्रकृति यद्यपि सातिशय पुण्यप्रकृति है, पर जो तीर्थंकर प्रकृति की चाह रख कर वैसी पुण्यप्रकृति बांधने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें वह नहीं बंधती। जो निरपेक्षता से सभी संसारी जीवों की षोड़शकारण भावनारूप कल्याण की शुभभावना भाते हैं, उन्हें ही वह सहज में ही बंधती है।

---

२८१ - परमात्मप्रकाश गाथा १८७ २८१अ - गोमटसार कर्मकांड, जीवतत्त्वप्रज्ञापन, ५२४/१२

सोलहकारण भावनाओं में कहीं भी **मैं तीर्थंकर बनूँ**, इस तरह की मांग नहीं है। यह प्रकृति केवल केवलियों के पादमूल में ही बंधती होने से इस काल में यहाँ पर तो बंधना शक्य नहीं है। देखें यह उद्धरण -

केवलिद्वयान्ते एव नियमो यदन्यत्र तादृग्विशुद्धिविशेषासंभवात्।[२८१अ]

अर्थ - **बहुरि केवलि (केवली व श्रुतकेवली) के निकट कहनेका अभिप्राय यह है कि जो और ठिकानै वैसी विशुद्धता होइ नाहीं, जिसतै तीर्थंकर प्रकृति बंध का प्रारंभ होइ।**

इस प्रकृति के बंधने का प्रारम्भ चौथे गुणस्थानवर्ती भी कर सकते हैं। यह प्रकृति कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल लेश्याओं में शुभपरिणामों से बंधती है। कृष्ण व नील लेश्याओं में नहीं बंधती है। देखें यह आधार - सम्माइट्ठीणं व काउल्लेस्सं मोत्तूण अण्णलेस्साभावादो वा ण णीलकिण्हलेस्साए तित्थयरसंतकम्मिया अत्थि। (धवला ८/३,२५८/३३२/३)।

यह प्रकृति श्रेणिकराजा जैसों ने भी चौथे गुणस्थान में रहते हुए बांधी है। इसलिये दृष्टि में केवल शुद्धात्मा ही उपादेय है, न कि उस से अन्य कोई भाव या उपयोग। धर्मी यह जानता है। पुण्यभावरूप शुभोपयोग उसे होता रहता है, परं वह उसे अपराधरूप महसूस होता है। हेतु, स्वभाव, अनुभव व आश्रय इन चारों रूपों से विचार करने पर शुभोपयोगरूप पुण्यभाव दुखदायी व बंध तथा संसार का कारण ही है। देखें -

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः।।[२८२]

इस पुण्य की महत्ता दिखाने हेतु यह भी कहा जाता है कि प्रवचनसार में **अर्हन्तों को पुण्य का फल** कहा है। देखें गाथा -

पुण्णफला अरिहंता तेसिं किरिया पुणो वि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगत्ति मदा।।[२८३]

अर्थ - अर्हन्त भगवान पुण्यफलवाले हैं तथा उनकी क्रिया औदयिकी

---

२८२. समयसार गा. १४५ की टीका कलश १०२ २८३. प्रवचनसार गाथा ४५

है। वे मोहादि से विरहित होने से उस क्रिया को क्षायिकी कहा जाता है।

इस सम्बंध में ऊपर विचार किया गया ही है कि तीर्थंकर प्रकृति पुण्यप्रकृति है, जो तीर्थंकर पद पाने की इच्छा से नहीं बंधती। **पुण्णफला अरिहंता** यह मुख्यतः तीर्थंकरों के सम्बंध से ही होने से उनके ४२ बाह्य अतिशयों की अपेक्षा वहाँ पर है। यह तीर्थंकरों की पंचमहाकल्याणकों की अपेक्षा से ही कहा होने से उन अतिशयों से रहित अन्य अर्हन्तों की अपेक्षा वहाँ नहीं है। वहाँ पुण्य के वैभवरूप यह पुण्यफल की व्यवस्था कर्म की देन है परन्तु उन फलों में या शरीरादि की क्रियाओं में उन अर्हन्तों को मोहादि का अभाव होने से वे क्रियाएं भी उपचार से क्षायिक कही जाती हैं। पर वे तो हैं सातावेदनीय के उदय से होनेवाले पुण्य के फल। उस पुण्य को या इस पुण्यफल को न तो उन्होंने चाहा था, न अब भी उनकी दृष्टि उसमें मोहित होती है, वे तो उससे विरक्त ही रहते हैं। वैसे तीर्थंकर अर्हन्त और सामान्य अर्हन्तों में अन्तरंग वैभव की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

इसलिये अर्हद्भक्तों को भी जैन होने के नाते **उन अरहन्तों जैसा पुण्य का मोह छोडना चाहिये, क्योंकि यह प्रगट मिथ्यात्व है। उन्हें तो दृष्टि में केवल एक ध्रुवस्वभाव ही रखना चाहिये। मिथ्यात्व हटे बिना सम्यक्त्व आता नहीं है और तब न तो गुणस्थान पहले से ऊपर चढता है, न पुण्यानुबंधी पुण्य हो सकता है।** केवल औदयिक क्रियायें बंध का कारण नहीं हैं बल्कि **उन्हें सम्बल देनेवाले मोह-राग-द्वेष ही बंधक होते है।** तीर्थंकर अर्हन्तों की दिव्यध्वनि, विहारादि क्रियायें पुण्य के उदय में होनेवाली औदयिक क्रियायें हैं, पर **मोहनीय कर्म के अभाव में वे बंधक नहीं है।**[२८४]

अतः **पुण्य को हेय कहने का उद्देश स्पष्ट हो जाना चाहिये। यह कभी नहीं कहा कि पुण्य छोडो व पाप से जुडो। यह तो निश्चयाभासी या केवल निश्चयावलम्बी मिथ्यात्वी की वृत्ति हुई, जो**

---

२८४ - प्रवचनसार गा. ४५ की तात्पर्यवृत्ति टीका

नरक को ले जानेवाली हुई। सच्चे जिनभक्त को यह अमान्य है।

क्या पाप को हेय कहनेवालों ने पाप सर्वथा छोडा है? यदि नहीं छोडा तो पुण्य को हेय कहनेवालों को वे दोष क्यों देते हैं? इसलिये **पुण्य को हेय ही मानिये, पर पुण्य का आश्रय छोड़ शुद्धोपयोग में आने हेतु** पुण्य भाव में अवश्य आइये। यही द्रव्यानुयोग का गुरुमंत्र है। उसे अवश्य ध्यान में रखिये।

प्रश्न क्र. ४ - क्या व्यवहारनय का विषय सर्वथा असत्य या अभूतार्थ या अप्रयोजनीय है?

उत्तर - व्यवहारनय का विषय पर्याय या संयोग आदि होने से वह केवल जानने हेतु प्रयोजनभूत है, सत्य है, क्योंकि उसका अस्तित्व है, उसका अभाव नहीं है। व्यवहार नय जानने हेतु भूतार्थ, सत्यार्थ होते हुए भी उसका विषय अनित्य व अशरणभूत हैं। इसलिये केवल उसे अपना प्रयोजन साधनेवाला न होने से असत्यार्थ, अभूतार्थ, अप्रयोजनभूत कहा है, क्योंकि **दृष्टि हेतु ध्रुवकारणपरमात्मा ही सत्यार्थ, भूतार्थ प्रयोजनभूत है।**

वर्तमान अवस्थारूप वस्तुस्थिति क्षणिक होती है, वह तो अस्थायी पता होने से वह विश्वसनीय नहीं है। विश्वसनीय तो वही स्थायी पता होता है, जो जीव का त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वभाव है तथा कारणपरमात्मास्वरूप है। वही सच्ची वस्तुस्थिति है। यही निश्चयनय का विषय है। जैसे घी के डिब्बे में रखा घी ही उपभोग्य है, ऊपर का डिब्बा नहीं, उसीतरह कारणपरमात्मास्वरूप ज्ञायकस्वभाव ही सदैव उपभोग्य है, संयोगों द्वारा पहचानी गई वस्तु उसरूप से अस्थायी होने से उपभोग्य नहीं है, वह ध्येय न होने से ध्यान का विषय हो नहीं सकती।

इसतरह व्यवहारनय का विषय निश्चयनय के विषय का प्रतिपादक है, संरक्षक है, उसे समझने हेतु मार्गदर्शक या दिशानिर्देशक है। हम यदि दिशानिर्देशक को ही इष्ट वस्तु मान कर उसे पकड़े बैठे रहे, तो इष्ट-प्राप्ति असंभव ही समझो।

जैसे नौका से समुद्र पार कर सकते हैं, फिर भी यदि नौका को ही परमोपकारी समझ लिया और उसी को ही पकड़ कर बैठे रहे, तो समुद्र के पार पहुंचना असम्भव है। इसी तरह शुद्धोपयोग के साधकरूप व्यवहारनय के जो विषय है ऐसे व्रतादि शुभोपयोग को ही ध्येय मान लिया, तो शुद्धोपयोग मिलने से रहा। शुद्धोपयोग की प्राप्ति होने पर शुभोपयोग की कीमत शून्य हो जाती है, उसकी उपयोगिता खत्म हो जाने से उसका त्याग साधक को सहज में ही हो जाता है। इसी को कहते है व्यवहारनय की अभूतार्थता, असत्यार्थता, अप्रयोजनीयता। यह उद्धरण भी देखें -

व्यवहरणनयः स्यात् यद्यपि प्राक् पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित्।।[२८५]

अर्थ - **अरेरे! व्यवहारनय तो पूर्वपद में (कार्य की सिद्धि होने तक) हस्तावलम्बनरूप से आधार है** परन्तु अन्तरंग में पर से विरहित परमपदार्थ को केवल चैतन्यचमत्काररूप से देखनेवाले को वह किसी भी अंश से काम का नहीं है (अर्थात् अप्रयोजनभूत है।)

भेदरूप या संयोगी अवस्थारूप व्यवहारनय का विषय सविकल्प अवस्था में भूतार्थ है। पर परमसमाधि के काल में अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। अनुभवने योग्य भूतार्थ केवल निजध्रुवात्मा ही है, वही दृष्टि का विषय है, शेष सभी विषय अभूतार्थ है। यहां वस्तुस्थिति है, इसमें शंका को कोई स्थान ही नही है। इस विषय को पहले ही निश्चयनय-व्यवहारनय मैत्री प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।[२८६]

इस विषय में यह भी ध्यान देनेयोग्य है कि नय और प्रमाण यह जानने के साधन है। **प्रमाणनयैरधिगमः।** [२८७] इसलिये व्यवहारनय साधन

---

२८५ - समयसार कलश ५ तत्त्वप्रदीपिका

२८६ - निश्चयनय व्यवहारनय मैत्री प्रकरण क्र. ४ तथा समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा १३ टीका

२८७.- तत्त्वार्थसूत्र अ. १. सूत्र ६

होने से उसका विषय असत्य नहीं है। व्यवहारनय यह एक पक्ष है और निश्चयनय दूसरा पक्ष है। वस्तु को तौलना हो तो दोनों पलडे चाहिये। इसी तरह वस्तु, चाहे वह आत्मा हो, रत्नत्रय हो, तप हो, व्रत हो, सिद्धपद हो, अर्हन्तपद हो, चारित्र हो, सम्यग्दर्शन हो या मोक्षमार्ग हो, उसे सम्यक् जानने हेतु अनेकान्त दृष्टि से **स्यात् मुद्रा से अंकित प्रमाण व नय होने चाहिये।** जब दोनों नयों से ज्ञान वस्तु की जानकारी प्राप्त करेगा, तभी वह निर्णय कर पायेगा कि इन में से निश्चयनय वा व्यवहारनय का कौन सा विषय मोक्ष के लिये प्रयोजनभूत है और कौन सा नहीं। ज्ञान निश्चयनय के विषय को ही प्राथमिकता देकर उसे ही प्रयोजनभूतरूप से निश्चित या निर्णीत करता है, तब श्रद्धा भी उसे ही न्यायाधीश जैसी स्वीकारती है व चारित्र उसे अपना कर उसी में रमने का प्रयत्न करता है। ज्ञान का कार्य वादी-प्रतिवादीरूप से दोनों पक्षों को प्रस्तुत करना है, उस मन्थन में से निकला मक्खन श्रद्धा स्वीकारती है, उसी समय करणलब्धि में सम्यक्त्व आता है **अर्थात् जिसमें ऐसा स्वीकार हुआ, उस निश्चयनय का विषय ही दृष्टि में प्रयोजनभूत, सत्यार्थ या भूतार्थ है। शेष सभी भेद व संयोग अध्रुव और अशरण होने से केवल दृष्टि में अभूतार्थ, असत्यार्थ व अप्रयोजनभूत है, जानने हेतु नहीं।**

इस विवेचन से यह विषय स्पष्ट होना चाहिये। **ज्ञान में दोनों नय जानने हेतु स्वीकार्य हैं, हेय नहीं है।** कोई ऐसा कहते हैं कि व्यवहारनय से **जीव पर का कुछ हित कर सकता है, पर निश्चयनय से नहीं।** किन्तु विषय में ऐसा कोई वस्तुभेद या कालभेद नहीं है। **दोनों नयों का विषय एक ही वस्तु होती है,** पर दोनों की कथन पद्धति में, ज्ञान पद्धति में अन्तर है। हाँ, इतना अवश्य है कि दृष्टि में निश्चय नय के विषय की ही स्वीकार्यता है, जो त्रिकाली है। व्यवहारनय के विषय को अभिप्राय या दृष्टि में कोई स्थान नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। **यही अध्यात्मभाषा का आशय है।**

जेसे मोक्षमार्ग तो एक ही है, दो नहीं है। निश्चयमोक्षमार्ग आत्माश्रित है व व्यवहारमोक्षमार्ग पराश्रित व पर्यायाश्रित है। दोनों एकक्षेत्रावगाही तथा एकसमयावच्छिन्न होने से यह भ्रम पैदा होता है कि निश्चयनय की विषयवस्तु भिन्न व व्यवहारनय की विषयवस्तु भिन्न होती है पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तु दो नहीं है उसे समझानेवाली भाषायें दो हैं।

इस विषय में मोक्षमार्गप्रकाशक का विवेचन देखिये - **व्रतादिक के ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग हो, वह अपने आश्रित है, उसका आप कर्ता है। इसलिये उस में कर्तृत्वबुद्धि भी मानना और ममत्व भी करना, परन्तु इसं शुभोपयोग को बंध का ही कारण जानना, मोक्ष का कारण नहीं जानना, क्योंकि बंध और मोक्ष के प्रतिपक्षीपना है। इस लिये एक ही भाव पुण्यबंध का भी कारण है और मोक्ष का भी कारण है ऐसा मानना भ्रम है।** [२८८]

इसलिये साधु के नग्नता आदि अट्ठावीस मूलगुण यह द्रव्यलिंग है। यह व्यवहारनय का विषय है व मूर्च्छा, आरम्भ आदि से रहितता उपयोगशुद्धि अर्थात शुद्धोपयोग व योगशुद्धि अर्थात शुद्धयोग ऐसा पर की अपेक्षा से रहित लिंग ही साधु का निश्चयनय का विषय होनेवाला भावलिंग है। वह **भावलिंग ही मोक्ष का कारण है।**[२८९] इन दोनों लिंगों से सहित एक ही साधु होता है। यही स्थिति सर्वत्र निश्चय व्यवहार में लगानी चाहिये।

अतः न तो निश्चयनय की आँख फोडनी चाहिये और न व्यवहारनय की। दोनों आँखें व्यवस्थित संभालिये, तो ही सम्यग्दर्शन होगा। **निश्चयनय से भी आत्मवस्तु पूर्ण ही है, उसे देखने का कार्य शुद्धोपयोग करता है और व्यवहारनय से भी वस्तु पूर्ण ही है, उसे देखने का कार्य शुभोपयोग व अशुभोपयोग इन दोनों रूप अशुद्धोपयोग करता है, इतना ही। दोनों आंखों से यथास्थित देखिये और प्रयोजनभूत को स्वीकार कर अपना प्रयोजन सिद्ध कीजिये।**

---

२८८ - मोक्षमार्गप्रकाशक अ. ७ पृ.२५५ २८९ - प्रवचनसार गाथा २०५-२०६ और टीका

प्रश्न क्रमांक ५ - क्या चौथे गुणस्थानवर्ती मोक्षमार्गी है?

उत्तर - यह भी पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि चौथे गुणस्थान में भी सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्चारित्र का अस्तित्व सिद्ध ही है तथा वह चारित्र सम्यक्त्वाचरणरूप, दर्शनाचाररूप, दर्शनाराधनारूप **स्वरूपाचरण चारित्र** ही है। इसलिये वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित चारित्रवान होनेसे पूर्ण मोक्षमार्गी है। जघन्य अन्तरात्मा है, इस में किसी को शंका नहीं होनी चाहिये।

मोक्षमार्गप्रकाशक मे पं टोडरमलजी कहते हैं - पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक जो कषाय के स्थान होते हैं, वे असंयम के ही होते हैं। इस लिये वे कषायों की मन्दता होने पर भी चारित्र नाम नहीं पाते हैं। **यद्यपि कषाय का घटना चारित्र का अंश है**, तथापि जहाँ ऐसा कषाय का घटना हो, जिस से श्रावकधर्म या मुनिधर्म का अंगीकार हो, **वही चारित्र नाम पाता है।** यह अपेक्षा सर्वत्र लगानी चाहिये। **तथापि नाम न दे सकने पर भी सम्यक्चारित्र का निषेध नहीं है। वहाँ मिथ्याचारित्र है. ऐसा कहना भी आगम-सम्मत नहीं है। हाँ, संयमरूप चारित्र नहीं है, इतना ही। अतः चौथे गुणस्थानवर्ती भी निश्चयतः वास्तविक रूप से मोक्षमार्गी है ही।**[२९०]

प्रश्न क्रमांक ६ - क्या समयसारादि द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ पढे बिना सम्यक्त्व शक्य नहीं?

उत्तर - जिनवाणी पढना या न पढ़ना यह प्रमुख विषय नहीं है पर मुख्य विषय यही है कि क्या देशनालब्धि के बिना सम्यग्दर्शन हो सकता है? चौथे काल में समयसारादि ग्रन्थ नहीं थे, भगवान महावीर के जीव ने सिंह की पर्याय में कोई ग्रन्थ पढा नहीं था, पर उसे सम्यग्दर्शन हुआ था। वास्तविक तो उसने देशना सुनी, गुनी और अपनाई। भगवान के ॐ कार ध्वनि से भव्यों ने जो देशना पाई, वह देशना **चारों अनुयोगों से पूर्ण थी,**

२९० - मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार ९

अकेले अनुयोगवाली नहीं थी। गणधरों ने उसे चारों अनुयोगों में विभक्त किया। इस काल में वही दिव्य देशना हमें आचार्यादि की कृपा से लिखित रूप में उपलब्ध है। **इसलिये द्रव्यानुयोग भी उसी देशना का एक अंग है। इस देशनालब्धि के बिना प्रायोग्यलब्धि व उसके बिना करणलब्धि शक्य नहीं तथा करणलब्धि के बिना चारित्रमोहनीय की सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय वा क्षयोपशम शक्य नहीं व उसके बिना सम्यग्दर्शन शक्य नहीं है।** वह देशनालब्धि भी चारों अनुयोगोंमय थी और भव्यों को सहज समझती थी। चारों अनुयोग देशनालब्धि के ही अंग होने से उन प्रत्येक का केंद्रबिन्दु आत्मा ही है और लक्ष्य वीतरागता ही है, उसे समझने हेतु ही सभी प्रयास होने चाहिये।

एक भ्रम यह है कि **हम तो अल्पज्ञ हैं, हम प्रथम कक्षा के लायक हैं और द्रव्यानुयोग तो स्नातक के ग्रन्थ हैं, उन्हें हम कैसे समझ सकते हैं?** समयसार तो मुनिराज जैसे स्नातकों के काम का और उन्हें ही समझने योग्य ग्रन्थ है। हम तो प्रथमानुयोग के लायक ही हैं, ऐसी अनास्था रूप धारणा धर्म के विषय में पहले से ही विद्यमान है और उसे त्यागीगणों व विद्वानों द्वारा पुष्ट भी किया जा रहा है, जैसे वेदों का पढने का एकाधिकार ब्राह्मणों का ही है, दूसरों को नहीं है, ऐसी धारणा ब्राह्मण पण्डितों ने सामान्यजनों में दृढ कराई थी, उसी प्रकार समयसारादि द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ मुनियों के लिये आरक्षित से कर दिये गये से हैं।

पण्डित श्री **टोडरमलजी आदि** ने इस मान्यता से हट कर स्वयं ने श्रवणबेलगोला आदि स्थानों से करणानुयोग, द्रव्यानुयोगादि के ग्रन्थ बुला कर स्वयं अध्ययन किया और अन्यों को कराया। बाद में **श्रीमद् राजचंद्रजी** को समयसार की प्रति किसी ने भेंट की, तब उन्होंने अंजुलि भर हीरे समयसार लानेवाले को देकर उसका महत्त्व बढाया तथा आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री **कानजीस्वामीजी ने** तो उसे पुनरुज्जीवित कर उन ग्रंथों का भी मर्म अपने ५० वर्षों के प्रवचनों द्वारा करा कर लाखों लोगों को सम्यग्दर्शन

की प्राप्ति के उपाय व फल स्वरूप मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराया। उससे लोगों के समझ में आने लगा कि सभी अनुयोगों में सहज समझने में सुलभ निजात्मतत्त्व है और वह द्रव्यानुयोग का विषय है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में द्रव्यानुयोग का स्वरूप समझाते हुए आ. श्री समंतभद्रजी कहते हैं कि **जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च। द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।**[२९१] अर्थ - जीव और अजीव यह दो सुतत्त्व तथा पुण्य व पाप, बंध तथा मोक्ष (उसके कारण संवर और निर्जरा भी) इसतरह नव पदार्थ जिसका विषय है, वह **द्रव्यानुयोगरूपी दीपक श्रुतविद्या के आलोक को याने सम्यक् ज्ञान को प्रकाशित करता है। शेष तीनों अनुयोग तो परप्रकाशित हैं अर्थात् द्रव्यानुयोग से प्रकाशित सम्यग्ज्ञान द्वारा ही जाने जाते हैं।** इसका विस्तृत वर्णन इसी ग्रन्थ में पहले आ चुका है, वहाँ से कृपया देख लें। समयसार ग्रन्थ दृष्टि का विषय निश्चित करता है, प्रवचनसार ग्रन्थ ज्ञान का विषय निश्चित कर ज्ञान के आधार से चरणानुयोग का पालन किस तरह होता है, इसका विषय निश्चित करता है तथा नियमसार व्यवहार व निश्चय चारित्र को ही समर्पित है।

यह सभी ग्रन्थ रत्नत्रय के जनक हैं तथा सात तत्त्व और नव पदार्थों का ज्ञान करा कर स्व और पर का भेद ज्ञान कराते है, जिसके बिना सम्यग्दर्शन शक्य ही नहीं है। इन तीनों ग्रन्थों में निश्चय नय की प्रधानता से ही वर्णन है किन्तु उन्होंने व्यवहार नय को तिलांजलि दे दी हो ऐसी बात नहीं है, **बल्कि उनके विषय को गौणरूप से उनमें स्पष्ट किया है। यही द्रव्यानुयोग का परमोपकार है।**

वास्तव में समयसार आदि ग्रन्थ अपनी व पर की पहचान करानेवाले होने से उनको समझना सहज शक्य है। इसतरह स्व व पर की पहचान किये बिना करणानुयोग का विषय जीव से अर्थात् मुझ से

---

२९१ - रत्नकरंडश्रावकाचार ४७

सम्बंधित शरीरादि व कर्मादि का मुझ से सम्बंध कैसा है, यह कैसे समझ में आयेगा? तथा मैं करणानुयोग द्वारा सुझाये गये सम्बंधियों से कैसे आचरण करूँ, इस चरणानुयोग के विषय का आंकलन कैसे किया जा सकेगा? और प्रथमानुयोग का विषय ही पुराणपुरुषों के चरित्र है, जो तीनों अनुयोगों के दृष्टान्तस्वरूप है। उन तीनों को समझे बिना दृष्टान्त कैसे समझ में आयेंगे? फिर धर्म भी कैसे समझना शक्य होगा?

इसी लिये द्रव्यानुयोगरूपी दीपक के प्रकाश में ही हमें तीनों अनुयोगों के विषय समझने होंगे, अन्यथा चारों अनुयोग परस्परापेक्षी होने से व एकही जिनवाणी के अंग होने से उनका अध्ययन भी सन्तुलित नहीं होगा, एकांगी होगा, क्योंकि **धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है,**[२९२] तथा **चारित्र ही सच्चा धर्म है,**[२९३] अथवा **चारित्र ही स्वधर्म है, वह स्वधर्म है आत्मसमताभाव। (चरणं हवइ सधम्मो, धम्मो सो होइ अप्पसमभावो।...)**[२९४] । इन दोनों का पोषण ज्ञान करता है और ध्यानरूप से उन दोनों का सारथ्य करता है

समवसरण में सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव बैठते थे। सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग में प्रवीणता प्राप्त करते जाते थे व मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि बनने का उद्यम करते थे। हां, उसमें अभव्य व हठी एकान्ती संदेहयुक्त मिथ्यात्वी नही जा सकते थे। **(मिच्छाईट्ठि अभव्वा तेसुमसण्णी ण होइ कइआई। तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा।।)**[२९४अ] वास्तविक मुनियों ने रत्नत्रय में प्रवीणता प्राप्त की होती है।

निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना केवल नाटकस्वरूप होता है व गुणस्थान पहला ही रहता है। मुनियों को तो वास्तविक द्रव्यानुयोग की आवश्यकता ही नहीं है, तो भी मुनि आगमचक्षु होते हैं। **आगमचक्खू साहू।** (प्रवचनसार गाथा २३४) इसलिये द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ भी वे पढ़ते ही है व अपने अनुभवानन्द को उसके निकषों पर कसते भी है। आगम की आवश्यकता तो रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु अत्यावश्यक है क्योंकि उसके बिना

२९२ - दर्शनपाहुड गाथा ३
२९३ - प्रवचनसार गाथा ७
२९४ - मोक्षपाहुड गाथा ५०
२९४ अ - तिलोयपण्णत्ति अ ४ गा. ९३२

चौथा गुणस्थान भी नहीं आता। मुनिराज इसे अवश्य पढें व दूसरों को समझायें, इस से अनेक भव्यों का कल्याण होगा। वे कृपया उन्हें पढने से न रोके।

इतना अवश्य है कि द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहारधर्म का हीनपना प्रगट किया है। सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है, इत्यादि सुन कर जीव स्वच्छन्द हो जायेंगे व पाप में प्रवर्तेंगे, इसलिये द्रव्यानुयोग का पढना, सुनना योग्य नहीं है, ऐसा कहनेवाले को कहते हैं कि **जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये तो मनुष्य तो मिश्री खाना छोड़ नहीं देंगे। ..... जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होनेपर होता है। वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करनेपर (वह दीपक होने से) होता है, इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण कर के व्रती हो। इस प्रकार निचली दशा में ही मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने, उसे पहले किसी व्रतादिक का उपदेश देते हैं। ऊंची दशावाले को अध्यात्म अभ्यास करना योग्य है, ऐसा जान कर निचली अवस्थावाले को वहाँ से पराङमुख तो नहीं करना चाहिये।**[२९४ब]

यहाँ कोई कहते हैं कि नैसर्गिक (निसर्गज) सम्यग्दर्शन व अधिगमज सम्यग्दर्शन ऐसे सम्यग्दर्शन के दो भेद कारणों की अपेक्षा से होने से नैसर्गिक सम्यग्दर्शन हेतु समयसारादि ग्रन्थों का पढना आवश्यक नहीं है। बिना देशना के भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, ऐसा आगमवचन है - **तन्निसर्गादधिगमाद्वा।**[२९५] **अर्थ** - वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से व अधिगम से उत्पन्न होता है।

प्रश्न - निसर्गज सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेश के विना भी होता है। उसे

२९४ ब - मोक्षमार्गप्रकाशक अ. ८ पृ २९२-२९३ (द्रव्यानुयोग में दोषकल्पना का निवारण.
२९५ - सर्वार्थसिद्धि अ. १ सू. ३

देशना आवश्यक नहीं है। इसलिये भी द्रव्यानुयोग आवश्यक नहीं है।

उत्तर - ऐसा यदि माना जाये तो देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि व करणलब्धि बेकार हो जायेगी। इस हेतु सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक ग्रन्थ की टीकायें देखें। उनके उद्धरण यहाँ दे रहा हूँ।

१. सम्यक्त्व होनेमें दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम अन्तरंग हेतु है व जिनबिम्बदर्शन देशना आदि बाह्य हेतु हैं। उस दर्शनमोहनीय का उपशम आदि होने से बाह्य उपदेश के बिना जो उत्पन्न होता है वह निसर्गज है। **(उभयत्र तुल्ये अंतरंगहेतौ बाह्योपदेशापेक्षानपेक्षाभेदात् भेदः)।।५।। उभयत्र दर्शने अंतरंगो हेतुस्तुल्यः। दर्शनमोहस्य उपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। तस्मिन् सति यत् बाह्योपदेशात् ऋते संभवति तत् नैसर्गिकम्।**[२९६] अर्थ - निसर्गज सम्यग्दर्शन व अधिगमज सम्यग्दर्शन दोनों में अन्तरंग हेतु दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय व क्षयोपशम यह समान है। इसके होते हुए जो बाह्य उपदेश के बिना होता है, वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।

इस पर से सिद्ध है कि नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी दर्शनमोहनीय के उपशमादि होने पर ही होता है अर्थात् पहले सम्यग्दर्शन था, उसका अभाव हो गया, तो जिनबिम्बदर्शन आदि कारणों से उपदेश की अपेक्षा बिना ही उपजनेवाला सम्यग्दर्शन निसर्गज है। सर्वार्थसिद्धि में भी इसतरह का उद्धरण है। अतः देशना के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति माननेवालों को इस दृष्टिकोण को सामने रखना चाहिये और अनादि-मिथ्यादृष्टि को प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति मे देशना का महत्त्व अवश्य बताना चाहिये।

इस समय समयसार की महिमा बढानेवाले महानुभाव श्रावकगण परमपूज्य मुनिराजों के अभाव में अभी २५०-३०० वर्षों में हो गये, उनमें **श्री पण्डित जयचंदजी छाबडा है**, जिन्होंने समयसार की भाषा वचनिका लिखकर समयसार ग्रन्थ समझने में समाज को सुविधा प्रदान की। इन्होंने

---

२९६. राजवार्तिक अ. १.सू. ३ वार्तिक ५

सोलह महान ग्रन्थों की वचनिकायें लिखकर समाज पर महान उपकार किया। (समयसार अगास प्रकाशन की प्रस्तावना)। **इसीतरह श्री पं. राजमलजी ने समयसारकलश की वचनिका लिखी। पण्डित बनारसीदासजी ने भी नाटकसमयसार के रूप में** काव्यात्मशैली में इस ग्रन्थराज को प्रस्तुत कर समाज को अतिशय उपकृत किया। **श्रीमद् राजचंद्रजी** ने भी इसका अध्ययन किया। **आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीजी ने तो इसपर लगातार पचास वर्षों तक प्रवचनों की वृष्टि कर लोगों में स्वाध्याय की रुचि जगाकर सही दृष्टि दी। ये सभी श्रावकगण ही थे।**

इस बीसवीं सदी के प्रथम परमपूज्य आचार्य शान्तिसागरजी ने भी इसका अध्ययन किया। **परमपूज्य ज्ञानसागरजी महाराज** ने भी इसकी जयसेन टीका का हिन्दी अनुवाद कर लोगों को विषय स्पष्ट समझने में सहायता की। **परमपूज्य वीरसागरजी महाराज सोलापुर** ने भी इस ग्रन्थ की जयसेनीय टीका का मर्म उसके अनुवाद तथा सैंकड़ो विविध सारणियों द्वारा खोलकर सरलता से सामने रख दिया। **पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीजी** ने तो इसे अपने हाथ से पूरा लिखकर कण्ठस्थ किया और **श्री क्षुल्लक सहजानन्द जी वर्णीजी** ने इसपर लगातार प्रवचन किये व सप्तदशांगी टीका लिखकर विषय सर्वजन सुलभ किया। वे सभी प्रवचन छप चुके है। दोनों क्षुल्लकगण भी श्रावक ही थे।

अबतक जो ग्रन्थ संस्कृतादि साहित्यिक भाषाओं में थे, उन्हें लोकभाषा में लाकर सर्वसुलभ कराने का श्रेय इन परमोपकारी महानुभावों को जाता है। **वर्तमान में आचार्यश्री विद्यासागरजी** ने भी इस ग्रन्थपर प्रवचन किये है व उसे जीवन में उतारा है। **वर्तमान में ख्यातिप्राप्त विद्वान डाक्टर हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर** ने तो इस **समयसार ग्रन्थ का अनुशीलन** पांच भागों में लिखकर उपलब्ध सभी टीकाओं का निष्पक्ष परामर्श लिया है व लोगों को विषय सुगमता से समझनेयोग्य बना दिया है। वे सभी गृहस्थ

महानुभाव तथा मुनिराज भी परमोपकारी हुए हैं, इसका हमें गौरव है।

अभी अनेक विद्यार्थीगण जयपुर के **टोडरमल स्मारक** में तथा सांगानेर के **श्रमणसंस्कृति संस्थान** में समयसारादि का अध्ययन कर रहै हैं। इससे शिथिलाचार का पोषण होनेकी आशंका निर्मूल है।

अतः ऐसे समयसारादि ग्रन्थों का अध्ययन कर सभी सम्यग्दर्शन के साथ मोक्षमार्ग मे लगें, यह भावना भाता हूँ।

प्रश्न क्रमांक ७ - जिनबिम्बदर्शन से सम्यक्त्व होना आगम में विहित है, वह देशनारहित निसर्गज सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहने में क्या आपत्ति है। फिर जिनबिम्बदर्शन ही करेंगे, समयसारादि ग्रन्थों को पढने की क्या आवश्यकता?

उत्तर - यह भी आपका कथन ठीक है, फिर जिनबिम्बदर्शन किस तरह करना चाहिये, इसकी विधि भी तो अपनाइये। इसकी विधि प्रवचनसार की गाथा क्रमांक ८० में दी है। वह गाथा ऐसी है -

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु तस्स जादि लयं।।

अर्थ - जो अर्हन्त को द्रव्य से, गुण से व पर्याय से जानता है, वह स्वयं को जानता है और उसका मोह विनष्ट होता है।

यही जिनबिम्बदर्शन द्वारा दर्शनमोहनीय के उपशमादि की विधि है। उसी से दर्शनमोहनीय के उपशमादि होते हैं। इसे उदाहरण से समझें - जिसे अपना मुख देखना हो, उसे दर्पण के बिना निज मुख-दर्शन असम्भव है। दर्पण को ही बिम्ब भी कहते हैं। इसी तरह **अपने सही स्वरूप का प्रतिबिम्ब देखने हेतु जिनबिम्ब या जिनप्रतिमादर्पण में अपना स्वरूप निहारना होगा, तभी जिन भगवान के जिनबिम्ब में देखेंगे, तो पायेंगे कि द्रव्यरूप से तो वे अनादि-अनन्त जीव द्रव्य ही है, वैसा ही मैं भी अनादि-अनन्त शुद्ध जीव द्रव्य ही हूं।**

गुणरूप से वे ज्ञानादि अनन्त गुणों के पिण्ड हैं। मैं भी अनादि

काल स अभी भी गुणरूप से उन जैसा ही अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ तथा मैं अनन्त काल तक वैसा ही अनन्त गुणों का पिण्ड ही रहूंगा।

पर्यायरूप से वे कर्ममल से सर्वथा मुक्त हो गये हैं, शुद्ध हो गये हैं परन्तु पर्यायरूप से मैं अनादि काल से अब तक अशुद्ध व कर्मबद्ध ही हूँ। इस तरह से देखने पर सहज रीति से अर्हन्त भगवान के जिनबिम्ब में से द्रव्य और गुणों से अपनी समानता जानने पर जो आनन्द होगा, वह अवर्णनीय होगा, परन्तु उसी समय उनसे पर्यायरूप से जो भिन्नता है, उस का भी ध्यान आयेगा ही, तब वह उसका कारण खोजेगा और मैं ही मेरे अपराधों से अशुद्ध, कर्मबद्ध, अमुक्त तथा दुखी हूँ, मुझे भगवान जैसे ही अपने मोह-राग-द्वेषरूपी अपराधों को रोकना होगा।

भगवान ने भी **वीतराग-विज्ञानतारूप साधन से** अपने ध्यान में निज शुद्ध-ज्ञान-दर्शनानन्दस्वभावी निजात्मा का आश्रय दृढता से ले कर ही अपनी शुद्धि की थी और उसी से वे भवपार हो गये, यह जान कर मुझे भी वैसे ही उसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी मोक्षमार्ग से मार्गक्रमण करना होगा, तभी मैं भी अल्पकाल में पूर्ण मोह का क्षय कर भगवान बनूंगा। तभी नाम-जैन से द्रव्य तथा भाव जैन बनूंगा व मोक्षमार्गी बनकर **जिन का सच्चा अनुयायी जैन कहलाऊंगा! यही सही जिनबिम्बदर्शन का फल है।**

अन्यथा जिनमंदीरजी में तीन बार हर रोज मस्तक नँवाया, पूजा बोली, अर्घ्यादि चढायें, मालायें फेरी, सामायिकादि पाठ बोले व घर निकल गये। इन सब का परिणाम तो शून्य ही रहा क्योंकि उपर्युक्त विधि नहीं अपनायी। यह सब जिन भगवान की वाणी न सुनने से ही तो हुआ। सही दर्शन तो उन्हें उपर्युक्त विधि से जिन भगवान को देखने पर ही हो सकता है।

हम मंदिरजी में जाते हैं, उस समय यदि हम उपर्युक्त विधि से दर्शन करें और भगवान को द्रव्य, गुण व पर्याय रूप से अन्तरंग से देखें, तब भगवान आप से बोलते नजर आयेंगे। यह मालूम होगा कि वे अकेले हैं, वे स्वभाव में पूर्णरूप से निमग्न हैं, मानो वे भक्त से कहते हैं कि -

१. **मुझे मत देखो, मैं मुझे ही देख रहा हूं,** तुम भी तुम्हें ही देखो। **तुम ही तो भगवान हो मेरे जैसे।** तुम ही तो प्रभु हो मेरे जैसे। तुम अपने शाश्वत ध्रुव निजकारणपरमात्मारूप भगवानस्वरूप को देखो।

२. मैंने मेरे बाहर में कर्ताभाव में रमते हुए दोनों हाथों को एक पर दूसरा रखकर बाहर में **परद्रव्यों में कर्तापना बन्द किया।** तुम भी मेरे शिष्य हो, **तो कूदो अपने ही ज्ञायक स्वरूप के मैदान में और बन्द कर दो सभी पर में कर्तापना का भाव।**

३. मैंने मेरे **पांव** भी पद्मासन में बांधकर रखे हैं और सभी भटकन बन्द कर दी है उसीसे मैं भवसागर से पार हो गया हूं, सभी **भोक्तापना छूट गया है।** तुम भी वैसा ही करो, **पर में सुख की खोज में भटकना बन्द करो, तो तुम भी स्वयं को सुखी पाओगे,** अनन्तसुख का अनुभव करोगे, उसी क्षण तुम्हारा दर्शनमोह छूमन्तर हो जायेगा, मोक्षमार्ग प्रकट हो जायेगा, शुद्धोपयोग आ कर मिथ्यात्व को भगायेगा। यही जिनबिम्बदर्शन से हुआ निसर्गज सम्यग्दर्शन है। भगवान से भक्त ने यही उपदेश तो परोक्षरूप से पाया, यही तो देशना है, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो?

चौथे काल में समयसारादि ग्रन्थ नहीं थे, पर उस समय समवसरण में प्रत्यक्ष भगवान या ज्ञानी परमतपस्वी गुरु विद्यमान रहते ही थे, इस लिये उस समय ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं था। किन्तु अब तो साधु को भी **आगमचक्षु** कहा है। (प्रवचनसार गाथा २३४) इसलिये जिनबिम्बदर्शन भी एक तरह से विचार करने पर वह **मूक देशना** ही है। वही तो **रूपस्थ ध्यान** भी है, वह प्रत्यक्ष न होते हुए परोक्ष है, इतना ही। इस काल में तो जिनबिम्ब को समझने हेतु भी **आगमाभ्यास ही आवश्यक है,** इस स्वाध्याय से ही देव व गुरु समझ में आयेंगे, तभी देवपूजा व गुरूपास्ति समझ में आयेगी व संयम, तप, दानादि का स्वरूप व मुनि का स्वरूप समझ में आयेगा तथा व्यवहार मोक्षमार्ग भी समझ में आयेगा।

अतः व्यर्थ तर्क-वितर्क छोड़ आगमाभ्यास के द्वारा ही धर्ममार्ग में प्रवृत्त

होना, यही न्यायसंगत है। आगम चार अनुयोगों से सहित है और द्रव्यानुयोग ही एक ऐसा अनुयोग है, जो शेष तीनों अनुयोगों को दीपक की तरह प्रकाशित करनेवाला होता है, वैसे ही वह स्वयं को भी प्रकाशित करता रहता है। उसके प्रकाशन हेतु अन्य अनुयोग की आवश्यकता नहीं है। अतः श्रावकों को समयसारादि ग्रंथों के पठन-पाठन का निषेध करना संयुक्तिक नहीं है।

प्रश्न क्रमांक ८ - क्या शुभोपयोग से शुभास्रव ही होता है या निर्जरा भी?

उत्तर - एक पक्ष जिनागम से सम्बंधित धवलाकार का पक्ष है। इस में पूज्यवर आ. श्री वीरसेन स्वामीजी ने धर्मध्यान की सत्ता दसवें गुणस्थान तक मानी है, बाद में ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थान में छद्मस्थ को शुक्लध्यान माना है। पर इससे उन्होंने शुभोपयोग से निर्जरा मानी हो तो सातवें गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग सिद्ध नहीं होता। उनकी अपेक्षा पूर्णता की है। वास्तव में सम्यक्त्वी को मुख्यरूप से शुभोपयोग ही होता है तथा मिथ्यात्वी को अशुभोपयोग ही। फिर भी उसे **पापानुबंधी शुभोपयोग** भी होता है, जिसे आगम में अशुभोपयोग के खाते में डाल दिया गया है। **उसका शुभोपयोग रूढि से धर्म कहलाता है।** देखिये -

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलवृत्तिर्यामनोवृत्तिः सहानया।।[२९७]

अर्थ - रूढि से ही शरीर व वचन की शुभस्वरूप क्रिया वा उनके अनुकूल मन की शुभरूप क्रिया को भी धर्म कहा जाता है। और देखिये -

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।[२९८]

अर्थ - जिनशासन में व्रतसहित पूजा आदि में पुण्य कहा है तथा मोह व क्षोभ से रहित परिणाम ही आत्मा का समता परिणाम है। (वही धर्म है।)

---

२९७ - पंचाध्यायी श्लोक ७१८.

२९८ - भावपाहुड गाथा ८३

इस तरह शुभोपयोग तो वास्तव में धर्म ही नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही आत्मधर्म है। शरीर की, वचन की या मन के विकल्प रूप क्रियाओं को व्यवहारनय से धर्म कहा जाता है किन्तु वे क्रियायें वास्तव में धर्म ही नहीं हैं। वे क्रियायें अन्तरंग धर्म की सहचारिणी होने से उन्हें **व्यवहार से धर्म कहा जाता है।** व्यवहारधर्म तो शुभोपयोगरूप पुण्यभाव है। **यह पुण्यभाव शुभास्रव ही करता है, निर्जरा नहीं कर सकता।**

परमपूज्य वीरसेनस्वामी का उपर्युक्त कथन धर्म्यध्यान के दसवें गुणस्थान तक व बादमें शुक्लध्यान के अस्तित्व के सम्बंध में है, वह मोहनीयकर्म की सत्ता से सम्बंधित है। दसवें गुणस्थान तक कषायों का जो सद्भाव है, वह अशुद्धतारूप औदयिक भाव होने से उन्होंने वहाँ पर शुक्लध्यान नहीं माना है, यह स्पष्ट है।

वास्तविक चौथे से दसवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान का अस्तित्व मिश्र उपयोगरूप है। उस मिश्र उपयोग में शुद्धता व अशुद्धता के अविभागी प्रतिच्छेद एक साथ पाये जाते हैं। **उस उपयोग में जितने अंशों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप शुद्धता है, उतने अंशों में बंधन नहीं है व जितने अंशों में रागादिरूप अशुद्धता है, उतने अंशों में बन्धन है।**[२९९]

इस पर से यह सिद्ध होता है कि चौथे से छठ्वें गुणस्थान तक जितना शुद्धोपयोग है या जितने अंशों मे मोहनीयकर्म के क्षयोपशमादि है, उतने अंशों में संवर तथा निर्जरा है व जितने अंशों में उसी के उदयादि हैं, वे शुभाशुभ रागद्वेष से कर्मबन्ध करने वाले है, इसलिये उतने अंशों में बंधन है। चूंकि चौथे गुणस्थान में दर्शनमोह की तीन व चारित्रमोहनीय की चार इस तरह कुल मिला कर सात प्रकृतियों का व पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण की और चार प्रकृतियाँ मिला कर कुल ग्यारह प्रकृतियों का अभाव होने से उतनी शुद्धता है, इसलिये उतना बन्धन का अभाव है।

---

२९९ - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक क्रमांक २१२ से २१५.

इसी लिये वहाँ उत्पत्ति के समय में असंख्यातगुणी निर्जरा पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा से होती है। शेष इक्कीस या सत्रह प्रकृतियों की सत्ता से अशुद्धता होने से वहाँ बन्धन भी है।[३००] इनमें शुद्ध अंश वीतरागस्वरूप है, जब कि अशुद्ध अंश सरागस्वरूप है। **वीतराग अंश अबंधक है व सराग अंश बंधक है।**

करणानुयोग में सराग या अशुद्धांश को प्रमुखता दी जाती है व द्रव्यानुयोग में वीतराग-शुद्धांश को प्रमुखता दी जाती है। यही इन दो अनुयोगों की दृष्टि में फर्क है। इसी लिये करणानुयोग दसवें गुणस्थान तक अशुद्धांश की प्रमुखता से शुभोपयोग कहता है व वहाँ पर द्रव्यानुयोग शुद्धता की प्रमुखता से उन गुणस्थानों को शुद्धता के नाप से तौलता है। इसीलिये वह द्रव्यानुयोग तो चौथे गुणस्थान में भी उपलब्ध अल्पांश सत्ता के आधार पर शुद्धोपयोग की स्वीकृति देता है, जबकि करणानुयोग वहाँ शुभोपयोग को ही स्वीकारता है। इसी लिये समयसारादि में इसी शुद्धांश के कारण ही चौथे व पांचवें गुणस्थानों में भी उन्हें अबंधक माना गया है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी कहा है कि **रागादिभेदविज्ञाने जाते अपि यावतांशेन रागादिकं अनुभवति तावतांशेन सोऽपि बद्ध्यते एव। तस्यापि रागादि-भेदविज्ञान-फलं नास्ति। यस्तु रागादि-भेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्ति इति ज्ञातव्यं।**[३००अ]

अर्थ - राग आदिक से भेदविज्ञान होने पर भी जितने अंशों से वह रागादिकों का अनुभवन करता है, उतने अंशों से वह बंधता ही है, उसके भी भेदविज्ञान का फल नहीं है। पर रागादि से भेदविज्ञान होने पर जब वह रागादि को त्यागता है, तब उसे भेदविज्ञान का फल है अर्थात् वह बंधता नहीं है।

इस तरह छद्मस्थ मोक्षमार्गी ज्ञानी के चौथे से दसवें गुणस्थान तक मिश्र अर्थात् एकदेश शुद्ध व एकदेश अशुद्ध मिश्रोपयोग होता है। उसमें

---

३०० - राजवार्तिक ९/४७/१. ३०० अ - द्रव्यसंग्रह गाथा ३६ टीका.

वास्तविकरूप से देखा जाय, तो उनमें जितना शुद्धांश है, उतनी संवरपूर्वक निर्जरा होती है और जितना अशुद्धतारूप शुभांश है, वह बंधक ही है। **उन गुणस्थानों में शुद्धांश से होते हुए निर्जरा को देख कर ही वहाँ उपचार से उस शुद्धांश के मित्ररूप जो रागांशरूप अशुद्धता है, उस से भी पाप के संवर-निर्जरा होते हैं, ऐसा कहा जाता है।**

वास्तविकरूप से देखा जाय तो वह संवर या निर्जरा न हो कर पुण्यास्रव ही है, इस बात को जिज्ञासु हृदयंगम कर लें और सावधानता से जिनागम का अभ्यास कर लें, **जिससे दर्शनमोह छूटेगा, मिथ्यात्व हटेगा व सम्यग्दर्शन आ धमकेगा। इस हेतु केवल शुद्ध कारणपरमात्मा को ही विषयरूप से चुनना है।**

प्रश्न क्रमांक ९ - क्या चौथे गुणस्थानवर्ती को प्रतिसमय सम्यग्दृष्टि होने के नाते निर्जरा होती है?

उत्तर - कोई मूलाचार के आधार से कहते हैं कि

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थियण्हाणं चुदच्छिदं कम्म तं तस्स।।[३०१]

अर्थ - अविरत सम्यग्दृष्टि का तप भी हाथी के स्नान जैसा महान फलदायक नहीं होता क्योंकि हाथी स्नान कर बाहर आने पर फिर धूलि से स्वयं को लिप्त कर देता है। इसी श्लोक की टीका में आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि जितने कर्मों की निर्जरा वह करता है, उससे अधिक वह असंयम से कर्म-धूलि से स्वयं को लिप्त कर लेता है।

यह तो सही है, पर यह जो निर्जरा सम्यग्दृष्टि ४३ प्रकृतियों के अभाव में संवरपूर्वक करता है, वह निर्जरा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा असंख्यातगुणी है क्योंकि मिथ्यादृष्टि तो दर्शनमोहनीय व अनन्तानुबंधी कषायों के सद्भाव में केवल सविपाकनिर्जरा ही करता है, उसे ही यहाँ पर हाथी-स्नान से निर्दिष्ट किया है। वहाँ तो संवर होता ही नहीं। जितनी असंख्यातगुणी

---

३०१ - मूलाचार अ. १० गा. ४९ सटीक.

निर्जरा वहाँ वह सम्यग्दृष्टि प्रारम्भ में उस मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से करता है, वैसी ही निर्जरा आगे भी उसी प्रमाण में उसी अपेक्षा से चलती रहती है क्योंकि वहाँ पर सात प्रकृतियों का अनुदय है और ४३ प्रकृतियों का बन्ध नहीं है। पर वह असंयमी होनेसे वह तप भी करे तो भी उतनी निर्जरा नहीं होती, जितनी पांचवें गुणस्थानवर्ती के भोजनादिक की क्रिया में भी दो चौकडी के अभाव में होती है। यही उपर्युक्त उद्धरण से आचार्यश्री स्पष्ट करना चाहते हैं। चौथे गुणस्थान में ही वह सम्यक्त्व-भावना द्वारा अर्थात् आठ अंगों के पालन तथा पचीस दोषों के अभाव आदि द्वारा अपनी विशुद्धि बचाता व बढ़ाता चला जाता है। निम्न उद्धरण इसकी पुष्टि में देखें -

सम्यक्त्वभावनामृत-रसविवर्द्धितविशुद्धिः मिथ्यात्वविघातिवीर्याविर्भावे ..... वेदकसम्यग्दृष्टिर्भवति। ततः प्रशम-संवेगादिमान् जिनेन्द्रभक्ति-प्रवर्द्धितविपुलभावनाविशेषसंचारो..... निराकृतमिथ्यात्वक्षायिक-सम्यग्दृष्टिरिति आख्यायते।[३०२]

अर्थ - सम्यक्त्व में भावना (तन्मयता) के अमृतरस से बढी हुई है विशुद्धता जिसकी, वह मिथ्यात्वनाशक वीर्य के बल से आविर्भूत हो कर ..... वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। बाद में प्रशम संवेगादि से युक्त वह जिनेंद्रभक्ति से जो विपुल भावना में वृद्धि होती है, उसके विशेष संचार से ..... मिथ्यात्व को नष्ट कर वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि असंयमी अव्रती अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय से यद्यपि बहुत कर्म बांधता है व पांचवें गुणस्थानवर्ती से उसकी निर्जरा बहुत अल्प है, फिर भी वह निर्जरा सतत है व वह निर्जरा पहले गुणस्थानवर्ती मुनिव्रतों का पालन करनेवाले घोर तपस्वी मुनिराज से भी असंख्यातगुणी है। जब वह चौथे गुणस्थानवर्ती शुभ-अशुभ उपयोग में होता है, तब भी त्रेतालीस प्रकृतियों के अभाव में उसकी निर्जरा चल ही रही है। इसतरह मिथ्यादृष्टि के

३०२ - राजवार्तिक अ. ९ सू. ४५ टीका.

व्रतपालन करते हुए भी वह असंयमी ही होने से उसकी असंयमपूर्वक होने वाली सविपाकनिर्जरा से **अव्रती सम्यग्दृष्टि की हो रही अविपाकनिर्जरा असंख्यातगुणी ही है।** वहाँ भी वह दर्शनाचार, दर्शनाराधना आदि से सहित ही है, **इसलिये असंयमी होकर भी वह चारित्रवान ही है।** देखिये श्लोकवार्तिक का यह उद्धरण

सम्यग्दर्शनोत्पत्तौ **असंयतसम्यग्दृष्टे** र्मिथ्यादर्शनस्य अपक्षये मिथ्याज्ञानानुपपत्तेः तत्पूर्वकं मिथ्याचारित्राभावात् तन्निबंधनसंसारस्य अपक्षयप्रसिद्धेः।..... न च सम्यग्दृष्टेः मिथ्याचारित्राभावात् संयतत्वं एव स्यात्। न पुनः कदाचित् असंयतत्वं इति आरेका युक्ता चारित्रमोहोदये सति सम्यक्चारित्रस्य अनुपपत्तेः। **कात्स्न्यतो देशतो वा न संयमो नापि मिथ्यासंयमः इति व्याहतमपि न भवति।** ..... न च असंयमात् भेदेन मिथ्यासंयमस्य उपदेशाभावात् अभेदः एव इति युक्तं, तस्य बालतपःशब्देन उपदिष्टत्वात्। ततः कथंचित् भेदसिद्धेः। **न हि चारित्रमोहोदयात् भवत् चारित्रं दर्शनचारित्रमोहोदयजनितात् चारित्रात् अभिन्नं एव इति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः।**[३०३]

अर्थ - सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर असंयतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यादर्शन का अपक्षय होने से उसके द्वारा होनेवाले संसार का अपक्षय वहाँ प्रसिद्ध है।..... सम्यग्दृष्टि के मिथ्याचारित्र का अभाव होने से मिथ्याज्ञान की अनुत्पत्ति है, इसलिये मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति नही है तथा तत्पूर्वक होनेवाले मिथ्याचारित्र का भी अभाव है, **इसलिये उसे उससे होनेवाले संसार का अपक्षय भी प्रसिद्ध ही है। इस लिये वहाँ पर संयतपना होना ही चाहिये ऐसा नहीं है। कदाचित् असंयमपना भी होना ही चाहिये, ऐसा भी नहीं है, ऐसी एक आरेका (मान्यता) है, वह योग्य ही है,** क्योंकि चारित्रमोह का उदय होते हुए सम्यक्चारित्र होता नहीं है। संपूर्णरूप से अथवा एकदेश से वहाँ पर संयम नहीं है, वैसे ही वहाँ पर मिथ्यासंयम

३०३ - श्लोकवार्तिक अ. १ सूत्र १ श्लोक १०५ टीका.

भी नहीं है, यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध ही है, क्योंकि मिथ्या आगमपूर्वक होनेवाले संयम के पंचाग्निसाधन आदि रूप मिथ्यासंयमरूप ही होते हैं व सम्यक् आगमपूर्वक होनेवाला संयम सम्यक् संयम होता है, इसलिये उससे अन्य याने असंयत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व की सत्ता न होने पर भी होनेवाली हिंसा आदि के **असंयमपना ही है**। इस असंयम का मिथ्यासंयम के साथ भेद होने पर भी **उसे मिथ्यासंयम के साथ उपदेश के अभाव में अभेद ही है, यह कहना योग्य नहीं है,** क्योंकि **मिथ्यादृष्टि के मिथ्यासंयम को बालतप शब्द के द्वारा आगम में निर्दिष्ट किया गया है।** इसलिये उनमें कथंचित् भेद भी है। इसतरह कथंचित् भेद की सिद्धि होती है। **केवल चारित्रमोह के उदय में होने वाला (असंयतसम्यग्दृष्टि का) चारित्र अन्य दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले (पहले गुणस्थानवर्ती के) चारित्र से अभिन्न ही है, ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं है, क्योंकि सर्वत्र कारण में भेद होने पर फल अभिन्न अर्थात् एक ही होने का प्रसंग आयेगा।**

और भी देखिये - यह भी स्पष्ट है कि तीनों करणों के अन्तिम समय में वर्तमान विशुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव के जो गुणश्रेणिनिर्जरा का द्रव्य है, उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर असंयतसम्यग्दृष्टि के प्रतिसमय होने वाली गुणश्रेणिनिर्जरा का द्रव्य असंख्यातगुणा है। (कसायपाहुड भाग १ पृष्ठ ९७ से मोक्षमार्गप्रकाशक-विशेष-समीक्षा पृ.९३ पर उद्धृत)।

इस करणानुयोग के उद्धरण से स्पष्ट है कि अविरतसम्यग्दृष्टि के प्रथम समय से लेकर प्रतिसमय सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्त्वाचरण चारित्र, दर्शनाचार, दर्शनाराधना तथा सम्यग्ज्ञानाचार से सम्यक्त्वाचरण रूप स्वरूपाचरण में प्रवृत्ति होने से सतत उसकी निर्जरा का द्रव्य मिथ्यादृष्टि जीव के गुणश्रेणिनिर्जरा के द्रव्य से असंख्यातगुणा होता है, इसमें कोई संशय की कोई गुंजाईश नहीं है।

प्रश्न क्रमांक १० - गृहस्थ को केवल व्यवहारमोक्षमार्ग व मुनि को केवल निश्चयमोक्षमार्ग होता है, यह मान्यता सही है?

उत्तर - यह बात पहले ही इसी के पूर्वपृष्ठों में निश्चयनय-व्यवहारनय मैत्री के प्रकरण में स्पष्ट कर दी गयी है कि मोक्षमार्ग दो हैं, एक है व्यवहार व दूसरा निश्चय ऐसा कथन ही मूल में बेतुका है। **वास्तव में मोक्ष एक है, तो मोक्षमार्ग भी एक ही होना चाहिये और वह अकेला ही है। उस अकेले मोक्षमार्ग की जानकारी दोनों नयों से दो प्रकार से की जाती है या कराई जाती है।** इस बात को विद्वत् जन तथा त्यागी गण कृपया हृदय से स्वीकार करें, क्योंकि यह आगम से सम्मत बात है।

परमात्मप्रकाश में इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार आया है -

द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते, सराग-वीतरागभेदेन। सरागसम्यक्त्वलक्षणं कथ्यते - प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं **सरागसम्यक्त्वं भण्यते**, तदेव **व्यवहारसम्यक्त्वं** इति तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति। **वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वं** इति।[३०४]

अर्थ - सराग-वीतराग के भेद से दो प्रकार का सम्यक्त्व कहा जाता है। अब सराग सम्यक्त्व का लक्षण कहा जाता है। **प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य इन की अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकटता यह जिसका लक्षण है, वह सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वह सरागसम्यक्त्व ही व्यवहारसम्यग्दर्शन है, इसलिये उसका विषय छहों द्रव्य हैं।** तथा **निजशुद्धात्मानुभूति जिसका लक्षण है वह वीतरागसम्यग्दर्शन है** और वह वीतरागचारित्र से अविनाभूत है अर्थात् जो वीतरागचारित्र के बिना रहता नहीं है, वह वीतराग सम्यग्दर्शन है। वही निश्चयसम्यग्दर्शन है।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि **एक ही सम्यग्दर्शन दो प्रकार से कहा जाता है। दो सम्यग्दर्शन नहीं है। द्विधा सम्यक्त्वं**

---

३०४ - परमात्मप्रकाश अ. २ गाथा १७ टीका. ३०५ - परमात्मप्रकाश २/१७ टीका.

भण्यते।[३०५]

इसका अर्थ - **सम्यक्त्व दो प्रकार का है, ऐसा नहीं है, पर वह दो प्रकार का कहा जाता है,** ऐसा है। ऐसा सही अर्थ करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चौथे गुणस्थान में जो सात प्रकृतियों के उपशमादि से होता है, वह सम्यग्दर्शन करणलब्धि में गुणश्रेणिनिर्जरा द्वारा मिथ्यात्व के उदय का अंतरकरण कर के शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक ही होता है। यह शुद्धात्मानुभूति ज्ञानगुण की पर्याय होने से सम्यक्त्व का लक्षण होने पर भी श्रद्धागुण की पर्यायरूप जो सम्यक्त्व है, **उससे अतद्भावरूप से भिन्न है।** यह सम्यक्त्व स्वानुभूत्यावरण नाम की ज्ञानावरणकर्म की पर्याय के अभाव में अर्थात् उसका क्षयोपशम होने पर ही होता है, इसलिये वह स्वानुभूति सम्यग्ज्ञानस्वरूप है। उससमय जो उस शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक श्रद्धा उपजती है, वह सम्यक् दर्शन कहलाती है।

उसी समय चारित्र की पर्याय में जो **प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य प्रगट होते हैं, वह चारित्रगुण की ही पर्याय है,** वह सम्यक्त्व के साथ रहने से उसे उसका लक्षण कहा जाता है। सम्यक्त्व के अभाव में भी ये चारों प्रायोग्यलब्धि में दीखते हैं, **तब तो वे मिथ्याचारित्ररूप हैं,** क्योंकि वहाँ सम्यक्त्व का अभाव है। ये चारों विशुद्धिलब्धि व देशनालब्धि के समय में भी कुछ अंशों में दीखते है, पर ये मिथ्यात्व के साथ मिथ्याचारित्ररूप होते है व सम्यक्त्व के साथ सम्यक्चारित्र कहलाते है। **उन्हीं को सम्यग्दर्शन का सतत साथ देने से सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है,** पर वे सम्यग्दर्शन नहीं है, उन्हें व्यवहारनय से व्यवहारसम्यग्दर्शन भी कहा जाता है। **वास्तव में स्वानुभूति यह भी सम्यग्दर्शन नहीं है, वह भी तो ज्ञान की पर्याय होने से सम्यग्दर्शन का आत्मभूत लक्षण नहीं है,** उसके होते ही श्रद्धागुण मिथ्यारूप से सम्यक्रूप परिणम जाता है, **वही निश्चय सम्यग्दर्शन है और स्वानुभूति वह उसका अनात्मभूत लक्षण है।**

अतः चौथे गुणस्थान में निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है ऐसा कहना, उन्हींके द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त सम्यग्दर्शन की परमात्मप्रकाश ग्रंथ के गाथा २/१७ की अगली टीका द्वारा निरस्त हो जाता है, कि -

निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकरपरमदेव-राम-भरत-सगर-पांडवादीनां विद्यते ..... तेषां शुद्धात्मोपादेय-भावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किन्तु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति। व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवति इति तेन कारणेन असंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनो अर्हत्-सिद्धानां गुणस्तव-वस्तुस्वरूपं स्तवनादिकं च कुर्वन्ति, तच्चरितं पुराणादिकं च समाकर्णयन्ति, आचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषाय-दुर्ध्यान-वंचनार्थं संसारस्थिति-च्छेदनार्थं च दानपूजनादिकं च कुर्वन्ति, तेन कारणेन शुभरागयोगात् सम्यग्दृष्टयो भवन्ति। **या पुनस्तेषां निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतराग-चारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वात् इति। वस्तुवृत्या तु तत् सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वं एव इति भावार्थः।**[३०५अ]

अर्थ - **चौथे गुणस्थान में निश्चयसम्यक्त्व गृहस्थावस्था में तीर्थंकरपरमदेव, राम, भरत, सगर, पांडवादिकों को है,** पर उन्हें वीतरागचारित्र नहीं है, यह परस्पर विरोध है। यदि है तो उन्हें असंयतपना कैसै? इस पूर्वपक्ष पर **समाधान** देते हैं - **उनके (गृहस्थों के) शुद्धात्मा उपादेय है इस भावनारूप निश्चयसम्यक्त्व रहता है,** परन्तु **चारित्रमोह के उदय से वहाँ स्थिरता नहीं है, व्रत की प्रतिज्ञा का भंग होता है, इस कारण से वे असंयत कहे जाते हैं।** शुद्ध आत्मा की भावना से च्युत हो कर वे भरतादिक (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) १) निर्दोषी अर्हन्तों का व सिद्धों का गुणस्तवन, उनका वस्तुस्वरूप और उनके चरित्र-पुराणादिक एकाग्रता से सुनते हैं, विषय-कषायों से होनेवाले दुर्ध्यान (आर्त और रौद्रध्यान) से हटने के लिये और संसार की स्थिति को छेदने के लिये वे उनके आराधक

३०५अ - परमात्मप्रकाश २/१७ टीका

आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं को दान-पूजादि कार्य करते हैं, इसलिये वे शुभराग से सहित होने के कारण **सरागसम्यग्दृष्टि** हैं। जो उनकी **निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा है**, वह वीतरागचारित्र के बिना न रहनेवाले निश्चयसम्यक्त्व की परम्परा से साधक हैं, इसलिये है। **वास्तविक वह सरागसम्यक्त्व नाम का सम्यक्त्व व्यवहारसम्यक्त्व ही है, यह भावार्थ है।**

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **१) चौथे गुणस्थानवर्ती को निश्चयसम्यक्त्व है। २) वह निश्चयसम्यक्त्व शुद्धात्मभावना (शुद्धोपयोग) से उपजा है। उन्हें शुद्धभावना, शुद्धात्मा-उपादेयभावना या शुद्धोपयोग होता है। (यह पहले ही सिद्ध कर दिया गया है)। ३) चारित्रमोह के उदय से उन्हें स्थिरता न होने से उनकी व्रतों की प्रतिज्ञा टूटती है। इसलिये वे असंयमी कहे जाते हैं। ४) वे जब शुद्धात्मभावना (शुद्धोपयोग) से च्युत होते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोग में नहीं रह पाते हैं) तब अर्हन्तादिकों की पूजा-स्तुति आदि करते हैं,** उनके चरित्रपुराणादिक सुनते हैं या उनके आराधक आचार्यादिकों को दानादि देते हैं (यह सभी शुभराग है)। ५) यह सभी शुभराग की क्रियायें वे विषयकषायों से उत्पन्न आर्त्तध्यान व रौद्रध्यानों से बचनेहेतु व संसार की स्थिति घटाने हेतु करते हैं। **(यह सभी शुभराग की क्रियायें वे अप्रत्याख्यानावरण कषायों के जोर में करते हैं, क्योंकि उन्हें वीतरागियों जैसी स्थिरता नहीं है)।** ६) इस (चारित्र की) कमजोरी वश आये हुए) शुभराग के कारण उनका निश्चयसम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व कहा जाता है। वह सरागसम्यक्त्व वीतरागचारित्र के साथ होनेवाले निश्चयसम्यक्त्व का साधक है। (अर्थात् पूर्ण वीतरागता से सम्बद्ध निश्चयसम्यक्त्व के साथ वह सरागसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व का साधक है।) ऐसा सरागसम्यक्त्व वास्तव में व्यवहारसम्यक्त्व है।

अतः यहाँ स्पष्ट ही है कि **चौथे गुणस्थानवर्ती तथा पांचवें गुणस्थानवर्ती भी शुद्धोपयोग से ही होते हैं, वहाँ शुद्धोपयोग होता ही है;** तब १)

विषय कषाय का दुर्ध्यान नहीं होता, अतः वहाँ अशुभोपयोग नहीं है, २) उससमय वहाँ अर्हन्तादिकों का गुणस्तवन, वस्तुस्वरूप का स्तवन या आचार्यादिकों को दानादिरूप शुभराग नहीं है या प्रथमानुयोगादि का पठन नहीं है, इसलिये वहाँ पर शुभोपयोग भी नहीं है, ३) इसलिये सिद्ध होता है कि उस चौथे गुणस्थानवर्ती जीव की परिणति **उससमय इन दोनों अशुभोपयोग व शुभोपयोगों से रहित होने से शुद्ध ही है, क्योंकि परिणतियाँ तीन ही हैं, चौथी परिणति है ही नहीं। इसलिये वहाँ शुद्धोपयोग ही है। इसका कारण वहाँ शुद्धात्मा ही विषय है।** ४) उससमय वह शुद्धोपयोग वहाँ पर जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक रहता ही है, अतः उतनी नगण्य स्थिरता स्वरूप वहाँ चारित्र भी है। इसलिये वहाँ पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है ही। यही जघन्य अन्तरात्मा पूर्ण मोक्षमार्गी है यह सिद्ध है। यह भी पहले ही बता आये हैं।

हाँ, यह मोक्षमार्ग वहाँ संयमसहित नहीं है वा देशसंयमरूप भी नहीं है तथा वह मिथ्यात्वी के दर्शनमोह व चारित्रमोह के उदय में होनेवाले चारित्र से भी भिन्न है, क्योंकि वहाँ सम्यग्दर्शन होने से अनन्तानुबंधीचतुष्क का अभाव है।[३०६] इसलिये वह मिथ्याचारित्र न होने से **सम्यक्चारित्र** ही है। इसलिये चौथे गुणस्थानवर्ती मोक्षमार्गी ही है इसमें शंका को कोई गुंजाईश नहीं है।

कोई कोई राजवार्तिक का यह उद्धरण देकर कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र १/३ की टीका में आचार्यवर श्रीमत् अकलंकदेव ने सम्यग्दर्शन के सराग व वीतराग के भेद से दो भेद किये हैं। **प्रशमादिचतुष्क की अभिव्यक्ति यह जिसका लक्षण है वह सरागसम्यक्त्व है तथा आत्मविशुद्धि ही जिसका लक्षण है वह वीतरागसम्यक्त्व है।** इस सम्बंध में यह भी कहा है कि **सातों ही प्रकृतियों के अत्यन्तरूप से चले जाने से जो मात्र आत्मविशुद्धि है, वह वीतरागसम्यक्त्व है, अतः पहला साधन है**

---

३०६ - श्लोकवार्तिक अ.१/१ श्लो. १०५/७३.

और दूसरा साध्य है।[३०७] इसमें ऐसा कहीं भी नहीं कहा कि निश्चय सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान से ही होता है। प्रत्युत सातों प्रकृतियों का अभाव चौथे गुणस्थान में भी रहता होनेसे वहाँ भी यह दोनों सम्यक्त्व होते ही हैं।

इसमें इतना अवश्य है कि सातों प्रकृतियों के अत्यन्त अपगम याने चले जाने से **आत्यन्तिक आत्मविशुद्धिमात्र वीतरागसम्यक्त्व** उत्पन्न होता है। यदि इसका अर्थ यह लिया जाय कि यह आत्मविशुद्धि केवल सातवें गुणस्थान से ही होती है, तो यह अर्थ बाधक है, क्योंकि वहाँ पूर्ण वीतरागतारूप आत्यंतिक आत्मविशुद्धि नहीं है। वहाँ भी संज्ज्वलनकषाय-चौकडीरूप राग है। तथैव चौथे गुणस्थानवर्ती जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, जैसे मनुष्यों में या नारकियों में श्रेणिकराजा का जीव, सर्वार्थसिद्धि आदि के अहमिन्द्र या तीर्थंकरकुमार या राम, भरत, सगरादि गृहस्थावस्था में थे, उस समय वे क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही थे, वे तो निश्चयसम्यग्दृष्टि ही थे। **उतने अंशों में वे वीतराग ही थे। इस से भी यह सिद्ध होता ही है कि यह निश्चयसम्यक्त्व अनन्तानुबंधी राग से रहित होने से भी उतने अंशों में वहाँ वीतरागसम्यक्त्व ही है। इसका कारण वहाँ उपयोग में शुद्धात्मा ही विषय होता है।**

इसतरह मोक्षमार्ग दो नहीं है, अकेला है, एक ही है। **निश्चयनय से व व्यवहारनय से एक ही वस्तु का वर्णन दो प्रकार से जिनागम मे किये जाने की पद्धति है।** व्यवहार पहले व निश्चय बाद में, ऐसा कथन करना आगमसम्मत नहीं है तथा ऐसा मानने से मिथ्यात्व का ही पोषण होगा। इसके लिये नयों का समुचित अभ्यास स्याद्वादपद्धति से आवश्यक है। नयों का अभ्यासी नयों की अपेक्षायें न समझते हुए वस्तु में ही भेद डालने का आग्रह कभी नहीं कर सकता, क्योंकि वह आग्रह वस्तुस्वरूप से विपरीत होने से वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होगा। अतः दो नयों से मंडित जिनवाणी को स्याद्वादपद्धति से समझना आवश्यक है।

---

३०७ - राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३ वार्तिक १

प्रश्न क्रमांक ११ - धर्म व अधर्म की सरल पारेभाषायें क्या हैं तथा वे किसके होते हैं?

उत्तर - स्वरूपे चरणं चारित्रम्।स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः।तदेव वस्तुस्वभावत्त्वात् धर्मः।[३०७अ] अर्थात् स्वरूप में चलना (चरना) (स्वरूपाचरण) चारित्र है ऐसा अर्थ है। वही वस्तु का स्वभाव होनेसे धर्म है।

इसके अनुसार आत्मा का धर्म आत्मा के सहजस्वभावरूप ही होना चाहिये। जो उसके स्वभाव से प्रतिकूल हो, वह अधर्म है। चूंकि धर्म यह जीव का स्वभाव है, अतः ज्ञान-दर्शनमय चेतना यह जीव का शाश्वत स्वभाव है, शाश्वत धर्म है। केवल जानते रहना यह जीव का पर्यायरूप से धर्म है और वह क्षणिक है। उसके विरुद्ध इष्टानिष्टभाव से राग-द्वेष-मोह परिणाम करते रहना, पर में अपनापन करना, पर में अपना कर्तृत्व व भोक्तृत्व मानना यह स्वभाव से विपरीत होने से अधर्म है।

धर्म स्व के लक्ष्य से होता है और अधर्म पर के लक्ष्य से होता है, वह मुख्यरूप से पुद्गल के निमित्त से होता है। जैसे दर्पण में मयूर का जो आकार झलकता है, वह आकार मयूर नहीं है, वह तो केवल दर्पण की ही वैसी झलकाने की शक्ति या धर्म होने से दर्पण में मयूर का झलकना वह दर्पण ही है, मयूर नहीं। उसी समय दर्पण का स्वयं का आकार भी उस दर्पण में झलक ही रहा है। दर्पण का आकार दर्पण में तन्मय होकर पूर्णरूप से झलकता है, जब कि मयूर का आकार मयूर से दूर रह कर आंशिकरूप से ही झलकता है। इसलिये मयूर दर्पण से तन्मय नहीं है।

इसी तरह आत्मा के ज्ञानपर्याय में प्रतिसमय अनेक पदार्थ झलकते हैं, पर वे ज्ञान से तन्मय हो कर नहीं झलकते हैं। वह पदार्थों की झलकन ज्ञान में प्रतिक्षण बदलनेवाले ज्ञान के ही आकार हैं, ज्ञानाकार हैं। ज्ञान में

३०७अ - प्रवचनसार गाथा ७ तत्त्वप्रदीपिका टीका

परपदार्थों के आकार परपदार्थों के निमित्त से उनकी उपस्थिति में झलकते हैं। मिथ्यात्वी उनको ज्ञान में आये जान कर उनसे अपनापन या ममत्व कर बैठता है तथा उनके कर्तापना और भोक्तापना का बोझ अपने सिर पर ढोता जाता है, इसी लिये अनन्त दुख का अनुभव करते रहता है व सतत राग-द्वेष करते रह कर आकुलित होता जाता है। यह सब यथार्थ वस्तुस्थिति न समझने के कारण ही होता है। यही कर्मबंध व संसार का कारण है।

इसलिये ज्ञानी का लक्ष्य शुभोपयोग नहीं होता है। वह केवल शुद्धोपयोग में आने हेतु ही वह शुभोपयोग का आधार लेता है, क्योंकि वह जानता है कि शुभोपयोग रागस्वरूप है और चाहे वह राग शुभ हो या अशुभ हो, सम्यग्दृष्टि उसे हेय ही मानता है, वह तो अपने ज्ञायक स्वभाव को ही उपादेय मानता है। जब राग है तब चारित्र नहीं है और जब चारित्र है, तब राग नहीं है। ..... द्रव्य अपने गुण-पर्यायमय ही होता है, किसी अन्य द्रव्य के गुणपर्याय किसी अन्य द्रव्य में नहीं पहुंचते।[३०८]

अतः आत्मा का धर्म आत्मा में ही रहेगा। वह धर्म आत्मा के शुद्धोपयोग के समय ही व्यक्त होता है। शुभोपयोग में राग शुभ होता है, धर्म नहीं होता। वस्तुतः देखा जाय, तो पुण्य राग से ही होता है और धर्म रागरहितता (विरागता या वीतरागता) से ही होता है। अतः पुण्य रागमय होने से हिंसा ही है, इसी कारण से वह बंधक होने से अधर्म ही है। धर्म तो चारित्ररूप है और वह चारित्र साम्यभावरूप है तथा वह साम्य मोह-राग-द्वेष से रहित आत्मा का समभाव या समताभाव है।[३०९] वह धर्म ही छद्मस्थ का निश्चय मोक्षमार्ग है तथा केवलियों का मोक्ष है। वह निश्चयमोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान से शुरू होता है। इसमें भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये।

---

३०८ - प्रवनसारप्रवचन भाग १/२ पृ.९७-९८ सहजानंद शास्त्रमाला १९७४ प्रकाशन.

३०९ - प्रवचनसार गाथा ७

इस का आशय यह है कि धर्म स्वयं के आश्रय से होता है, पराश्रय से नहीं होता। वह धर्म ही निश्चय मोक्षमार्ग है। वह आत्मा में ही होनेवाली शुद्धस्वभावाश्रित शुद्धपर्याय है। उससमय दर्शन में, ज्ञान में, चारित्र में, प्रत्याख्यान में व संवर और योग में भी आत्मा ही रहता है।

आत्मैव मे सदा ज्ञाने दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव यथा संवर-योगयोः।।[३१०]

अर्थ - मेरा आत्मा ही मेरे दर्शन में ज्ञान में और चारित्र में है तथा प्रत्याख्यान, संवर और योग में भी वही आत्मा है।

इसलिये वहाँ स्वाश्रय होने से धर्म है, जो पराश्रय से उपजता है वह तो अधर्म है। **यह शुद्धोपयोग ही वास्तव में स्वरूपाचरण चारित्र है।** इस के बारे में क्षु. श्री सहजानंदजी महाराज के प्रवचन का यह अंश देखिये

- स्वरूपाचरण - स्वरूप में चलना ही चारित्र है। .....अर्थात् ज्ञान का उपयोग ज्ञान में ही रहे, यही चारित्र है। अपने शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-स्वरूप में ठहरना ही चारित्र है और वही आत्मा का स्वभाव होने से धर्म कहलाता है। .... शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्व के नाश करनेवाले दर्शनमोह की मोह संज्ञा है तथा निर्विकार निश्चल चित्तवृत्ति रूप चारित्र का विनाश करनेवाले चारित्रमोह को क्षोभ कहते हैं। इन मोह व क्षोभ (राग-द्वेष रूप चंचल परिणाम) के अभाव को ही सम कहते हैं। उस समभाव का नाम ही धर्म है। ..... साम्यभाव, धर्म और चारित्र तीनों एकार्थवाची नाम जानने चाहिये।[३१०अ] यह स्वरूपाचरणरूप साम्यभाव शुद्धोपयोग के साथ ही रहता है।

चौथे व पांचवें गुणस्थानों में **यह स्वरूपाचरणचारित्र अत्यल्परूप से भूमिकानुसार रहता है तथा वह अनन्तानुबंधी के अभाव में व अप्रत्याख्यानावरण कषायों के सद्भाव में भी रहता है, इसलिये वह क्षीण है।** इसी लिये उसे वहाँ पर गौण कर उपेक्षित कर दिया है, इतना ही।

---

१० - प्र.सा. गाथा २७७ ३१०अ - प्रवचनसारप्रवचन भाग १.२/९२

प्रमुखता से वहाँ पर तरतमता रूप से शुभोपयोग ही रहता है।[३११] इस शुद्धोपयोगरूप स्वरूपाचरण का स्वरूप पंचाध्यायी में निम्नानुसार दिया है।

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैव चारित्रसंज्ञकः।।[३१२]

अर्थ - **कर्म के ग्रहणरूप (आस्रव) क्रिया के विरोधरूप से जो स्वरूपाचरण है, वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और उसीको चारित्र के नाम से जाना जाता है।** ऐसा ही लाटी संहिता में सूत्र क्र. ४/२६३ में भी कहा है। (जै.सि.कोश भाग ४ पृ. ५०९) इस से यह स्पष्ट हो जाता है **कि स्वरूपाचरण चारित्र ही आस्रवविरोधी है अर्थात् वही संवररूप है, शुद्धोपयोगरूप है, वही धर्म है और उसे ही चारित्र कहते है। स्वरूपाचरणचारित्र यह कोई सम्यक्त्वाचरणचारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र या यथाख्यातचारित्र से भिन्न नहीं है, इस लिये वह चौथे गुणस्थान से ही चालू होता है, क्योंकि वह शुद्धोपयोग वहाँ है ही। वह सर्वत्र ही व्याप्त है।**

कोई कहते हैं कि छहढाला मे छठवीं ढाल में मुनिपद का वर्णन करने के बाद में ही स्वरूपाचरण का वर्णन किया है, इस लिये श्रावकों को वह स्वरूपाचरण मानना मिथ्या है और मिथ्यात्वपोषक है। यह कथन मिथ्या है क्योंकि वर्णन में सर्वत्र क्रम होता है, इसलिये **वहाँ पर जो स्वरूपाचरण को अन्तिम क्रमांक दिया है, वह मोक्षस्वरूप व मोक्ष के समीपवर्ती होने से सभी प्रकार के व्यवहारचारित्रों के वर्णन के बाद यथाख्यातचारित्र से पहले शुद्धोपयोगस्वरूप स्वरूपाचरण को स्थान दिया है, इतना ही। इसलिये इसमें शंका को कोई गुंजाईश नहीं है। वह स्वरूपाचरण का स्वरूप शुद्धोपयोग ही है।** आगे और भी देखें -

१. कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्रात् च्युतिभावना।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वात् न्यायादितरदृष्टिवत्।।[३१३]

---

३११ - द्रव्यसंग्रह गाथा ४८ ३१२ - पंचाध्यायी उ. गाथा ७६४. ३१३ - पंचाध्यायी गाथा ६९०/१४५८

अर्थ- चारित्र से च्युत होना, यह चारित्रमोह का कार्य है। चारित्रमोह के द्वारा चारित्र से च्युति होने पर भी आत्मदृष्टि से च्युति होती नहीं है, क्योंकि न्याय से वह दृष्टि (श्रद्धागुण) की पर्याय है। अन्य न्याय से भिन्न दृष्टि चारित्रगुण की है। जैसी दो आंखें भिन्न हैं, एक फूटी तो भी दूसरी नहीं फूटती।

२. **यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचित् दैवयोगतः।**
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः।।[३१३ अ]

अर्थ - जैसे किसी की दैवयोग से एक आंख ठीक है। दूसरी आंख में दुःख होने पर भी अच्छी आंख में कोई हानि प्रत्यक्ष में देखी नहीं जाती।

३. **कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।**
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः।।[३१३ ब]

अर्थ - जितना कषायों का अनुद्रेक (अनुदय या उदय में न आना) है, वही चारित्र है और कषायों का अनुद्रेक न होना याने कषायों का उदय होना है, उतना चारित्र से च्युत होना है।

इस पर से यह सिद्ध होता है कि यह स्वरूपाचरण ही सम्यक्त्वाचरण भी है, जैसा कि आचार्यवर भगवत् कुन्दकुन्ददेव चारित्रपाहुड में बताते हैं -

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।।[३१४]

अर्थ - वह जिनसम्यक्त्व अर्थात् अरहंतदेव की श्रद्धा निःशंकितादि गुणों से विशुद्ध हो, उसका यथार्थ ज्ञान से आचरण करे, वह प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। वह उत्तम मोक्षस्थान के लिये होता है।

इस पर से यह सिद्ध होता है कि **स्वरूपाचरण याने निजशुद्धस्वरूप में विचरना। यह स्वरूपाचरण नामक अलग से कोई चारित्र नहीं है बल्कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होने से उस मोक्षमार्ग में ही विचरना, चलना, प्रवृत्त होना, यही चारित्र है, फिर चाहे वह**

३१३अ - पंचाध्यायी गाथा ६९१/१४५९. ३१३ ब - पंचाध्यायी गाथा ६९२/१४६०
३१४ - चारित्रपाहुड गाथा ८

सम्यग्दृष्टि का असंयमस्वरूप सम्यक्त्वाचरण हो या देशसंयम हो या सकलसंयम हो या यथाख्यातसंयम भी हो। अतः चौथे गुणस्थान में यह स्वरूपाचरणचारित्र सिद्ध हो गया।

इसलिये स्वरूपाचरणरूप स्वाश्रित धर्म चौथे गुणस्थान में भी होता है। शरीर के या वचन के या मन के आश्रित जो क्रियायें या अट्ठावीस मूलगुणों का पालन आदि है, वे व्यवहारनय से धर्म कहलाते हैं, पर वास्तव में शुभोपयोगरूप होने से वे धर्म ही नहीं हैं। देखिये यह आगमाधार

रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया।
सार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनाम न निश्चयात्।।
किन्तु बंधस्य हेतुः स्यादर्थात् तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत्।।[३१४ अ]

अर्थ - रूढि से ही शुभोपयोग भी चारित्र के नाम से प्रसिद्ध है। पर वह सार्थक्रिया नहीं करता अर्थात् वस्तु के स्वभाव से विरुद्ध क्रिया करता होने से उसका चारित्र यह नाम निश्चय से सार्थक नहीं है अर्थात् वह मोह-क्षोभ से रहित धर्म या समताभावरूप होने की क्रिया नहीं करता, किन्तु वह बंध का ही हेतु है, क्योंकि वह अपनी सार्थ याने अपनी प्रयोजनभूत क्रिया नहीं करता, उल्टी संसार की ही क्रिया करता है। इससे वह उत्तम नहीं है।

उत्तम तो वह है जो न उपकार करता है, न अपकार करता है। उपकार कर्ता पुण्य है व अपकारकर्ता पाप है। शुद्धोपयोग तो पर में अकर्ता है, शुद्धोपयोग से संवर रूप धर्म होता है, शुभोपयोग से रागद्वेषरूप अधर्म ही होता है।

इसलिये धर्म की सरल परिभाषा १. ज्ञानदर्शनरूप त्रिकाल शाश्वत स्वभाव ही धर्म है व २. केवल ज्ञाताद्रष्टारूप से प्रतिक्षण शुद्धोपयोग में रमना यह क्षणिक पर्यायधर्म है। वही आनंददायी है।

---

३१४ अ - पंचाध्यायी श्लोक १५२७ व १५२८.

प्रश्न १२ - क्या अविरत या असंयत सम्यग्दृष्टि सर्वथा अव्रती या असंयमी ही है?

उत्तर - वह सर्वथा अव्रती नहीं है। देखें परमात्मप्रकाश का यह कथन - **निजशुद्धात्मा एव उपादेयः इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकरपरमदेव-भरत-सगर-राम-पांडवादीनां विद्यते, नच तेषां वीतराग-चारित्रमस्ति इति परस्परविरोधः। अस्ति चेत् तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह - तेषां (असंयतसम्यग्दृष्टीनां) शुद्धात्मोपादेयभावनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते, परं किन्तु चारित्रमोहेन स्थिरता नास्ति, व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवति इति तेन कारणेन असंयता वा भण्यन्ते।** [३१५] **अर्थ** - निजशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसे रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर परमदेव, भरत, सगर, राम, पांडव आदि को था पर उन्हें वीतरागचारित्र न था, इसलिये (उन्हें वीतरागचारित्र के अविनाभावी निश्चयसम्यक्त्व नहीं था) इस कथन में परस्परविरोध आता है। यदि उन्हें वीतरागचारित्र है, तो उन्हें फ़िर असंयतपना कैसे? यह पूर्वपक्ष है। उसका परिहार करते हैं - **उन तीर्थंकरपरमदेव, भरतादिक के शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी भावनारूप निश्चयसम्यक्त्व था, पर चारित्रमोहनीय के उदय से स्थिरता नहीं थी, व्रतप्रतिज्ञा का भंग होता था, अतः वे असंयत या अव्रती कहे जाते थे।**

इस पर से यह स्पष्ट है कि उन असंयत-सम्यक्त्वियों को व्रत तो होते हैं, पर उन की प्रतिज्ञाओं का भंग हो जाता है। यही असंयतसम्यग्दृष्टि की कमजोरी है। उन की प्रवृत्ति अनर्गल बिल्कुल नहीं होती। वे सप्त व्यसनों, बाईस अभक्ष्यों व तीन मूढताओं आदि के त्यागी होते ही हैं पर कमजोरीवश कर्मोदय से उनसे प्रतिज्ञा टूटती है। अतः ऐसा कहना योग्य नहीं है कि वे सर्वथा असंयमी या अव्रती ही हैं। **वहाँपर सम्यक्त्वाचरणरूप या दर्शनाचाररूप या दर्शनाराधनारूप स्वरूपाचरण चारित्र अवश्य होता ही है।**

---

३१५ - परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १७ टीका

प्रश्न क्रमांक १३ - ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोग-भावना दृश्यते, श्रावकाणामपि सामायिकादि काले शुद्धभावना दृश्यते। इस प्रवचनसार की गाथा २४८ की तात्पर्यवृत्ति टीका में जो भावना शब्द तीन बार आया है, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर - यहाँ या अन्यत्र भी भावना शब्द का अर्थ क्या होता है, इसका स्पष्टीकरण पहले ही भावना प्रकरण में दिया है, वहाँ से देखना उत्तम होगा। फिर भी यहाँ पर थोडासा स्पष्टीकरण किया जाता है। भावना शब्द ध्यान या शुद्धोपयोग या शुद्धात्माभिमुखपरिणाम के अर्थ में या मोक्षमार्ग, स्वात्मानुभूति, निर्विकल्पसमाधि आदि के पर्यायनामों से द्रव्यसंग्रह की गाथा २८ की उत्थानिका में या प्रवचनसार, परमात्मप्रकाश,समयसार आदि ग्रन्थों में प्रचुरता से आचार्यवर्यों ने उपयोग में लिया है। इसका विस्तृत वर्णन इसी पुस्तक में भावना प्रकरण में आया है। वह मूलतः पठनीय है।

भावना शब्द वर्तमान पर्याय से सम्बद्ध है, भूतकालीन या भविष्यकालीन पर्यायों से कतई संबद्ध नहीं है। भूतकालीन पर्यायें स्वप्नसमान हैं, उनके सपने देखना बेकार है। भविष्यकालीन पर्यायें हमारे हाथ में न होने से उनकी कल्पनाओं में रमना भी बेकार है, क्योंकि वे केवलज्ञानियों के ज्ञान में सुनिश्चित तथा क्रमबद्ध या क्रर्मनियमित या क्रमभावी होने पर भी उन्हें हम हमारे अल्पज्ञान से देख या बदल नहीं सकते तथा यदि किसी अवधिज्ञानी ने बता भी दिया, तो भी उन्हें बदलना इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्रादिकों को भी कदापि शक्य नहीं है। इसीलिये कहा है - भूतकाल सपना, भविष्यकाल कल्पना, बस वर्तमानकाल अपना।

इसलिये भूत को छोड़ो, भविष्य के कल्पनाजाल से मत जुड़ो, केवल वर्तमान ही अपने हाथ में नगद रूप मे हाजिर है, उसे अपनाओ और उसका आनन्द लुटो। उस वर्तमान से जुड़ना ही

भावना है, फिर वह चाहे जो भावना हो। वर्तमान पर्याय में प्रत्येक जीव के पास १. उत्पाद-व्ययरूप से वर्तमान पर्याय है और २. गुण रूप से अनन्तगुणमय द्रव्य का ध्रौव्य या ध्रुवता है। उत्पाद-व्ययरूप द्रव्य क्षणिक व पर्यायात्मक है व वही द्रव्य सहभावी गुणों के रूप से ध्रुव, नित्य, शाश्वत तथा एकसा है। **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सत् द्रव्यलक्षणं। गुणपर्ययवत् द्रव्यं।**[३१६] अर्थ - उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से जो युक्त होता है, वही सत् है व वही द्रव्यका लक्षण है। तथा वह द्रव्य गुणपर्यायों से युक्त होता है।

अतः हमारा उपयोग यह हमारे ही ज्ञानगुण की पर्याय होने से हम हमारा उपयोग या तो उत्पाद-व्ययरूप क्षणिक वर्तमान पर्याय में जोड़ सकते है या ध्रुवरूप शाश्वत गुणमय द्रव्यस्वभाव में मोड़ सकते हैं, जैसे हमारे पास में यदि टार्च हो, तो उसका प्रकाश हम कहीं भी फेंक सकते हैं। यदि हमने जान लिया कि हमारा उपयोग ध्रुव में मोड़ना ही आनन्ददायक है, तो हम अपना उपयोग वहाँ मोड़ने का ही प्रयास करेंगे, विफल होने पर फिर से सफल होने का प्रयास सफलता मिलने तक करते रहेंगे। **यही प्रयास मोक्षमार्ग की कुंजी है, वही भावना है।** इसमें भूत या भविष्य से कोई संबंध नहीं है।

यह भावना शब्द वर्तमान उपयोग की परिणति से जुड़ा है। यदि उपयोग का विषय शुद्ध है, तो शुद्धोपयोग है व विषय शुभ या अशुभ है तो शुभोपयोग या अशुभोपयोग है। बस यही करना है, जो हमारे हाथ में अभी है, चाहे ज्ञान अल्प हो या ज्यादह, अल्पज्ञ हो या पंडित या त्यागी हो, मार्ग एकही है। केवल क्षणिक को न देखिये, देखिये केवल ध्रुव की दृष्टि से गुणपर्यायात्मक पूर्ण ज्ञायक आत्मवस्तु को। वही शुद्धोपयोग या शुद्धभावना या शुद्धोपयोगभावना या मोक्षमार्ग है। इसतरह भावना शब्द वर्तमानपर्याय में उपलब्ध ध्रुव व पूर्ण स्वभाव को दृष्टि में रखने से ही संबंधित है। देखें यह उद्धरण -

---

३१६ - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र क्र. ३०,२९ ड ३८.

अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुख-परिणामः शुद्धोपयोगः इति पर्यायसंज्ञां (औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकभावत्रयं) लभते। स च पर्यायः ..... भावनारूपत्वात्।[३१७] अर्थ - अध्यात्मभाषा से पुनश्च शुद्धात्माभिमुखपरिणाम या शुद्धोपयोग (औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक) भाव नाम को प्राप्त होता है, क्योंकि वह पर्याय ..... भावनारूप है।

इसतरह से भावना शब्द जहाँ जहाँ भी प्रयुक्त हुआ हो, वहाँ वहाँ उसे मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से उसरूप से देखना चाहिये। वहाँ पर **सप्तमी तत्पुरुषसमास** की योजना करनी चाहिये, **जैसे शुद्धोपयोगभावना अर्थात् शुद्धोपयोग में भावना या रमणता, परिणमन, तन्मयता, तत्परता या तात्पर्य इत्यादि तथा शुभोपयोगभावना अर्थात् शुभोपयोग में भावना, परिणमन इत्यादि।** परन्तु शुद्धोपयोग की भावना या शुभोपयोग की भावना आदिरूप **षष्ठीतत्पुरुषसमास** में अर्थ करना गलत है, क्योंकि इसमें द्वैत है और आगम को यह अमान्य है। जैसे -

णाणम्हि भावना खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तम्हा कुण भावणं आदे।।[३१८]

अर्थ - भावना **ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में** करनेयोग्य है, क्योंकि वे तीनों आत्मा ही है, इसलिये **आत्मा मे भावना** कीजिये।

इस प्रकार **भावना करना या भाना या भावभासन करना, यह शुद्ध विषय में होने से वह शुद्धोपयोगरूप है, इसलिये वह संवर, निर्जरा व मोक्ष का कारण है,** उल्टे शुभोपयोग केवल आस्रव, बंधरूप संसार का ही कारण है, फिर वह देवगति या तीर्थंकरत्वप्रदायक भी क्यों न हो। वह पूर्णतः पर्यायरूप होने से न तो ध्येय है, न आदर्शरूप ही है और न सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य भी है। ऊपर की गाथा में कहे अनुसार भावना करनी हो, तो केवल आत्मा में ही कीजिये, जिससे वह भावना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र में भावना होगी, जो मोक्षमार्गरूप संवर, निर्जरा

३१७ - समयसार तात्पर्यवृत्ति गा. ३२० टीका ३१८ - समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ११

का फल देगी।

उपर्युक्त गाथा की टीका का यह उद्धरण भी देखें - **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयभावना खलु स्फुटं कर्तव्या भवति। तानि पुनः त्रीण्यपि निश्चयेन आत्मा एव यतः कारणात्, तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनि इति।**[३१९] अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय में भावना प्रगटरूप से करनेयोग्य होती है। जिसकारण वे तीनों भी निश्चय से आत्मा ही है, इसलिये **शुद्धात्मा में ही भावना** कीजिये। और भी देखें - **यः कर्ता आत्मभावनां इमां नित्योद्यतः सन् मुनिः तपोधनः समाचरति भावयति सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति अचिरेण स्तोककालेन इति भावार्थः।**[३२०] अर्थ - जो कर्ता अर्थात् मुनि या तपोधन **इस आत्मभावना को नित्य उद्यत याने तत्पर हो कर सम्यक्रूप से आचरता है, भाता है या भावभासन करता है**, वह शीघ्र अल्प काल में ही सारे दुःखों से मोक्ष पाता है अर्थात् मुक्त होता है।

इन उद्धरणों में भी भावना शब्द शुभोपयोग वाचक न हो कर शुद्धोपयोग वाचक है, जो संवर-निर्जरा का कारण है। यहाँ पर मुनि या तपोधन शब्द जो आये हैं, उनका अर्थ यह नहीं है कि यह गृहस्थों को लागू नहीं होता, क्योंकि समयसारादि **अध्यात्मग्रन्थों में मुख्यता मुनि की रखकर ही वर्णन किया गया है, श्रावकों को वहाँ पर गौण ही रखा गया है।** देखिये यह उद्धरण -

अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु **चतुर्थगुणस्थानवर्ती-सराग-सम्यग्दृष्टि**स्तस्य गौणवृत्या ग्रहणं तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः। कथमिति चेत् - मिथ्यादृष्टेः सकाशात् **असंयतसम्यग्दृष्टेः अनंतानुबंधि-क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्वोदयजनिताः श्रावकस्य चाप्रत्याख्यानक्रोध-मान-माया-लोभोदयजनिता रागादयो न संतीत्यादि।** कि च सम्यग्दृष्टेः

---

३१९ - समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ११ की टीका.
३२० - समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा १२ टीका.

संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बंधपूर्विका निर्जरा भवति, **तेन कारणेन मिथ्यादृष्टि-अपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबंधकः इति।**[३२१]

अर्थ - इस ग्रन्थ में वस्तु की वृत्ति से अर्थात् वास्तविक या मुख्यरूप से वीतरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है, **पर जो चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टि है, उसका गौणवृत्ति से इसमें ग्रहण किया है, इसका परिहार पहले ही कर दिया गया है।** यह किस आधार से है, ऐसा पूछनेपर कहते हैं - **मिथ्यादृष्टि की तुलना में या अपेक्षा से अव्रती सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबंधि-क्रोध-मान-माया-लोभ तथा मिथ्यात्वजनित मोह-राग-द्वेष और श्रावक को अप्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया-लोभ के उदयजनित रागादिक नहीं होते। विशेष इतना है कि सम्यग्दृष्टि को संवरपूर्वक निर्जरा होती है, पर मिथ्यादृष्टि को हाथी के स्नान के समान बंधपूर्वक निर्जरा होती है। इस कारण से मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अबंधक है।**

इस से यह सिद्ध होता है कि समयसारादि में प्रमुखता से मुनिराजों को लिया गया है, उनके उद्देश से ही ग्रन्थ लिखे गये है, तो भी चौथे गुणस्थानवर्ती या पंचमगुणस्थानवर्ती का भी गौणवृत्ति से उनमें ग्रहण किया गया है **अर्थात् मुनिराजों के निकष श्रावकों को और अव्रतीसम्यग्दृष्टि को भी यथायोग्य रीति से लागू होते हैं, उन्हें उन निकषों को नकारना अयोग्य ही है।** मुनिराज शुद्धोपयोग में नित्य समाचरण करते हैं पर चौथे गुणस्थानवर्ती भी उपर्युक्त रीति से संवरपूर्वक निर्जरा शुद्धोपयोगभावना द्वारा करते ही है तथा निज ज्ञानानन्दस्वभाव को प्रत्यक्ष अनुभवते ही हैं, परन्तु वे उस अनुभव में कषायों की तीव्रता वश अधिक टिक नहीं पाते व अधिक काल शुभोपयोग में रहते हैं। गृहस्थ का शुभोपयोगभावना में टिकना अधिक काल होता है।

जब वे **गृहस्थ शुद्धोपयोग में अपनी शक्ति के अनुसार रहते हैं,**

---

३२१ - समयसार गाथा १९३/२०३ तात्पर्यवृत्ति

तब वे भी प्रवचनसार की गाथा क्र. ९ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में बताये अनुसार **निःप्रत्यनीकशक्तिवाले अर्थात् बाधा से रहित होते हैं व जब अधिकतम काल अशुद्धोपयोग में आते हैं तब सप्रत्यनीकशक्तिवाले अर्थात् बाधा से सहित होते हैं।** इसलिये उपर्युक्त शंका में जो शुद्धोपयोगी को कभी-कभी शुभोपयोगभावना, शुभोपयोगी को कभी-कभी शुद्धोपयोगभावना या श्रावकों को शुद्धभावना दीखती है ऐसा कहा है, वह इसी को लक्ष्य में ले कर कहा है कि गृहस्थ भी शुद्धोपयोगी हो कर शुद्धोपयोग के काल में मोक्षसुख का अनुभवन करता है।

इसलिये प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन कहते हैं

येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि ते शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात्? बहुपदस्य प्रधानत्वात् आम्रवन-निम्बवनवत् इति।[३२२]

अर्थ - जो भी शुद्धोपयोगी हैं, वे यद्यपि कभी-कभी शुभोपयोग में आते है, तथापि वे शुद्धोपयोगी ही हैं। (इसीतरह से शुभोपयोगी भी किसी काल में शुद्धोपयोग में आते हैं, फिर भी वे शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं।) किस कारण से? बहुलता युक्त होने से, जैसे आम का वन और नीम का वन। (उन वनों में क्रम से नीम के या आम के वृक्ष थोड़े हो कर भी उन्हें क्रम से आम का वन व नीम का वन ही कहा जाता है।)

यही न्याय शुद्धोपयोगी व शुभोपयोगी संज्ञा पाने हेतु जिनागम में उपयोग में लिया गया है।

इससे **चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग को नकारना विद्वद्गणों को तथा आगमाभ्यासी सुविद्यों को अशक्य होगा। इस में वाद की कोई गुंजाईश ही नहीं है,** अर्थात् मानो चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग शुभोपयोग की अपेक्षा से ५ से १० प्रतिशत व पंचम गुणस्थान में वही ११ से ३० प्रतिशत होता है, इसी लिये वहाँ **शुभोपयोग की बहुलता** है। इसी

---

३२२ - प्रवचनसार गाथा २४८ तात्पर्यवृत्ति.

वजह से उन्हें **तरतमता से शुभोपयोगी** ही कहा गया है तथा छठवें और सातवें गुणस्थान में वह ४० से ६० प्रतिशत व आगे श्रेणियों में बारहवें गुणस्थान तक शतप्रतिशत हो जाता है। तब वह साधक पूर्ण वीतरागी बन जाता है। इन **सब में निकष तो एक ही है और वह निकष है-**

१. शुभोपयोग से	१. शुभबंध और शुभास्रव	१. फल संसार
२. अशुभोपयोग से	२. अशुभबंध और अशुभास्रव	२. फल संसार
३. शुद्धोपयोग से	३. निर्बंध, निरास्रव व वीतरागता	३ फल मोक्ष या संवर-पूर्वक निर्जरा।

निकष कभी बदलते नहीं। हमें उनका उपयोग यथार्थ रीति से करना चाहिये, जिससे सभी को यथार्थ न्याय मिलेगा। तभी चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग सभी को मान्य होगा।

प्रश्न क्रमांक १४ - उपर्युक्त कथनानुसार शुद्धोपयोग गृहस्थ को भी हो सकता है, तो उसके लिये हम क्या करें व विकल्पों से कैसे बचें? सामायिक-प्रतिक्रमणादि पाठों को पढते समय आनेवाले विकल्पों की भरमार को व मच्छरादिकी वेदना के अनुभव को उपयोग में से कैसे हटायें? शुद्धस्वभाव में उपयोग को कैसे मोडें?

उत्तर - इस हेतु हमें स्वाध्याय का अवलम्बन ले कर चारों अनुयोगों से जुड़ना होगा। जो भी धर्मजिज्ञासु होगा, उसे प्रथम प्रश्न उठेगा कि मैं कौन हूं और मेरा हित-अहित क्या है। लघुसमयसार छहढाला में इसका उत्तर निम्न प्रकार दिया गया है।

आतम को हित है सुख को सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय साधन सो ववहारो।।[३२३]

अर्थ - आत्मा का हित आकुलतारहित सुख है, वह आकुलता मोक्ष में

३२३ - छहढाला तीसरी ढाल गाथा १.

नहीं है। वह मोक्ष का मार्ग रत्नत्रयस्वरूप है और वह रत्नत्रय सत्यार्थरूप हो तो निश्चयरत्नत्रय है व साधनरूप हो तो व्यवहाररत्नत्रय है।

इस दिशा में प्रथमानुयोगादि चारों अनुयोग कार्यकारी हैं। प्रथमानुयोग में द्रव्यानुयोग, करणानुयोग व चरणानुयोग इन सभी के दृष्टान्त है। पहले मूल रूप से दार्ष्टान्त समझें बिना दृष्टान्त समझ में नहीं आते, जैसे पहले शेर का स्वरूप सुना या पढा, फिर बाद में वह शेर कैसा है यह समझने हेतु बिल्ली का दृष्टान्त दिया किन्तु शेर का वर्णन सुने विना यदि बिल्ली को दिखाया, तो असमंजस बना रहेगा।

इसी तरह द्रव्यानुयोग से सातों तत्त्वों का, करणानुयोग से कर्मादि संयोगों का व चरणानुयोग से व्रतादिकों का स्वरूप समझे बिना प्रथमानुयोग का वर्णन अर्थात् कथा भाग ही ख्याल मे रहेगा व मूल स्वरूप बुद्धि में नहीं आयेगा। सामान्यरूप से यही भूल होती आ रही है। **बूढे होने तक भी हम तो अज्ञानी हैं, हमें अधिक से अधिक चरणानुयोग समझ में आयेगा, पर द्रव्यानुयोग तो मुनियों का विषय है और करणानुयोग अतिसूक्ष्म है, इसलिये हमारी बुद्धि के बाहर है। बाहर के व्यापारादि में अतिशय सूक्ष्मता से हानि-लाभ का विचार करनेवाले यह सूक्ष्मबुद्धि विज्ञजन धर्म के क्षेत्र में स्वयं को अज्ञ घोषित करते देख कर तो हँसी आये बिना नहीं रहती।**

अतः मोक्षार्थी को चारों अनुयोगों का सन्तुलित पठन-पाठन आवश्यक है, क्योंकि वे परस्पराधारित है। देखें प्रवचनसार के ये कलश -

द्रव्यानुसारि चरणं, चरणानुसारि, द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं, द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।।[३२४]

अर्थ - चरण (चरणानुयोग) याने चारित्र का वर्णन द्रव्य (द्रव्यानुयोग) के अनुसार होता है व द्रव्यानुयोग का वर्णन चरणानुयोग के अनुसार होता है। दोनों मिल कर वास्तव में परस्परापेक्षी (सव्यपेक्ष) हैं, इसलिये मुमुक्षु ने

---

३२४ - प्रवचनसारकलश १२. तत्त्वप्रदीपिका टीका.

द्रव्य को प्रतीति में लेकर या चरण को प्रतीति में ले कर मोक्षमार्ग पर आरोहण करना चाहिये।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः, द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि, द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु।।[३२५]

अर्थ - द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि तथा चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि होती है। यह जान कर अन्य जो कर्म से विरत नहीं हैं, वे भी द्रव्य से अविरुद्ध अर्थात् सुसंगत चरण याने चारित्र का आचरण करें।

इस तरह से परस्पर की अपेक्षा रखनेवाले द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग दोनों एक दूसरे के बिना समझ में नहीं आते, क्योंकि भेदविज्ञान हेतु द्रव्यानुयोग ही दीपक है। शेष अनुयोग तो द्रव्यानुयोग द्वारा प्रदीप्त सम्यग्ज्ञान के द्वारा ही जाने जाते हैं।[३२६]

इसलिये द्रव्यानुयोग का अध्ययन चारित्र को यथार्थरूप से प्रकाशित करने हेतु अति-आवश्यक है। उसके बिना भेदविज्ञान नहीं होगा। इसी लिये सामायिकादि में विकल्पों को हम टाल नहीं सकते व उनमें अधिकाधिक फंसते जाते हैं, क्योंकि द्रव्यानुयोग के अध्ययन के बिना भेदविज्ञान होना शक्य नहीं है।

इस तरह द्रव्यानुयोग के अध्ययन द्वारा भेदज्ञान करने हेतु गृहस्थों को त्यागीवर्ग न रोकें। कोई कभी इस अध्ययन के द्वारा स्खलित हो जाय, तो उन्होंने उसे यथार्थ मार्गदर्शन कर उसका स्थितिकरण करना चाहिये और जो इस अध्ययन से ऊपर उठना चाहते हो, उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिये। यह भेदविज्ञान होने से अबतक के पूर्वसंस्कारवश जो विकल्प आते थे वे रुकेंगे।

करणानुयोग का अध्ययन गणितरूप होने से क्लिष्ट है व सम्यग्ज्ञान होने पर ही वह समझ में आता है। इस लिये तत्त्वज्ञान हेतु द्रव्यानुयोग का अध्ययन कर फिर व्रतादि ग्रहण करे, तो परिश्रम सफल होगा।

श्रावकों का प्रथम आचारग्रन्थ **रत्नकरंडश्रावकाचार** के प्रारंभ में ही

---

३२५ - प्रवचनसार कलश १३ तत्त्वप्रदीपिकाटीका. ३२६ - रत्नकरंडश्रावकाचार अ. २

सम्यग्दर्शनाधिकार दे कर **चारित्र से पहले सम्यग्दर्शन करने की प्रेरणा** आचार्यश्री ने दी है। वह अपेक्षा ध्यान में रखने योग्य है। **हम आत्मा अनात्मा का स्वरूप समझाये बिना ही दीक्षा देते रहते है, जो विफल होती है, उसका भी कारण यही है।** इस चरणानुयोग की सफलता हेतु समयसारादि का अध्ययन आवश्यक है। उस हेतु समयसारादि के अध्ययन से अब तक जो दृष्टि या अभिप्राय का विषय परद्रव्य था, वह बदल कर अपने पर से भिन्न निजज्ञायक आत्मा को यदि ध्येय रूप से रखा, तो **मैं ही सिद्धपरमात्मा, मैं ही आतमराम** यह सतत ध्यान में विषय रहेगा व तब सिद्धों जैसा ज्ञायक याने जाननहारा रहने की कोशीश में सारे पर विकल्प हटते जायेंगे व निजशुद्धस्वभाव के विकल्प आते जायेंगे। **उन शुभ विकल्पों में से शुद्धात्मा का सूर्य उदित होगा व वह जघन्य अन्तरात्मा बन जायेगा, मुक्तिमार्ग खुल जायेगा।**

चूंकि द्रव्यानुयोग जीवादि तत्वों का ज्ञान करा कर यथार्थ या अयथार्थ का या हेय-उपादेय का ज्ञान कराता है, **अतः उसे प्रथमानुयोगादि के साथ साथ एकाग्रता से अवश्य पढना चाहिये, सुनना चाहिये, शंकाओं का निरसन करना चाहिये, निर्णय तक पहुंचना चाहिये व बाद में अन्यों को समझाना चाहिये। समझता नहीं ऐसा समझ कर उसे हटाना नहीं चाहिये।** बाद में अन्यों को पढ़ाना भी चाहिये, जिससे विषय दृढ व पक्का होता जायेगा। **यही वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेशरूप सच्चा स्वाध्याय है।**

अब समझ में जब यह आगया कि **१. सच्चे देव वीतरागी सर्वज्ञ ही होते हैं, २. सच्चे गुरु वीतरागी सर्वज्ञ होने की ही साधना करते हैं और ३. शास्त्र भी उसी वीतरागता की साधना का मार्ग प्रशस्त करके बता रहे हैं तथा उसी को चार अनुयोगों के रूप में विविध रूपों में वे हमें परोस रहे हैं।** यह समझ में आने पर फिर उनका दर्शन, समागम, पठन-पाठन व मनन करना सहज हो जायेगा, करने में रुचि

जागेगी तथा मोक्षमार्ग में भावना प्रबलतम हो जायेगी।

उसी समय अर्हन्तदेव का दर्शन, पूजन, भक्ति, स्तवन, आरति, जप, जाप्य, कीर्तन, भजन आदि कर सकेंगे और सही मायने में हम अपने षट् आवश्यकों में से प्रथम कर्तव्य **देवपूजा** वास्तविक रूप से कर सकेंगे। उनका दर्शन इस काल में प्रत्यक्षतया तो शक्य नहीं है, उसे तो हम प्रतिमाओं के ही माध्यम से कर सकते हैं। **उनके दर्शन करते वक्त प्रतिमा में से प्रतिमावान का भावदर्शन करने से अर्थात् यथार्थ स्वरूप जान कर उन्हें भावपूर्णरूप से देखने से उनका सम्यग्दर्शन होता है व साथ में अपना भी सम्यक् दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है तथा** दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व का महा अंधकार नष्ट होता है। केवल शाब्दिक या मौखिक पाठ पढने से या शारीरिक वन्दना-नमस्कार-पूजनादिक क्रियायें करने से दर्शन मोह हटनेवाला नहीं है। यह क्रियायें अनन्तकाल करते रहो, तो भी मिथ्यात्व नहीं हटेगा, उससे प्राप्त पुण्य आप को नव ग्रैवेयकों तक पहुँचा कर वहाँ से स्थावरों में ले जा कर पटक देगा। **१.तहँते चय थावरतन धरैं।** अथवा २. **मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो। पै निज आतमज्ञान विना सुख लेश न पायो।।** इन छहढाला के उद्धरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

देखें श्रीमद् राजचन्द्रजी का यह तोटक छन्द का काव्य -

यम-नियम-संजम आप कियो, पुनि त्याग-विराग अथाग लह्यो।
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ आसन पद्म लगाय दियो।।१।।
मन पौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सु तार भयो।
जपभेद जपे तप त्यौं हि तपे, उर से हि उदासि लही सबसे।।२।।
सब शास्त्रनिके नय धारि हिये, मत मंडन-खंडन भेद लिये।
यह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजुं न पर्‍यो।।३।।
अब क्यों न विचारत है मनसे, कछु और रहा उन साधन से।
बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल है यह बात कहे।।४।।

करुना हम पावत हैं तुमकी, वह बात रही सुगुरु गम की।
पल में प्रगटे मुख आगल से, जब सद्गुरुचर्न सुप्रेम बसे।।५।।[३२७]

इस तरह हम सभी ने यम, नियम, संयम, त्याग, विराग, वनवास, मौन, पद्मासन, श्वास-निरोध, शास्त्रज्ञान, हठ-योग आदि के प्रयोग बहुत बार किये, जप-जाप्य किये, तप तपे, सभी से उदासीनता धारण की, शास्त्रों के नय याद किये, इत्यादि कर के भी क्या अब और कुछ करना शेष बचा है और क्या इन से कुछ हाथ आया है? इसका विचार अब तो करो। सद्गुरु के बिना इन सभी क्रियाओं का भेद कोई बता नहीं सकता। वह भेद उन से जान लो और अपने में ही जो अपना प्रयोजनभूत अंतस्तत्त्व मोक्षतत्त्व पड़ा है, उसी में अपना मन रमाओ।

अब हम देखेंगे कि **हमारे पास वर्तमान समय में क्या क्या माल भरा पडा है**, यह हम अर्हन्तभगवान की प्रतिमा की साक्षि से जानेंगे -

१. अर्हन्तप्रभु वर्तमान में अनादि काल से अब तक जीवद्रव्य है और आगे भी रहेंगे। उसी तरह हम भी अनादि काल से अब तक वर्तमान में जीवद्रव्य है और आगे भी रहेंगे। यह हम दोनों में अनादिअनन्त समानता है। **यह समानता द्रव्यरूप से है।**

२. अर्हन्तप्रभु वर्तमान में जीवद्रव्य के सामान्य और विशेष ऐसे अनन्त गुणों से अनादि-अनन्त अब तक सहित हैं और आगे भी रहेंगे, उसी तरह हम भी वर्तमान में जीवद्रव्य के सामान्य और विशेष अनन्त गुणों से अब तक सहित है और आगे भी रहेंगे। **यह समानता गुणरूप से है।**

३. अर्हन्तप्रभु वर्तमान में उनके अनन्त गुणों की अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि शुद्ध क्षायिक पर्यायों से वर्तमान में सहित मुक्त है। परन्तु हम वर्तमान में वैसे ही हमारे अनन्त गुणों की अशुद्ध पर्यायों से सहित होने से अल्पज्ञ, अल्पद्रष्टा, दुःख तथा अल्पवीर्य वाले है और संसारी है। यह हम दोनों में पर्याय रूप से भेद है, अन्तर है। यह

---

३२७ - श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ पृ. ३००

पर्याय रूप से उनका दर्शन है। यह विषमता पर्यायरूप से है।

इस प्रकार **उन में और हम में द्रव्य तथा गुण रूप से तो समानता है और पर्यायरूप से विषमता है,** यह भगवान का दर्शन करते ही नजर आया। तब यह देखा कि वे हम जैसे पहले भी अनन्त गुणोंमय जीवद्रव्य अनादि से थे और हैं किन्तु भगवान तो सुधर गये व मुक्त हो कर अनन्त सुख भोग रहे हैं तथा हम यहीं संसार में दुख भोगते व दया की भीख मांगते मांगते घूम रहे हैं। ऐसा क्यों? इस पर चिन्तन चालू हो गया तथा मालूम पड़ा कि उन्होंने अपना पुरुषार्थ अपनी ही शक्ति से अन्य भगवन्तों के मार्गदर्शन में जगाया तथा अपने ही बल से स्वाधीनता से मुक्त और सुखी हो गये। **यह जानने पर स्वयं ही यह ज्ञान जग गया कि हम भी अपने ही पाले हुए भ्रम से तथा गलत पुरुषार्थ से अब तक संसारी ही बने बैठे हैं और यदि भगवान के दिशानिर्देशन में स्वयं के पुरुषार्थ को जगायेंगे तो सहज में भगवान बन जायेंगे, अशुद्ध से शुद्ध बन कर संसारी से मुक्त बन जायेंगे। यह सब जिनेन्द्रदर्शन का फल है।** इस पुरुषार्थ का बल जितना बढता जायेगा, उतनी गुणस्थान में वृद्धि होती जायेगी, पर्यायों में आनन्द बढता जायेगा और वह आनन्द आत्मलीनता बढा कर शिवपुरी में पहुंचा देगा।

अब इसी प्रश्न का अंतिम अंश है कि **हम ऐसे शुद्ध स्वभाव से कैसे जुड़े?** वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर ऊपर आ गया है, वहाँसे समाधान हो सकता है। फिर भी उसके **प्रायोगिक पक्ष** को हम व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करेंगे।

ऊपर में जो प्रभुदर्शन में हमने समानता व असमानता का दर्शन किया, वह प्रवचनसार के गाथा क्रमांक ८० के अनुसार है। वह गाथा ऐसी है -

जो जाणदि अरिहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु तस्स जादि लयं।।

अर्थ - जो अर्हन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से तथा पर्यायरूप से

जानता है, वह अपने स्वयं को जानता है और उसका मोह विनष्ट होता है।

श्रीमद्जी ने भी यह बात ऊपर **मुख आगल है यह बात कहें इन** शब्दों में कही है कि **कुछ भी जानते समय वह तेरा ज्ञायक परमात्मा तेरे मुख के अर्थात् तेरे ज्ञानपर्याय के सामने ही तो है। उसे तू जान ले।** गत पृष्ठ पर दिये काव्य के पांचवें चरण में श्रीमद् जी कहते हैं कि **हमें आप की करुणा आती है, वह इसलिये कि इतने प्रयत्न करने पर भी आप निज ज्ञायक को न पा सके, क्योंकि आप ने अपनी स्वच्छन्दता से प्रयत्न किये। वह बात तो सुगुरु के मार्गदर्शन से शक्य है, क्योंकि उन्होंने उसे पाया है।** उन्हीं की अति प्रीति से अपना ज्ञायक प्रभु जो हमारे पास में ही अभी है, उसे हम पा सकेंगे।

प्रश्न क्रमांक १५ - जिन्हें शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मानुभूति हो कर ही सम्यग्दर्शन होता हो तो वे गृहस्थ कैसे रह सकते हैं? उन्हें तो मुनि ही बन जाना चाहिये।

उत्तर - इसका उत्तर पहले प्रश्न के उत्तर में ही आगया है, उसे कृपया फिर से पढ़ लीजिये। इतना विशेष है कि शुभ उपयोग तो बाह्य ज्ञेयों को ही विषय करता है इसलिये वहीं प्रमाद है, असावधानता है, अजागृति है, अतः बुद्धिपूर्वक कषायांश है, जो कर्मबंध करनेवाला होने से वह सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नहीं कर सकता। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के बाद सातों प्रकृतियों का क्षय होने पर भी संयम धारण न हो सकने से पाँचवाँ गुणस्थान नहीं आ पाया। अभी भी श्रेणिक जैसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि नारकियों या अनुदिश-अनुत्तर के अहमिन्द्रों को चौथा गुणस्थान ही रहता है, मुनिपना नहीं आता। मुनिपना अन्तरंग बारह कषायों के हटने पर अवलम्बित हैं, जो अन्तरंग में शुद्धोपयोग में स्थिरतास्वरूप है, इसे ध्यान में रखना योग्य है। अतः शुद्धोपयोग हुआ कि मुनि ही होना चाहिये यह कोई नियम नही बन सकता। गृहस्थ भी क्वचित् कदाचित् नीम के वन जैसा आत्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग कर आत्मानन्द लूट सकता है।

प्रश्न क्रमांक १६ - वर्तमान युग के प्रथम आचार्यश्री चारित्रचक्रवर्ती शान्तिसागरजी महाराज ने उनके अन्तिम उपदेश में कपड़ों में आत्मानुभव नहीं होता, निर्विकल्प अनुभव सातवें गुणस्थान में होता है, ऐसा बताया है। यह कैसे?

उत्तर - यह उपदेश प्रामाणिक है, किन्तु यह सामान्यतौर पर दिया गया उपदेश है। कपड़े में आत्मानुभव नहीं होता, यह कथन समयसार के ४०८-४०९ गाथाओं से सुसंगत है, जिनमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मोक्ष होता है, न कि लिंग से, ऐसा कहा है। कपडे छोड़ने या न छोड़ने से मुक्ति नहीं होती, मुक्ति तो अभेदरत्नत्रय में रमने से होती है अन्यथा कपड़े छोड़ कर नग्न होने का भी अहंकार होता है व संसार परिभ्रमण चालू रहता है। फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है बिना नग्न दिगम्बर मुनिदशा धारण किये मोक्ष असम्भव है किन्तु केवल ऐसी दिगम्बर निर्वस्त्रदशा से भी मोक्ष असम्भव है, क्योंकि उसके साथ में शुद्धोपयोग सहित बारह कषायों का अभाव आवश्यक है। **आत्मानुभव के समय में ध्यान में शुद्ध निर्वस्त्र आत्मस्वरूप रहता है**, उससमय वस्त्र शरीर पर होते हुए भी श्रावक उससे भिन्न स्वयं को अनुभव में लेता है। मुनिराज को तो वस्त्र पहनने का समय ही प्रमत्तदशा की अल्पावधि में मिलता नहीं हैं। उन्हें तो नग्न रहने में ही आनन्द है। इसलिये आचार्यश्री का यह कथन अत्यन्त सत्य है कि कपडों में आत्मानुभव नहीं होता।

उन का दूसरा कथन कि - **निर्विकल्प अनुभव सातवें गुणस्थान में होता है** ऐसा जो है, वह मुख्यता की अपेक्षा से है। मुनियों को अन्तर्मुहूर्त में आत्मानुभव होते रहता है, श्रावकों को कभी कभी होता है, इसलिये सामान्य कथन में गृहस्थों को वह दुर्लक्षित कर दिया जाता है। उन्होंने ही उसी प्रवचन में दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आत्मचिन्तन से ही होता है ऐसा लिखा है, उसे ध्यान में रखा जाना चाहिये। संयम का महत्त्व तो निर्विवाद है, पर वह संयम भी सम्यक्त्व से ही मोक्षमार्ग में महत्त्व पाता है। चौथे

गुणस्थान में भी क्षायिक सम्यक्त्व होता है और वह शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभूति के बिना हो नहीं सकता। उसके बिना मिथ्यात्व नहीं हटता व मुनिपद तो क्या चौथा गुणस्थान भी नहीं आ सकता। अतः आचार्यश्री के कथन को सापेक्षरूप से देखा जाये, तो कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न क्र. १७ - कार्यकारण व्यवस्था के अनुसार क्या शुभोपयोग शुद्धोपयोग का कारण हो सकता है?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, उनमें परस्पर अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक द्रव्य गुण-पर्याययुक्त है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुवतामय है, इसीलिये सत् है और वह सत् याने अस्तित्व यही द्रव्य का लक्षण है। (तत्त्वार्थसूत्र अ. ५ सूत्र २९, ३०, ३८ तथा प्रवचनसार गाथा ९३) ऐसा जो नहीं मानता वह परसमय है। (प्र.सा गा. ९३ तथा ९८)

इसतरह प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र होने से उनका कार्य स्वतन्त्र ही है। इतना ही नहीं तो प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण तथा प्रत्येक पर्याय भी **अपने अपने लक्षणों से अन्यत्व या पृथक्त्व लिये हुए हैं। इसलिये प्रत्येक पर्याय अपने प्रवाहक्रम में झूलते हुए मोतियों के हार के समान स्वतन्त्र होने से उनमें प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव है। देखें यह उद्धरण -**

यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि..... सूत्रकस्यावस्थानात् त्रैलक्षण्यमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्ति-निवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषु उत्तरोत्तरेषु अवसरेषु उत्तरोत्तरपरिणामानां उदयनात् पूर्वपूर्वपरिणामानां अनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुसूत्रिकस्य प्रवाहस्य अवस्थानात् त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धि अवतरति। (प्रवचनसार गाथा ९९ तत्त्वप्रदीपिका टीका)

अर्थ - जैसे जिसने लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोतियों के हार में अपने अपने स्थानों में प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियों में आगे आगे के मोती प्रगट होते है, पहले पहले के मोती प्रगट नहीं होते, इसलिये तथा सभी जगह परस्पर अनुस्यूति (एकपना) का रचयिता सूत्र (डोरा)

व्यवस्थित होनेसे वह हार त्रिलक्षणत्व (उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व) से प्रसिद्ध होता है, उसीतरह जिसने द्रव्यरूप से नित्यवृत्ति (नित्य सत्ता) धारण की है, ऐसे परिणमित **द्रव्य में अपने अपने अवसरों में प्रकाशित(प्रगट) होनेवाले समस्त परिणामों में पीछे पीछे (आगेआगे) के परिणाम प्रगट होते हैं, इसलिये और पहले पहले के परिणाम प्रगट नहीं होते हैं इसलिये और सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति(एकत्व) रचनेवाला प्रवाह व्यवस्थित होनेसे द्रव्य का त्रिलक्षणपना प्रसिद्ध होता है।**

इसलिये वर्तमान पर्याय में पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती सभी अनन्त पर्यायों का अभाव है। इसतरह वर्तमान पर्याय स्वतन्त्र है।(देखें उपर्युक्त टीका) इसतरह शुद्धोपयोग की पर्याय स्वतन्त्र होनेसे तथा उसी पर्याय में उत्पादव्यध्रुवत्व की अनुस्यूति (एकता) होनेसे शुभोपयोग का व्यय और शुद्धोपयोग का उत्पाद यह दोनों द्रव्यत्वगुण की अनुस्यूति (एकता) के सूत्र में बंधे होते हैं, **इसलिये प्रकाश आया और अंधेरा गया इसमें जैसे अंधेरा प्रकाश का कारण नहीं है, उसीतरह जो रागरूप है ऐसा शुभोपयोग वीतरागतास्वरूप शुद्धोपयोग का कारण मानना कारणविपर्यास है।**

अन्य दृष्टि से **शुभोपयोग या शुद्धोपयोग या शुद्धोपयोग का फलरूप केवलज्ञान यह सभी पर्यायें है और वे सभी स्वतन्त्र हैं, इसलिये एकक्षणवर्ती सत् हैं। उनका स्वातन्त्र्य अबाधित रहे इसीमें कल्याण है।** ये सभी पर्यायें क्रमक्रम से स्वतन्त्ररूप से अपने तीन लक्षण रूप द्रव्यत्व को लेकर आती रहती है। इसलिये शुभोपयोग, अशुभोपयोग या शुद्धोपयोग सभी प्रत्येक क्षण बदलनेवाली पर्याये होने से एक शुद्धोपयोग की पर्याय दूसरे शुद्धोपयोग या शुभोपयोग पर्याय का कारण नहीं बनती, एक शुभोपयोग पर्याय दूसरी शुद्धोपयोग या शुभोपयोग पर्याय का कारण नहीं बनती तथा एक अशुभोपयोग की पर्याय दूसरी अशुभोपयोग या शुभोपयोग की पर्याय का भी कारण नहीं बनती। **इतने ही विकल्प इनमें शक्य हैं।**

निश्चयनय से यही स्थिति है। व्यवहारनय से निमित्तादिक को या

पूर्वचर या उत्तरचर पर्याय को भी कारण कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह उपचार से कारण कहा जाता है। षट्कारकीरूप से निश्चयनय से हर वस्तु स्वयं ही स्वयं का कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण है। **इसलिये निमित्त अपना कार्य अपने में रहकर ही शतप्रतिशत करता है। उपादान में उसका कार्य शून्यप्रतिशत ही है इसका निर्णय विद्वज्जनों को करना चाहिये।**

इससे निमित्त स्वयं को छोड़ अन्य में फेरफार व दूसरे का भलाबुरा कर सकता है ऐसा आग्रह छोड़ना चाहिये। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, इस क्रिया में कुम्हार ने अपने में रहकर घड़ा बनाने का भाव किया, उसका वह शतप्रतिशत कर्ता है। मिट्टी शतप्रतिशत घड़ा बन गई, इसमें मिट्टी ने शतप्रतिशत अपना योगदान कर्तारूप से दिया। शेष डंडा, चक्र, लकडी, अग्नि आदि ने निमित्तरूप से अपने अपने में शतप्रतिशत कार्य किया, वे उन उन कार्यों के कर्ता रहे। घड़ा बनने में उनका योगदान शून्यप्रतिशत रहा। **यही स्थिति शुभोपयोग का व्यय होकर शुद्धोपयोग के उत्पाद की है। इसे निश्चित करने से निमित्त को कर्ता मानने का भ्रम टूटेगा और उसकी उपस्थिति को केवल अकर्ताभाव से मान्यता देने में संकोच नहीं होगा।**

अतः विद्वज्जनों को यह सुनिश्चित कर लेना याहिये कि शुभोपयोग की पर्याय शुद्धोपयोग की पर्याय का कारण कतईं हो नहीं सकती। अतः अन्यथा मानने का आग्रह छोड़ देना चाहिये।

१५. उपसंहार - इसतरह अपना स्वरूप अनन्त गुणमय शाश्वत ज्ञायक स्वरूप हो कर भी हर क्षण बदलनेवाला भी है। इस तरह **नित्य-अनित्यस्वरूप अनेकान्तमय** है। वह केवल न नित्य है, न केवल अनित्य ही है। द्रव्यरूप से वह नित्य है तथा शुद्ध है व पर्यायरूप से अनित्य तथा अशुद्ध भी है। वैसा मैं भी द्रव्यरूप से नित्य और पूर्ण शुद्ध हूँ तथा पर्याय रूप से पूर्ण अशुद्ध तथा अनित्य हूँ। दोनों रूपों से **मैं पूर्ण ही हूँ।** द्रव्यरूप

से देखने पर शान्ति अनुभव में आती है और पर्यायरूप से देखने पर अशान्ति ही अनुभव में आती है।

जैसे एक मनुष्य जन्म से मरण तक मनुष्य ही है, पर वर्तमान में पर्यायरूप से दिनभर में कभी शराबी, कभी निद्रिस्त, कभी जुआरी, इस तरह दिनभर अनेक रूप बदलकर भी वह मनुष्य ही रहता है। वह रूप तो बदल सकता है, पर मनुष्यता नहीं बदली जा सकती, वह सदैव ही रहती है। उसी तरह यह जीव अनादि से अनन्त तक अनन्त गुणोंमय जीव ही है। **इस रूप से वह पूरा का पूरा अनादि-अनन्त नित्य ही है, पर प्रति क्षण बदलनेवाली पर्यायों के रूप से वह पूरा का पूरा अनित्य ही है। दोनों रूपों से आत्मा पूरा ही है। दोनों रूपों से पूरा का पूरा आत्मा ज्ञान का विषय बन सकता है।**

इस प्रकार से स्वयं को वर्तमान पर्याय में जानने पर पर्यायदृष्टि से जो जानने में आयेगा, वह अशुद्ध रूप अपराधमय लगेगा व अपना द्रव्यदृष्टि से दीखनेवाला नित्यशुद्धस्वरूप आनन्दमय लगेगा व सर्वत्र समताभाव आयेगा। वह इसप्रकार

१. इस विश्व में अनन्तानन्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आदि द्रव्य हैं।

२. वे सभी अपने-अपने अनन्त गुणों व पर्यायों से समृद्ध हैं तथा पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। वे सभी स्वयं के वस्तुत्व गुण से अपना-अपना कार्य करने में मुझ जैसे ही सक्षम है। उन्हें मेरी या मुझे उन की आवश्यकता ही नहीं है।

३. उन सभी स्वतन्त्र द्रव्यों में से मैं भी एक स्वतन्त्र द्रव्य हूँ। सुख व ज्ञान मेरे गुण होनेसे मुझे सुख की व जानने की अभिलाषा नित्य रहती है।

४. चूंकि सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं और अपने अपने कार्य करने में सक्षम हैं, अतः इनका कोई भी कार्य करने की जिम्मेवारी मेरी नहीं है। मैं न तो उनका स्वामी हूँ, न उनका कर्ता या भोक्ता भी।

५. मैं स्वतन्त्र होने से मैं मेरा ही स्वामी हूँ तथा मैं ही मेरे सुख या दुखों का कर्ता या भोक्ता भी हूँ। मुझ से भिन्न मेरा स्वामी या मेरे सुख-दुखों

का कर्ता या भोक्ता अन्य कोई भी नहीं है।

६. मैं ही मेरे गुणों का, अवगुणों का, उन्नति का, अवनति का, मेरे निरपराधित्व का या मेरे अपराधों का नियामक कर्ता हूँ। कोई कर्म या कोई परद्रव्य या कोई अन्य जीव मेरे कार्य का कर्ता नहीं है तथा मैं ही मेरे सुख-दुखों का मेरे ही ज्ञान या अज्ञान से भोक्तारूप से अनुभवन करनेवाला हूँ।

७. **अब मैं स्वयं ही इस तीन लोक में बचा, जो सब से भिन्न था, अभी भी सब से भिन्न हूँ तथा अनन्त काल तक सब से भिन्न ही रहूंगा, इस का मुझे अब निश्चय हुआ।**

८. अब **मैं कौन हूँ, कौन नहीं हूँ,** इस का विचार करने से मैं पाता हूँ कि मैं सर्व द्रव्यों जैसा गुणों व पर्यायों का पिण्ड हूँ। मेरे गुण ध्रुव हैं और पर्यायें उत्पन्न (उत्पाद) हो कर नष्ट (व्यय) होती हैं, ऐसा ही मेरा भी ध्रुव स्वभाव है। **पर्यायों का उपजना, विनशना भी मेरा ही द्रव्यत्वगुण से पूर्ण शाश्वत ध्रुव स्वभाव है। उस उत्पाद-व्ययरूप से क्षणिक होने पर भी मैं ध्रुवरूप से शाश्वत ही हूँ, यही मेरी विशेषता है।**

९. तब पर्यायरूप से कोई भी पर्याय आयें या जायें, मैं तो त्रिकाल रहनेवाला उपयोगस्वभावी शाश्वत जीव ही हूँ। इसलिये उन पर्यायों को भी मैं जानता ही रहूंगा। मेरे द्रव्यत्व गुण से मेरा स्वभाव सतत **परिवर्तनशीलता** है, **सतत प्रवाहित रहना या बहते रहना है, वह बहना क्रमबद्ध या क्रमनियमित होता ही रहता है।** इसलिये मेरे क्रमबद्ध परिणमनशीलता में कोई भी रोक नहीं लगा सकता या बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता है। उन्हें बदलना या रोकना मेरे वश की भी बात नहीं है, फिर उन्हें बदलने का या परिवर्तन करने का प्रयास कर मैं क्यों कष्ट उठाऊं या मैं क्यों व्यर्थ में आकुलित हो कर आर्त्तध्यान में अपनी दुर्गति कराऊँ ? मैं तो बस जानन-देखनहारा हूँ। बस मैं केवल जानता ही रह कर शान्ति से अपना निराकुल ज्ञानमय जीवन अनन्त काल तक जीऊंगा।

१०. जब मेरी पर्यायें ही मेरे जानने-देखने का विषय केवल रहीं, तो

शरीर, कर्म वा अन्य इंद्रियों के विषय तो मेरे से अत्यन्ताभावरूप से अत्यन्त भिन्न है, उन से मेरा कतई सम्बंध नहीं है, तो फिर मैं उन में या वे मुझ में कोई परिवर्तन कैसे करा सकते हैं? इन संयोगी पदार्थों में न केवल बाह्य संयोग बल्कि यह शरीर भी आया, जिसमें मैं अभी रह रहा हूँ तथा ये आठों द्रव्यकर्म भी आये, जिनके बंदीगृह मैं अभी संसारीपने की सजा भुगत रहा हूँ। इसीतरह ये मोह-राग-द्वेषरूपी भावकर्म भी आये, जिनकी वजह से ये द्रव्यकर्म मुझे इस शरीररूपी बंदीगृह में अटकाते और घुमाते आये हैं। उन अशुभ भावों को हटाने का तथा शुभ भावों को करने का भाव ऐसे वे अशुभ व शुभ राग भी मुझ ज्ञायकस्वभावी आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। मैं उन सभी से पूरा भिन्न हूँ तथा भिन्न रह कर ही मैं उन्हें जान भर सकता हूँ।

११. इस तरह से मैं उन सभी शरीरादि परद्रव्यों से **तथा** सभी परद्रव्यों के भावों या कार्यों से **अत्यन्ताभाव** से भिन्न, सभी रागादि विभाव-भावों से **अतद्भाव** से अन्य, सभी मन-वचन-काय की क्रियाओं से **अत्यन्ताभाव** से भिन्न तथा मेरी सारी भूत-भावी पर्यायों से **प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव व अन्योन्याभावों** के द्वारा भिन्न **केवल वर्तमान समय जितना ही जानते-देखते रहनेवाला द्रव्यरूप से परिपूर्ण चैतन्यमय जीव हूँ।**

१२. यह मेरा केवल जानना देखना सहज ही हो रहा है, क्योंकि वह मेरा स्वभाव ही है। मुझे उस हेतु कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता है ही नहीं। **मेरे प्रत्येक समय की जानने की पर्याय में मेरे उत्पाद-व्ययरूप पर्याय का प्रतिबिम्ब झलक रहा है, क्योंकि मेरे ज्ञान में उन उन पर्यायों या संयोगों आदि के ज्ञानाकार ही प्रतिबिम्बरूप से झलक रहे हैं।** कोई भी अन्य उपर्युक्त पदार्थ (ज्ञेय) मेरे ज्ञान में प्रविष्ट ही नहीं हुआ, वह तो अपनी ही जगह पर है। उन प्रतिबिम्बों का झलकना या ज्ञेयों को झलकाना मेरा ही तो स्वभाव है। वह स्वभाव क्षणिक न हो कर शाश्वत है, अनादि-अनन्त है। **विश्व को झलकाने का स्वभाव ही तो मेरी चैतन्यप्राणरूप संपत्ति है, उसी भावप्राण से तो अनादि से मैं जीता**

आ रहा हूँ और आगे भी जीऊंगा। वही मेरा ध्रुव परमपारिणामिकभाव स्वभाव है। वह मेरा त्रिकाली परमपारिणामिक भावरूप ज्ञानस्वभाव मेरी उस ज्ञानपर्याय में अर्थात् मेरे उस वर्तमान उपयोग में पूरा का पूरा सतत तन्मयता से झलकता आया है और झलकता रहेगा। वही मुझे अतीन्द्रिय अनन्त शान्ति और सुख देगा।

१३. दर्पण में जैसे बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब झलकते है, पर वे वस्तुएं दर्पण में तन्मयरूप से नहीं आती। उन बाह्य प्रतिबिम्बों के साथ ही स्वयं दर्पण का स्वच्छ प्रतिबिम्ब भी उसी दर्पण में ही तन्मयता से झलक रहा है। बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब वाह्य वस्तुओं से तन्मय नहीं है, दोनों भिन्न ही है किन्तु **स्वयं दर्पण का प्रतिबिम्ब उस दर्पण से तन्मय है।** बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब अनित्य व अस्थिर हैं किन्तु दर्पण नित्य व स्थिर है, वैसे ही मेरे ज्ञानदर्पण में हर क्षण रागादि, विकल्पादि वा संयोगादि बाह्य ज्ञेयों के प्रतिबिम्ब अविरत झलकते रहते हैं, पर वे मेरे ज्ञानस्वभाव से तन्मय नहीं है तथा अस्थिर हैं **परन्तु मेरे ज्ञानस्वभाव का प्रतिबिम्ब तन्मयता से अविरत मेरे ज्ञान में अनादि काल से स्थिर रूप से झलकता आया है और वैसा ही झलकता रहेगा।**

१४. यदि यहाँ हम चाहे कि उन बदलनेवाले प्रतिबिम्बों को देखें, तो यह जान सकते हैं कि **वे प्रतिबिम्ब भी मैंरे ही तो ज्ञान के आकार है, इसलिये वे मेरे ज्ञान के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, वे तो ज्ञान ही है,** फिर तो बाह्य वस्तुएँ जैसे गाली, स्तुति आदि मेरे ज्ञान में झलकने पर भी मुझे कष्ट नहीं दे सकते, यह समझ में आयेगा व तभी आकुलित करनेवाले विकल्पों का आना टूटेगा, **क्रोध, मान, माया, लोभों के विकल्प बंद होंगे व वे प्रतिबिम्ब भी मैं ही हूँ,** यह जान कर मेरे ज्ञानस्वभाव की महिमा जागेगी कि **मैं तो उन बाह्य पुद्गल वस्तुओं से पूर्ण अलिप्त, अस्पृष्ट, अबद्ध, एकाकी, ध्रुव, त्रिकाल ज्ञायक शुद्धात्मा ही हूँ, उन में मेरा या मुझ में उनका कुछ भी कार्य नहीं है।**

१५. इस स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अपने ही प्रमाणरूप मतिज्ञान से जो स्वयं के ज्ञायकस्वभाव का प्रत्यक्ष संवेदन अनुभव में हुआ और उस से जो अतीन्द्रियानन्द हुआ वह वर्णनातीत है, इन्द्रियों से अगोचर है, स्वानुभव से प्रमाणित है, जैसे हाथ कंगन को आरसी की आवश्यकता नहीं होती। यह अनुभव स्वयं से तन्मय है इसलिये वह स्वाधीन है, सहजसुलभ है; इसीलिये आनन्ददायक है। उल्टे बाह्यसंयोगों के प्रतिबिम्ब देख-देखकर उन में से इष्ट वस्तुएँ प्राप्त करने या टिकाये रखने का **इष्टवियोगज आर्त्तध्यान**, अनिष्ट वस्तुएँ हटाने का **अनिष्टसंयोगज आर्त्तध्यान**, शरीर की **वेदनाजन्य आर्त्तध्यान** व भावी भोगों की आकांक्षारूप **निदान आर्त्तध्यान** ऐसे जो चार प्रकार के आर्त्तध्यान तथा हिंसा, असत्य, चोरी तथा परिग्रह में आनन्द मानने रूप **रौद्रध्यान** के विकल्प आते थे, वे टूट रहे से प्रतीत होंगे। **इससे स्वयं के ज्ञायकस्वभावी आत्मधर्म की प्रतीति आने से धर्म्यध्यान प्रारम्भ होगा, शुद्धोपयोग-सूर्य उदित होगा व सम्यग्दर्शन बाजे-गाजे के साथ सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को ले कर पदार्पण करेगा, दर्शनमोहरूप संसार की कमर टूटेगी व संसार से जो अनन्त अनुबन्ध** अनन्त काल के लिये किया था, वह भी टूटेगा व **संसार चुल्लूभर रह जायेगा।**

यही स्वरूपाचरण है, यही शुद्धोपयोग है, यही संवर निर्जरा और अतीन्द्रियानन्द है, यही सिद्धस्वभाव से प्रत्यक्ष भेंट तथा कैवल्यानुभूति है। यहीं पर ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय तथा ध्यान-ध्याता-ध्येय और प्रमाण-प्रमाता-प्रमेय इन की एकरूपता होती है व निराकुलता आती है। उस अनुभव से बाहर प्रमाद में आने पर भी उस **अस्ति की** मस्ती में वह गुनगुनाता है -

१. मैं हि सिद्धपरमातमा, मैं ही आतमराम।
मै ही ज्ञाता ज्ञेय को चेतन मेरो नाम।
२. मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ।
मैं हूँ अपने में स्वयंपूर्ण, पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं।।

३. मैं अरस अरूपी अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बंध नहीं।
४. स्वानुभूति से प्राप्त तत्त्व मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ।
५. हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम।
६, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया। सर्व जीव छे सिद्धसम।
७. सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा। (नियमसार ४९)
८. एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवा भावा सर्वे संयोगलक्षणाः।।(सामायिकपाठ)

फिर वह जानता है कि **अपना ही अनुभव सुखदायी है, आनन्ददायी है। मैं पर का अनुभव तो कर ही नहीं सकता हूँ, पर की केवल झलक मेरे ज्ञान में प्रतिबिम्बों के रूप में आती है, अतः मेरे ज्ञान के उपयोग में मैं दूर रह कर ही उन्हें देख भर सकता हूँ।** फिर आकुलता मिटती है, पुण्यकर्म के वश जो भी पुण्यसंयोग मिलते हैं, उन संयोगों की प्राप्ति पर वह हर्षोन्मत्त नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि यही मेरे पूर्व कृत शुभराग का फल है, उसे मैं अब मानकषाय द्वारा पापभाव कर क्यों गंवाऊं? अब तो मैं उसकी उपेक्षा करूँगा और कर्म-उदय को अपने रास्ते से जाने दूंगा। इसी तरह पापकर्म के उदय से जो अनिष्टसामग्री प्राप्त होती है, उसमें वह विषाद नहीं करता, क्योंकि वह जानता हैं कि इस में मेरा ही पूर्वसंचित पापभाव कारण है, सामने की कर्मोदयजन्य व्यक्ति या घटना नहीं। तब वह उस उदय की उपेक्षा करता है, स्वयं को दोषी मानकर फिर से क्रोधादि नहीं करता। इस तरह यहाँ भी कर्म के उदय को उपेक्षित कर संवर निर्जरा करता है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में उसे अपने त्रिकाल शुद्ध परम पारिणामिकभाव-स्वरूप ज्ञायकस्वभाव का ही षट्कारकीरूप से आश्रय होता है। १. वह स्वयं ज्ञायकस्वभावी होने से **वह स्वयं ही कर्ता है।** २. वह स्वयं को ज्ञायकरूप ही रखने का प्रयत्न पर्याय में करता है, अतः **वह स्वयं ही अपना कर्म है।** ३. वह स्वयं के ज्ञानस्वभाव के द्वारा अपने मतिज्ञान से ही स्वयं में

केवल ज्ञायक रहता जाता है, इसलिये **वह ही करण याने साधन है।** ४. इसका फल जो शुद्धचिदानन्द है, उसे वह अपने को ही प्रदान करता है, इसलिये **वह स्वयं ही सम्प्रदान** है। ५. उस शुद्धचिदानन्द को स्वयं में से ही वह ज्ञायक प्राप्त करता है, इसलिये **वह स्वयं ही अपादान** है। तथा ६. उसे वह स्वयं अपने में ही अपने ही आधार से पाता है, इसलिये **वह स्वयं ही अधिकरण है।**

इस तरह वह सम्यग्दृष्टि साधक अपने स्वयं के बलबूते पर ही स्वयं की साधना करता है परन्तु वह हर क्षण जिनेन्द्र भगवान को न भूल कर उन के उपदेशों से मार्गदर्शन लेता रहता है, उन की पूजा, भक्ति, स्तुति, कीर्तन, भजन, विधान आदि रूप से वह अपना आदर्श जो मोक्ष है, उसकी प्राप्ति मे बाधक व साधक साधनों का गहन चिन्तन कर उन **साधक साधनों** को स्वयं में ही प्रयोग में लाता है व **बाधक साधनों** को अपनाना टालता है। यही उसका मोक्ष हेतु सच्चा पुरुषार्थ है।

इस पुरुषार्थ के बिना सारे व्यावहारिक शुभ-अशुभ कर्मकाण्ड का क्लेश व्यर्थ ही होगा। मिथ्यात्वी को अपनी केवल करने की रुचि को **ज्ञान की सजगता में बदलना होगा। केवल व्यवहार करो, निश्चय बाद में होगा, ऐसा उपदेश देना बन्द कर जो भी करना हो करो, पर द्रव्यानुयोग से मार्गदर्शन प्राप्त कर करो, ऐसा मार्गदर्शन देना होगा। चलो मगर आँखें खोल कर, आँखें बंद कर के नहीं, अन्यथा हाथ-पांव तो टूटेंगे ही, दाँत भी टूट सकते हैं और आँखें भी फूट सकती हैं। अतः सावधान! आगे खतरा है। जागो, द्रव्यानुयोग की आँखें खोलो, तभी सही मार्ग दीखेगा।** तभी चरणानुयोग के कष्ट या कायक्लेश सफल होंगे अन्यथा मिथ्यादृष्टि कभी भी सम्यग्दृष्टि नहीं बन पायेगा, फिर मुनिपद तो कोसों दूर रहेगा। **पहले मुनि बनो, बाद में द्रव्यानुयोग पढो, ऐसा कहना जिनवाणी का ही अपमान है, क्योंकि जिनवाणी का एक हाथ ही तोड़ कर उसे विकलांग कर दिया।**

इसलिये चारों अनुयोगों को उचित सम्मान दीजिये, चारों अनुयोग मिथ्यात्वियों को भी उपलब्ध करायें, जिससे जिनवाणी माता उन्हें भी अपना कर मोक्षमार्ग में स्थापित कर देगी।

सभी ज्ञानेश्वर बने, परमेश्वर बनें, जिनेश्वर बनें और इस हेतु चारों अनुयोगरूप जिनवाणी का सन्तुलित अध्ययन स्वयं करें। इस हेतु गुरुओं का तथा पंचपरमेष्ठियों का मार्गदर्शन अवश्य लें, जन्म से जैन हो तो **नाम जैन** तो हो, जिनोक्त सदाचरण द्वारा **द्रव्य जैन** होने पर भी अब शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं को पहिचान कर सच्चे **भाव जैन** बनें तो ही सार्थकता है। **यह सच्चा जैन बनना स्व-पर-भेदविज्ञान के बिना सम्भव नहीं है और वह स्व-पर-भेदविज्ञान देशनालब्धि के बिना शक्य नहीं है, वह देशना लब्धि भी मिथ्यात्वी को मिले बिना वह सम्यक्त्वी होना शक्य नहीं है, वह सम्यक्त्व भी शुद्धोपयोग के बिना शक्य नहीं है, इसलिये भी शुद्धोपयोग के बिना जैन बनना अशक्य है,** यह जान कर जिनवाणी माता का **सन्तुलित स्वाध्याय** हर व्रती, अव्रती, त्यागी जैन को हर हालात में अति भक्ति से करना या कराना चाहिये और **शुद्धोपयोग द्वारा** चौथे, पांचवें गुणस्थान में निजानन्द का भोग कर के ही मुनि बनना चाहिये। सभी को ऐसी सुदृष्टि मिले व सभी जीव संसारदुःखों से मुक्ति प्राप्त करें, इस शुभभावना के साथ यह कृति समाप्त करता हूं।

इस कृति में जो भी विचार रखे हैं, वे जिनागम की अति भक्ति से प्रेरित हो कर ही लिखे हैं। इसमें जिनवाणी की अवहेलना न होवे, इस हेतु मैं सतत सावधान रहा हूँ। फिर भी किसे अन्यथा प्रतीत हो, तो वे क्षमापूर्वक मुझे सूचित करे या इसपर चर्चा हो, यह आशा करता हूँ तथा पंचपरमेष्ठियों की अतिभक्तिपूर्वक व क्षमाभावपूर्वक विराम लेता हूँ।

जीवो मंगलम्। शुद्धचिद्रूपोऽहम्। सहजानन्दस्वरूपोऽहम्।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि

द्रव्यानुयोग - १. प्रवचनसार, २. वृहद् द्रव्यसंग्रह, ३ छहढाला, ४, शुद्धोपयोग पुस्तक रचयिता आचार्य श्री विरागसागरजी, ५. समयसार अगास प्रकाशन, ६. समाधिशतक मूल, ७. भावपाहुड ८. मोक्षपाहुड, ९ न्यायदीपिका (अध्यात्मन्यादीपिका टीका) सोलापुर प्रकाशन, १०. लघीयस्त्रय ॐ, ११. समयसारकलश १२. पंचास्तिकाय कारंजा प्रकाशन १३. पुरुषार्थसिद्धि उपाय १४. पंचाध्यायी, १५. परमात्मप्रकाश (अगास प्रकाशन) १६. नियमसार जयपुर प्रकाशन १७. मोक्षमार्गप्रकाशक जयपुर प्रकाशन १८. भावदीपिका जयपुर प्रकाशन १९. भावसंग्रह, २० तत्त्वानुशासन २१. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा अगासप्रति २२. ज्ञानसार ॐ २३ नयचक्रवृत्ति ॐ, २४. ज्ञानार्णव २५ लिंगपाहुड २६.दर्शनपाहुड, २७ स्याद्वादसिद्धान्तरहस्य रचयिता वर्तमान मुनिराज श्री श्रुतसागरजी, २८ आप्तमीमांसा, २९. प्रमाणमीमांसाॐ, ३०. न्यायावतार ॐ ३१. तत्त्वसार ॐ ३२ योगसार ३३ समयसारनाटक ३४. प्रवचनसारप्रवचन प्रवचनकार क्षुल्लक श्री सहजानन्दजी वर्णी, ३५. चारित्रपाहुड ३६. लाटीसंहिता ॐ ३६. चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग की सिद्धि लेखक मुनिराज श्री वीरसागरजी सोलापुर

२. करणानुयोग - ३७. राजवार्तिक मूल, ३८. तत्त्वार्थसूत्र ३९. गोमटसार जीवकांड (अगास) ४०. गोमटसार कर्मकांड ॐ ४१ से ४६ धवला पुस्तक १, ५, ७, ८, १२, १३. ॐ ४७. लब्धिसार ॐ ४८. सर्वार्थसिद्धि मूल, ४९. श्लोकवार्तिक मूल ५०. तिलोयपण्णत्ति ५१. पंचसंग्रह ॐ ५२. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश चारों भाग ५३. जैनसिद्धान्तप्रवेशिका वरैयाजी ५४. कसायपाहुड

३. चरणानुयोग - ५५. रत्नकरंडश्रावकाचार, ५६. भगवतीआराधना, ५७. चारित्रसार ५८. रयणसार ५९. लघुसामायिकपाठ ६०. मूलाचार प्राकृत ६१. श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ अगास प्रकाशन

४ प्रथमानुयोग - ६२ हरिवंशपुराण ॐ ६३. आदिपुराण ॐ

सूचना - ॐ द्वारा चिन्हित सन्दर्भ जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से लिये हैं।

लेखक परिचय

नाम - मनोहर गणपतराव मारवडकर,

पत्ता - १७ ब स्वधर्म, महावीरनगर, नागपुर ४४०००९.

जन्मस्थान - कोदामेंढी, नागपुर, जन्मदिन - १-३-१९३१

अध्ययन - बी.ए., राष्ट्रभाषा कोविद, न्यायमध्यमा (कलकत्ता),

छन्द - धर्माध्ययन, स्वाध्याय, चिन्तन, लेखन, अनुवाद, काव्यरचना,

(मराठी, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत भाषाओं में) व विविध पत्रिकाओं में लेखन।

व्यवसाय - सेवानिवृत्त प्रवर डाकघर अधीक्षक, नागपुर व धर्ममंगल मासिक सल्लागार।

प्रकाशित स्वरचित प्रकाशन - जिनार्चन, स्वधर्मआराधना, भक्तामर विधान, शिखरजी विधान, (सभी स्वरचित अप्राप्य), १ सामायिकपाठ, २. कुंदकुंदशतक, ३. परमात्मप्रकाश, ४. योगसार, ५. तत्त्वार्थसूत्र, ६. भक्तामरस्तोत्र सभी के मराठी पद्यानुवाद, तथा महावीर गीतगंगा काव्यात्मक चरित्र, अनादिनाथ भक्तामर स्तोत्र व भक्तामरस्तोत्रविधान (हिन्दी में) शान्तिविधान व कर्मविध्वंस (कर्मदहन) विधान दोनों मराठी में तथा प्रस्तुत शोधपुस्तक शुद्धोपयोग विवेचन हिंदी भाषा में.

प्रकाशित अनुवादित प्रकाशन - आत्मसिद्धिविवेचन, समाधिशतक, समाधिसोपान, कर विचार तर लाभ, जीवनकला, पर्यूषणपर्व, आत्मसिद्धि व अन्य श्रीमद् राजचंद्रजीं के काव्यों के मराठी गद्य-पद्य अनुवाद.

अप्रकाशित स्वरचित रचना - मराठी काव्यसंग्रह, हिंदीकाव्यसंग्रह, संस्कृत-प्राकृत काव्यसंग्रह,, क्षत्रचूडामणि, द्रव्यसंग्रह, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड, इष्टोपदेश, अमृताशीति, आप्तमीमांसा, स्वरूपसंबोधन, लघु तत्त्वस्फोट आदि के मराठी पद्यानुवाद, मराठी व हिंदी पूजनसंग्रह तथा विविध पत्रिकाओं में छपे स्फुट लेखों के संग्रह.

संपादन - श्री गणपतराव स. मिरजे कोल्हापूर लिखित भक्तामरस्तोत्र विवेचन, पद्मनदिपंचविंशति में सम्पादन-सहकार्य व धर्ममंगल में सहसम्पादकत्व.